

BIBLIOTHECA INDICA:
A
COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY
THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,
NEW SERIES, Nos. 373, 390, 399, 404 and 421.

Agni Purāna,

A COLLECTION OF HINDU MYTHOLOGY
AND TRADITIONS.

EDITED BY
RÁJENDRALÁLA MITRA, LL.D., C.I.E.

*Honorary Member of the Royal Asiatic Society of Great Britain and
Ireland, and of the Physical Class of the Imperial Academy of Sciences,
Vienna; Corresponding Member of the German and of the
American Oriental Society, of the Royal Academy of
Science, Hungary, and of the Anthropological Society of
of Berlin; Fellow of the Royal Society of
Northern Antiquaries, Copenhagen,
&c., &c.,*

VOL. III, CHAPS. 269 TO 382.

CALCUTTA:

PRINTED BY N. K. SIRCAR AT THE GANESHA PRESS.

1879.

892.1P97

S5

3

अग्निपुराणम् ।

—000@000—

महर्षिः श्रीमद्वेदव्यासेन प्रणीतम् ।

—000@000—

श्रीलश्री

वङ्गदेशीयासियातिक-समाजानुसूय

—000—

श्रीराजेन्द्र लालमित्रेण

परिशोधितम् ।

—

कलिकाताराजधान्यां

गणेशप्रयत्ने मुद्रितम् ।

संवत् १९३३ ।

ERRATA.

| Page | I. | line | 18 | <i>for</i> | from | <i>read</i> | form |
|------|----------|------|----|------------|---------------|-------------|----------------|
| " | II. | " | 2 | " | trangled | " | tangled |
| " | " | " | 12 | " | so | " | as |
| " | " | " | 29 | " | extent | " | extant |
| " | III. | " | 17 | " | mysetry | " | mystery |
| " | " | " | 25 | " | innumeration | " | enumeration |
| " | IV. | " | 11 | " | prfoession | " | profession |
| " | VI. | " | 30 | " | then | " | than |
| " | VIII. | " | 10 | " | omnicient | " | omniscient |
| " | XI. | " | 22 | " | scismatic | " | schismatic |
| " | XII. | " | 17 | " | secred | " | sacred |
| " | " | " | 29 | " | enterlocutor | " | interlocutor |
| " | XIII. | " | 12 | " | building | " | buildings |
| " | XIV. | " | 14 | " | flesheess | " | fleshless |
| " | XVI. | " | 14 | " | various | " | the various |
| " | " | " | 33 | " | occur | " | occur in the |
| " | XVII. | " | 16 | " | principals | " | principal |
| " | XXI. | " | 27 | " | optinal | " | optional |
| " | XXV. | " | 14 | " | characterstic | " | characteristic |
| " | XXXII. | " | 11 | " | difinite | " | definite |
| " | " | " | 15 | " | necessarily | " | necessarily |
| " | XXXVIII. | " | 14 | " | accepted | " | accepted |

अथाग्निपुराणस्य तृतीयखण्डस्यानुक्रमणिका ।



| अध्याये | विषयः | पृष्ठे । | अध्याये | विषयः | पृष्ठे । |
|---------|------------------------|----------|---------|---------------------------|----------|
| २६८ | विष्णुपञ्जनं .. | १ | २८१ | मान्द्यायुर्वेदः .. | ८० |
| २७० | वेदशाखादयः .. | ३ | २८२ | मन्त्रपरिभाषा ... | ८४ |
| २७१ | दानादिमाहात्म्यं .. | ५ | २८३ | नागसूक्तयानि .. | ८६ |
| २७२ | सूर्यवंशः .. | ८ | २८४ | दृष्टचिकित्सा .. | ९३ |
| २७३ | सोमवंशः .. | १२ | २८५ | पञ्चाङ्गवद्रविधानं ... | ९७ |
| २७४ | यदुवंशः ... | १४ | २८६ | विषहृन्मन्त्रौषधं .. | ९९ |
| २७५ | द्वादशसंघोमाः ... | १९ | २८७ | गोनसादिचिकित्सा .. | १०१ |
| २७६ | राजवंशः ... | २२ | २८८ | बालप्रहंहरबालतन्त्रं | १०४ |
| २७७ | गुरुवंशः ... | २४ | २८९ | घृहहृन्मन्त्रादिकं .. | १०९ |
| २७८ | सिद्धौषधानि ... | २८ | ३०० | सूर्यार्चनं .. | ११२ |
| २७९ | सर्वरीगहराण्यौषधानि | ३४ | ३०१ | नानामन्त्राः .. | ११४ |
| २८० | रसादिलक्षणं .. | ३९ | ३०२ | अज्ञाचरार्चनं ... | ११७ |
| २८१ | ष्टचायुर्वेदः ... | ४२ | ३०३ | पञ्चाचरादिपूजामन्त्राः | ११९ |
| २८२ | नानारीगहराण्यौषधानि | ४४ | ३०४ | पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामानि | १२३ |
| २८३ | मन्त्ररूपौषधानि .. | ४९ | ३०५ | नारसिंहांदिमन्त्राः ... | १२५ |
| २८४ | मृतसञ्जीवनीकरसिद्धयोगः | ५० | ३०६ | त्रैलोक्यभीहनमन्त्राः | १२७ |
| २८५ | कक्षपसागरः ... | ५८ | ३०७ | त्रैलोक्यभीहनौलक्यादिपूजा | १३१ |
| २८६ | गजचिकित्सा .. | ६१ | ३०८ | लरितापूजा ... | १३४ |
| २८७ | अश्ववाहनसारः ... | ६४ | ३०९ | लरितामन्त्रादिः .. | १३६ |
| २८८ | अश्वचिकित्सा .. | ७१ | ३१० | लरिताभूलमन्त्रादिः | १४० |
| २८९ | अश्वशान्तिः .. | ७६ | ३११ | लरिताविद्या ... | १४४ |
| २९० | गजाशान्तिः ... | ७७ | ३१२ | नानामन्त्राः ... | १४६ |

| अध्याये | विषयः | पृष्ठे । | अध्याये | विषयः | पृष्ठे । |
|-------------|--------------------------|----------|---------|-------------------------------|----------|
| ३१३ | त्वरिताज्ञानं .. | १५० | ३४९ | शब्दालङ्काराः .. | २१८ |
| ३१४ | लक्षणान्दिमन्त्राः ... | १५२ | ३४३ | अर्थालङ्काराः .. | २१४ |
| ३१५ | नामानमन्त्राः .. | १५४ | ३४४ | शब्दार्थालङ्काराः ... | २१७ |
| ३१६ | सकलादिमन्त्रोद्धारः... | १५५ | ३४५ | काव्यगुणविवेकः .. | २१८ |
| ३१७ | मन्त्रपूजा ... | १५८ | ३४६ | काव्यदोषविवेकः .. | २२३ |
| ३१८ | वामीश्वरीपूजा ... | १६१ | ३४७ | एकाक्षराभिधानं ... | २२६ |
| ३१९ | मन्त्रलानि ... | १६२ | ३४८ | व्याकरणं .. | २२८ |
| ३२० | अधोरात्रादिशान्तिकल्पः | १६७ | ३४९ | सन्धिसिद्धरूपं .. | २४० |
| ३२१ | पाशुपतशान्तिः ... | १६८ | ३५० | पुंलिङ्गशब्दसिद्धरूपं .. | २४१ |
| ३२२ | षडङ्गान्यधोरात्रालाञ्छि | १७१ | ३५१ | स्त्रीलिङ्गशब्दसिद्धरूपं | २४८ |
| ३२३ | रुद्रशान्तिः ... | १७४ | ३५२ | नपुंसकशब्दसिद्धरूपं | २५० |
| ३२४ | अंशकादिः ... | १७७ | ३५३ | कारकं ... | २५१ |
| ३२५ | गौर्यादिपूजा ... | २८० | ३५४ | समासः ... | २५२ |
| ३२६ | देवालयमाहात्म्यं ... | १८२ | ३५५ | तद्धितं .. | २५५ |
| ३२७-३२८-३२९ | हृन्दःसारः | १८४ | ३५६ | सनादिसिद्धरूपं ... | २५८ |
| ३३० | हृन्दीजातिनिरूपणं... | १८८ | ३५७ | ति क् विभक्तिसिद्धरूपं | २६० |
| ३३१ | विषमकथनं ... | १९० | ३५८ | छात्सिद्धरूपं ... | २६३ |
| ३३२ | अर्घसमनिरूपणं ... | १९१ | ३५९ | सर्गप्रान्ताद्यादिवर्गाः | २६४ |
| ३३३ | समष्टननिरूपणं ... | १९२ | ३६० | अव्ययवर्गाः ... | २७२ |
| ३३४ | प्रक्षारनिरूपणं .. | १९५ | ३६१ | नातार्थवर्गाः ... | २७६ |
| ३३५ | शिक्षाननिरूपणं ... | १९६ | ३६२ | भूमिवनौषधादिवर्गाः | २८० |
| ३३६ | काव्यादिलक्षणं .. | १९८ | ३६३ | ह्रस्ववर्गाः ... | २८७ |
| ३३७ | मातृकनिरूपणं ... | २०३ | ३६४ | मन्त्रवर्गाः ... | २९० |
| ३३८ | शुद्धारादिरसनिरूपणं | २०५ | ३६५ | अविविक्तशुद्धवर्गाः ... | २९१ |
| ३३९ | रीतिनिरूपणं ... | २११ | ३६६ | सामान्यनामलिङ्गानि | २९६ |
| ३४० | नृत्यादावङ्गकर्मानिरूपणं | २१२ | ३६७ | नित्यनैमित्तिकप्राप्तनप्रलयाः | २९८ |
| ३४१ | अभिमयादिनिरूपणं | २१४ | ३६८ | आत्यन्तिकलयगर्भीत्यन्त्रादयः | ३०१ |

अथाग्निपुराणानुक्रमणिका ।

३

| अध्याये | विषयः | पृष्ठे । | अध्याये | विषयः | पृष्ठे । |
|---------|----------------------------|----------|---------|-----------------------|----------|
| ३६८ | शरीरावयवाः | ... ३०६ | ३०६ | ब्रह्मज्ञानं | ... ३२८ |
| ३७० | नरकरिद्रूपम् | ... ३१० | ३१० | समाधिः | ... ३३३ |
| ३७१ | यमनियमाः | ... ३१४ | ३१८ | ब्रह्मज्ञानं | ... ३३८ |
| ३७२ | आसनप्रासाद्यासप्रत्याहाराः | ... ३१८ | ३०८ | अद्वैतब्रह्मज्ञानं | ... ३३८ |
| ३७३ | ध्यानं | ... ३२० | ३८० | गीतासारः | ... ३४५ |
| ३७४ | धारणा | ... ३२४ | ३८१ | यमगीता | ... ३५१ |
| ३७५ | समाधिः | ... ३२६ | ३८२ | आग्नेयपुराणमाहात्म्यं | ... ३५५ |

INTRODUCTION.

The Purāṇas constitute the great store-house of ancient Indian knowledge. They are the records of every thing that in ancient times interested the people from the highest to the lowest. They treat alike of philosophy and theology, cosmogony and chronology, history and fables, science and art. Nothing comes amiss to them ; and every subject is treated in an easy colloquial style suited to the lowest capacity. It is generally said that the Vedas being prohibited to the Śúdras, degraded Brahmáns, and women, the Purāṇas were compiled for the edification of those proscribed classes ; and some verses quoted from the Bhavishya Purāṇa* support this opinion. As a matter of fact this is, however, not true ; for the Purāṇas profess to have been originally expounded for the instruction of learned Bráhmans assembled at a protracted sacrifice celebrated by them in the Naimisha forest ; and if this statement be accepted as correct it cannot at the sametime be said that Vyása composed the Purāṇas only for certain proscribed classes of the community. But the simple interlocutory form in which they have been written, and the popular turn given to every subject touched by them, very well favour the idea that they

० मङ्गलमस्तु ॥ भविष्यपुराणवचनम् ।
 चतुर्मानसि वर्षानां यानि प्रीत्नानि त्रैलोक्ये ।
 धर्मशास्त्राणि राजेन्द्र प्रष्टुं तानि त्वदीयत ॥
 विशेषतश्च शूद्राणां पावनातां मनीषिणिः ।
 अष्टादश पुराणाणि क्वचित् राघवस्तु च ॥
 रामस्य कुबजाद्गुह्यं धर्मकामार्थसिद्धये ।
 यद्योक्तं भारतं वीर पाराशर्येण शोभता ॥
 वेदार्थं मङ्गलं शौण्डिण्याशास्त्राणि च प्रभो ॥

were designed for the masses, who were unfit to unravel the tangled skein of abstruse scientific terminology.

The word *Purána* means 'of former times,' 'old,' 'ancient,' and is extensively used as an epithet. As a neuter noun it is usually applied to ancient history. Accordingly the Buddhists designate all their narrative works by that term. The Jains too apply it to those works of their literature which refer to the history of their most revered saints. In some of the Bráhmaṇas and the Upanishads it has also been used in the same technical sense of a narrative ; and Sankara Áchárya, in commenting on it, expresses his opinion to the effect that such passages in the Vedas so "the world did not exist before" are Itihásas, and such passages as "the Devas and the Asuras fought of yore," are Puránas. The manner, however, in which the terms have been used in the Upanishads seems to indicate that in the time of Yájñavalkya there were works bearing the generic name of Purána. These contained amplified versions of the short stories of the Vedas, and Yájñavalkya, in one place, very aptly says "the concise Veda dreads the two (the Itihása and the Purána), lest they should destroy it (by misrepresentation in course of amplification)." What the works were to which this reference was made—whether they were the Puránas as we have them, or some thing distinct—is not known ; but this much may be accepted as certain that some works of the name of Purána, have been known and current in the country from a pretty remote period of antiquity. Some of the existing Puránas claim to be even older than the Vedas* ; but their language is obviously mere hyperbole, and calls for no notice.

The total number of Hindu Puránas now extant exceeds forty-five. Of these eighteen are recognized as the most important,

* पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदाश्च त्रिनिर्गताः । सत्यपुराणम् ॥

III.

technically the "great" or "primary"—*Mahá*, and eighteen others 'secondary' or "minor"—*Upa*: the rest have not yet found a generic name. Complete codices of all the Puráṇas have not yet been found, and the number of appendixes which are attributed to some of them, is so great that it is impossible to determine with precision what portions are really old, and what are subsequent interpolations.

This objection applies equally to all the three classes, with the exception, perhaps, of a few of the first class. According to one of them, the *Matsya Puráṇa*, originally there was but one *Puráṇa* extant, and it comprised no less than a thousand millions of stanzas. Another is satisfied with ten millions of verses, and from them, it says, an abstract was prepared, which comprised four hundred thousand verses, or a million and six hundred thousand lines. This last constitutes the *Mahá Puráṇas*. It is obvious that these stories have been got up with a view to throw a halo of mystery and antiquity on the origin of the *Puráṇas*.

It is not remarkable that with such uncertainty as to the extent of what originally constituted the *Puráṇas*, the opportunities for interpolations should be ample, and they should have been extensively availed of. Some of the *Mahá Puráṇas*, such as the *Náradíya*, the *Matsya*, the *Padma*, and the *Bhágavata*, point out the number of stanzas contained in each of the eighteen great works; but they do not agree in every respect with each other, and the innumeration given by Chand in the introduction to his *Prithvitráya Ráyasá* differs from them. These differences, however, are not material, and, roughly, they all bring up the total to about four hundred thousand stanzas.

Available codices, however, do not bear out the figures given in the works above named. With the exception of the *Vishṇu* and the *Bhágavata Puráṇas*, they all fall short of the extent assigned them, if the supplementary treatises called *Máhátmyas* be excluded; and including them, the extent is considerably in-

creased. In the Agni Purāṇa, to which this note is intended to serve as an introduction, according to the authorities named, there should be 15,000 ślokas, but out of ten Mss. nine afford only 11,000, and the last 12,500. In order to make up the deficiencies paṇḍits are in the habit of reckoning such words as *Sútovācha*, &c as a complete śloka ; but the expedient is of little avail where, as in the Agni Purāṇa, the deficiency is large.

All the Mahā Purāṇas profess to be the works of Vyāsa, the compiler of the Vedas, and the immediate progenitor of the Kuru and the Pāṇdu princes. The contents of the Mahā Purāṇas, however, at every step falsify this profession. They are of a character which cannot by any means be carried to the time of Vyāsa. They treat of subjects many of which could not have formed a part of Hindu learning four thousand years ago ; and they refer to historical personages who lived within the last two thousand years. Nor do the Purāṇas themselves acknowledge Vyāsa to be their first author. In most instances he is alleged to have heard the substance of particular Purāṇas from persons who had lived long before him, and who again, in their turn, got them from some body else. Had Vyāsa himself, having heard the Purāṇas from others, taught them to his pupils, the immediate authors of the texts as we have them, should be these pupils, unless it can be shown, which is impossible, that they only recited the *ipsisima verba* of their tutor.

As regards these pupils there are again serious difficulties in reference to their identity. The person especially named in every instance is Sūta ; but the name appears to be not a specific but a generic one, implying a whole class or caste whose special vocation was to expound ancient traditions. The first Sūta was born long before Vyāsa, in the time of Yayāti, and his descendants all bore that title ; it is impossible therefore to determine which of them was the immediate author of any particular work. In fact they occupied the same position in-

India which bards and rhapsodists did in Europe, and the oldest of whom are represented by the authors of the Homeric songs, and the latest by the Troubadours of France. In India the earliest were the Sutas and the latest the Bhaṭṭas and Kulajñas, Chand affording the most notable instance of mediæval times. Princes in their palaces and Bráhmaṇical hermits assembled in sacred groves to celebrate sacrifices protracted from one to twelve years, needed some recreations to while away their time, and nothing could be more appropriate than the ballads of minstrels recounting the glorious deeds of the great men who had preceded them. These ballads and legends were doubtless preserved in the families of the minstrels for the benefit of their descendants who naturally took to their occupation, and gradually elaborated them, supplying connecting links according to their knowledge and fancy, and adding new matter when particular subjects of which no former accounts existed had to be described; and these compilations ultimately became the Puráṇas as we now find them. The revisions, recastings and elaborations took place at different times, under different circumstances, by different individuals. and hence it is that we have so many different recensions of the same stories, their general purports remaining the same.

Such, in short, being the origin of the Puráṇas, it would be vain to expect that modern research can help us to discover the real author of particular works of the kind, and the exact time when they were composed. All that can now be done is to ascertain when the process of elaboration stopped in each instance, so as roughly to determine the latest date of each. Professor H. H. Wilson undertook this enquiry about fifty years ago, and he was most favorably situated to carry out this research. He was at the head of a committee appointed by the Government of India to prepare abstracts of all the leading

works in the Sanskrit language, and several paṇḍits and translators worked under him for upwards of twelve years. The works selected in the first instance were the Purāṇas, and paraphrastic translations were prepared of most of them. With these materials before him professor Wilson was better acquainted with the contents of the Purāṇas than any other person of his time, European or native. The necessity for compiling notes for his translation of the Vishṇu Purāṇa also obliged him to much special research, and the results he arrived at were embodied in the several essays which he published on the subject, and subsequently incorporated in the learned dissertation which prefaces his edition of the Vishṇu Purāṇa. The results he arrived at were, however, not generally accepted as correct, and Colonel Vans Kennedy, who had studied the subject very carefully, in a series of letters addressed to the Editor of the London 'Asiatic Journal,' proved them to be quite unreliable. Professor Wilson answered some of these letters; but, in the course of discussion, lost his temper, and gave utterances to mere dogmatisms instead of sound arguments. Subsequent discoveries have since proved very satisfactorily that so many of his deductions as referred to two three and four centuries as the ages of particular Purāṇas are utterly worthless. The single fact of the names of the eighteen Purāṇas and their extents in ślokas having been mentioned by Chand in the first canto of his 'Prithvirāya Rāyasā,' is sufficient to show their futility. At the same time it is obvious that those of the Purāṇas which have many episodes are comparatively more modern than those which have none, or only a few. Judged by this test, as also by their contents, the Vishṇu, the Vāyu, and the Agni Purāṇas appear to be much older and more authentic than the rest; while the Padma, the Brahmavaivarta, the Brahmāṇḍa, the Skanda, and the Bhavishya appear to have been the most tampered with.

The three first are not only the most authentic, but also the most important, as containing a vast amount of useful materials for the development of the ancient history of the country. Two good editions of the first of these have been published, one in the Bengali character, along with explanatory notes and a Bengali translation, and the other in the Nágari character with a commentary ; and the splendid English translation of it by Professor Wilson, published in 1839, leaves nothing to be desired. An edition of the second is now in the press, and an English translation of it has been promised in the series of " Non-Christian Scriptures " of the University of Oxford. The text of the third is now printed for the first time.

The contents of a Purána, according to the definition given in some works of that class should include : 1st. primary creation, or cosmogony ; 2nd, secondary creation, or the destruction and renovation of worlds ; 3rd, genealogy of gods and patriarchs ; 4th, reigns of the Manus, or periods called Manvantaras ; and 5th, history of the solar, the lunar and other races. This fivefold character of their contents has given to the Puránas the generic name of *Pancha-lakshana* or " that which has five characteristic topics ;" and this name has been common from a very long time. Amara Siñha, in his Sanskrit dictionary, gives it as a synonym of Purána, and the dictionary is, at the lowest calculation, fourteen hundred years old. As a matter of fact every Purána has dwelt upon these subjects at some length ; but it does not appear that the definition was designed to exclude all other matters. On the contrary, every Purána has some particular subject or subjects on which it dwells at great length ; and, in some cases, the five primary subjects occupy in them but a very subordinate position. This is particularly the case with the Agni Purána, more than three fourths of which have been devoted to topics which bear no relation to the five primary subjects. Even in its introduction the subjects of the work are

described to be, not five-fold but, twofold, viz., sacred knowledge or theology, (*Pará Vidyá*), and profane knowledge or the arts and sciences known to the people (*Apará Vidyá*). As the introduction also gives a history of the origin of the Purána I shall here quote it entire.

“Śaunaka and other sages, thorough knowers of Hari, when dwelling in the Naimisha forest, asked Síta, who, while on a pilgrimage to holy places, had been welcomed there, about the noblest of truths. ‘O Síta, who art revered by us, instruct us in the knowledge of that by which a person may be omniscient.’

“Síta replied ; ‘Lord Vishṇu is the noblest of all truths ; he, the sempiternal, is the Creator of the heaven and the rest. By knowing him a person becomes omniscient, and (can truly declare) I am that Brahma. He should know that Brahma as twofold, that is, the transcendental, and the mundane. “He should have the knowledge of two sciences,” says the Atharva Veda. Once on a time, I, Śukadeva, Paila, and others went to the hermitage of Badarika, and, after saluting Vyása, questioned him on this subject, and he imparted it to us. Vyása said, ‘listen, Súra and the rest of you, what Vaśishṭha imparted to me when I had asked him about the noblest Brahma. Vaśishṭha said, listen, O Vyása, to what I shall mention to you about the two-fold Brahma upon which the whole universe is dependant ; it is what was once communicated by Agni to me and certain sages and gods. Amongst the Puránas the Ágneya is the greatest (*pará*), as it contains the letters giving knowledge of the Supreme Being. The Rig and the other Vedas, and all useful knowledge are subsidiary to it (*apará*).

“Whoever reads or hears the Ágneya Purána, which was revealed by Agni, obtains the object of his desires, and salvation as well as merit. He, Agni, is the all-devastating fire ; he is Vishṇu ; he is Brahma in the form of light ; he is the greatest of the greatest ; he is God, the adored object of

wisdom and sacrifices. Solicited to impart information about it by the sages, Vaśiṣṭha asked him, saying ; ‘ communicate to us that Brahma which is the essence of all sciences, and is the vessel for our conveyance across this worldly ocean ; by knowing which men become omniscient.’

“ Agni said ; ‘ I, who am an attribute of Vishṇu, Kāla, Agni and Rudra, shall communicate to you the essence of wisdom, the Ágneya Purāṇa, which is best adapted to impart general knowledge. Five subjects constitute a Purāṇa ; viz. Sarga, or creation ; Pratisarga, or recreation *i.e.* reproduction after partial destruction of the universe ; Vañśa, or genealogy ; Manvantara, or account of the Manus ; and Vañśa-charita, or history of ancient families : and the Purāṇas have assumed the forms of Matsya, Kúrma &c.’

“ Vishṇu assuming the form of a fish, a tortoise &c. is the twofold Vidyá or knowledge, and it is known under the two names Pará and Apará.

“ The Apará Vidyá, or worldly knowledge, comprehends the following ; viz., The Rik, the Yajus, the Sáma, and the Atharva Vedas, along with their subsidiary branches, consisting of six, viz. Śikshá, (Phonetics) ; Kalpa (Rituals) ; Vyákarana (Grammar) ; Nirukta (Lexicology) ; Jyotish (Astronomy) ; Chhandas, (Prosody) ; as also Abhidhána (Philology), Mímámsá, (Philosophy), Dharma (Law), Purāṇa (History), Nyáya (Logic), Vaidyaka (Medicine), Gándharva (Music), Dhanurveda (War), and Artha Śástra (Political Economy). The Pará Vidyá is the knowledge by which may be known Brahma or the Supreme Being, that which is invisible, incomprehensible, casteless, feetless, and sempeternal.”

In elaborating the general heads above set forth, the author of the work does not at all bear in mind the five principal topics which should form the substance of the Purāṇa. Even the two-

fold division of divine and secular knowledge, which he starts with in the Introduction, is soon lost sight of, and subjects are taken up at random as they strike him without any system or order. His object seems to have been the production of a volume which, like Chambers' 'Information for the People' or a cyclopædia, should afford, in a popular form, concise and succinct information on all the leading topics of later Sanskrit learning; and, if in the course of his writings any of the five Paurāṇic topics come in the way, he disposes of it as cursorily and summarily as those which do not relate to them. I say "later" because the Vedic rituals are nowhere noticed in detail.

The first subject of the work, according to the five-fold division, should be the primary creation of the universe; but, instead of that, the work opens with an account of the Fish Incarnation of Vishṇu (Matsya Avatāra). This is followed by brief accounts of the Tortoise, the Boar, the Man-lion, the Dwarf, and the two Rāma incarnations, as described in other works on the subject. The second Rāma, or that of Ayodhyā, takes up seven chapters, (5th to 11th), and in the course of his description, a summary is given of the Rāmāyaṇa of Vālmiki. Then comes an account of the Yādava race, in which Kṛishṇa, the eighth incarnation, was born, and also of the Mahābhārata, which contains many important incidents in the history of his life. (12th to 15th). One chapter (15th) is especially devoted to the character of the five Pāṇḍava brothers. These chapters prove conclusively that the work is long posterior to the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata, and written at a time when those works had become very old, and abstracts of them were likely to be prized by general readers. The manner in which the summaries have been given precludes the idea of the summaries being the germs out of which the epics have been elaborated. Then follow brief accounts of the Buddha and the Kalki incarnations, (16th). The former is described in the

past tense, and the latter in the future, as a prophecy. With regard to the former Agni says, 'I shall now describe to you the Buddha incarnation, the hearing or reading of which is calculated to ensure good fortune. At a battle fought in ancient times between the Devas and the Asuras, the former were overcome by the latter. Thereupon the Devas sought the shelter of Ísvara, saying 'O, save us, save us.' He, Ísvara, took birth as the son of Śuddhodana, and as an embodiment of illusion and deception. He deluded the Daityas, and made them abjure the religion of the Vedas. They were born as Bauddhas and in their turn they made others reject the religion of the Vedas. He (Ísvara), afterwards became an Árhata, and converted others into the religion of Arhat. Thus were produced heretics, devoid of the religion of the Vedas, addicted to vice, and committing acts, which rendered them fit to be consigned to hell". Here the Buddha incarnation is avowed to be the same with the son of Śuddhodana, and the religion of Arhat or Jina (Jainism) is described to be of a later date than Buddhism. How far the last statement is historically correct is open to question, as the Buddhist scriptures, which are unquestionably older and more authentic, admit Jainism to be older: in fact Buddhism was a reformation or a scismatic form of the latter.

The seventeenth chapter opens with an account of primary creation very much in the same way in which the subject has been treated in the Vishṇu Purāṇa ; but the whole subject has been condensed into sixteen stanzas. The race of the self-born Manu is, in the same way, condensed, in the next chapter, into 44 stanzas. The race of Káśyapa is treated of next, and the primary creation of matter is disposed off in the same summary manner in 23 stanzas. Thus three out of the five essential subjects of Purāṇas are disposed of in a hundred and eleven stanzas out of a total of well nigh eleven thousand stanzas.

XII.

Having thus disposed of the primary subjects the Purāṇa, in its twenty-first chapter, gives a summary of the mantras for the adoration of Viṣṇu in his different forms, and of certain goddesses of the Śákta class. The mystic mantras of these divinities are of the Tántric type, and formed, in most cases, of the syllable Hriñ or Sriñ coupled with the name of the divinity put in the dative case. The first purification necessary for worship is bathing, and this accordingly forms the theme of the next chapter (22nd). Then follow the rituals and the gesticulations as ordinarily given in the Tantras, and rules for the construction of altars (Kuṇḍas,) for the sacred fire (24th), but in mere outline; and they are followed by chapters devoted successively to definitions of the mystic mantras of Váśudeva and other deities (25th); mudrás or gesticulations (26th); initiation into religious duty (28th); mystic diagrams (29th); circles (30th); prayers (31st); and the usual sacraments (22nd), of which the assumption of the sacred cord is specialised by the devotion of an entire chapter to it (33rd), and in course of it a great number of mystic mantras are supplied. The first rite in connexion with the assumption of the sacred thread is the performance of the homa, or the offering of oblations to the fire in the altar, and this is explained in the following chapter (34th); the preparation of the cord, the mode of putting it on, the measurements of the cord for gods and men being treated in the three subsequent chapters (35th to 37th).

Chapter 38th opens with a new subject, the erection of temples for gods and goddesses, and the examination of the earth for the purpose.* In course of it several of the Tantras are referred to by name, and the enterlocutor changes to a sage of the name of Hayagríva, who lays considerable stress on a Tantra styled Hayasirsha-pancharátra, which, still extant,

* *Vide passim* 'Antiquities of Orissa I.' p. 37.

is in character similar to the Nárada-pancharátra. The subject, however, is no sooner mooted than dropped, and in the 40th chapter the offering of arghyas is taken up for discussion. Ordinarily the arghya is formed of durva grass, sandal paste, grains of rice, and water; but the rice is replaced by other grains, and sometimes by sweetmeats, or frumenty according to the nature of the divinities for whom it is intended. Thus, Maríchi gets ladduka, a kind of sweetmeat made of gram-meal fried in butter, and frosted with sugar; Indra gets boiled rice steeped in clarified butter; Savitá red flowers, and so on. This is followed by a set of rules for the placing of stones near the altar, and then by two others on building other than temples, and the manner in which images are to be placed in them (43rd). The mention of images suggests the idea of rules for the making of images, their size and relative proportions, which are discussed in the same way as in the Mánasára. The unit of measurement is the angula, or the breadth of the thumb, and the different parts of the body are reckoned by so many angulas, the total length being taken at 100, just in the same way in which the subject is treated in the work above named. As a part of the image the pedestal next comes to notice (45th), and its details, like those of the images, are founded on the same authority.

The next two chapters treat of the ammonite shell (Sála-gráma), its peculiarities, and the propriety of worshipping it as the emblem of Vishṇu. The shells are named differently according to the number of whirls, the forms of the lineations, the positions of the centres of the whirls, and the particular colors and spots seen within them; *i.e.* each species of the shells has a specific name of its own. After this comes a chapter (48th) on hymns for the twenty-four forms of Vishṇu. Continuing the subject of images, the Puráṇa describes the forms, successively, of the Fish and the other incarnations, including the

more important followers of Vishṇu in his Rāma and Kriṣṇa incarnations, as also of some of the different forms of Devī, Súrya and other gods and goddesses. The forms described are in some instances exactly what are produced in the present day, but in others, totally different. The ten-handed Durgá of the present day is called Chaṇḍí, and is endowed with 20, 18, 14, or 12 hands at option, each hand holding an appropriate weapon, the other accessories remaining unchanged. Gaurí is endowed with four faces. Sankarí has four hands, and is mounted on a goose. Kaumárí has no superabundant hands or faces, and is characterised only by her vehicle, which is a peacock. Várághí is mounted on a buffaloe, and sports four hands. Aindrí has a thousand eyes. Chámuṇḍá appears as an emaciated, flesheess hag, set off with a tiger skin and bone ornaments, and seated on a corpse. Her want of flesh is made up by an extra eye. Her *alter ego* Siddha Chámuṇḍá has ten hands, with which she is engaged in the not very elegant task of eating the raw flesh of men, horses, buffaloes, and elephants. Bhairaví has twelve hands, and Maháalakṣmí four faces. These goddesses are called the Eight Primitive Mothers (*ashta mátriká*), and their images are met with at Puri, Bhuvaneśvara and Jájpur; the images, however, do not correspond with the descriptions in all their details. On the form of Buddha there is an only śloka, and it says that he is of "a benign appearance, fair complexion, and long ears; seated on a lotus, having his body covered with a piece of cloth, he is the giver of encouragement and blessings"

As a sequel to these descriptions the lingam, its appropriate materials, sizes, proportions and pedestals, come in the next three chapters, (53rd to 55th). The next eleven chapters (56th to 66th) are devoted to the consecration of different divinities, temples, maṇḍapas, tanks, wells and so forth. Then comes a short one on the disposal of broken images (77th). According

to its wooden images should be consigned to the flames, and stone ones to the nearest river. Should the broken image, however, be of gold, or silver, or other valuable metal, or of some precious stone, the bed of the ocean should be the place for its consignment. In any case the image should be removed in a car, but covered over with a piece of cloth, which is to serve as a pall. The car should be preceded by a band of musicians. After the consignment of the image to the fire or water as the case may be, an appropriate fee is ordained for the guru. The last line of the chapter recommends that in the case of tanks, wells, temples, and houses repairs or restoration to their original condition is the most appropriate course to follow.

The next chapter is devoted to general directions for religious processions and festivals with the accompaniment of music, singing and dancing, and the propriety of observing them with devotion. This is followed by brief ritualistic directions for the observance of the bathing of images, and the mantras required on such occasions. The consecration of trees takes up the next chapter (70th), and the worship of Gaṇeśa the one after it. The subject of bathing is then recurred to, and special forms of it described at some length. The rituals for the worship of Sūrya and Śiva, for the establishment of the sacred fire, and for the worship of Chaṇḍa, Kapila and other forms of Śiva, are then supplied in successive chapters (73rd to 76th).

The subject of the 77th chapter is the adoration of Kapilá, the "tawney colored," a form of Durgá, who is to be worshipped with bloody sacrifices. I am not aware of this divinity being anywhere worshipped in the present day. Even the name is all but unknown. The next chapter has for its subject the presentation of Bráhmanical cords to images of gods. It is an annual ceremony, fit to be observed in the month of Ásháḍha, Śrávaṇa, Bhádra or Kártika; but except at Bhuvaneśvara I

have never seen it observed. At Bhuvaneśvara it is celebrated on the 14th of the wane in the month of Śrāvaṇa: its details are given in my 'Antiquities of Orissa' (vol. II. p. 80). The rules for the Thyne festival, which are given in the next chapter, are now confined to Bhuvaneśvara and Puri.

The next theme is Dikshá, or initiation to the formal teaching of the Śástra. Three kinds of it are described, of which the first produces knowledge of the Śástras, the second, transcendental knowledge, and the third, emancipation. These again have their varieties, and are attended by various purifications, some of which require fleshmeat and spiritious liquors for their performance. Passing over these we next come to a chapter (92nd) on the consecration of Śákta and Śivite images, and various mystic mantras required to be recited in course of the different services for the purpose. The details are, in this as in the preceding and in some succeeding chapters,—such as on *Vástupáijá*, or the worship of the presiding divinity of dwellings (93rd), the dressing of stones (94th), the articles required at the consecrational services (95th), and the ceremonial to be observed on the night preceding the day of consecration (96th),—are purely liturgical, and call for no notice. The same may be said of the special rituals for the consecration of lingams (97th), of Gaurí, (98th), of Súrya (99th), of the doorway of a house (100th), of palaces (101st); and of flagstaffs (102nd). These are followed by another chapter on the disposal of broken or desecrated images. In this, instead of the summary casting away of such stones, provisions are made for preserving and reconsecrating them under certain circumstances. The ceremonials to be observed in such cases are also described.

The next subject taken up is house-building, including the different kinds of houses, the mode of selecting sites for houses, and the disposition of buildings, tanks, trees &c. on such sites. Here the rules are similar to what occur *Mánasára*, and the

curious in such matters will find an extract on the subject in the first volume of my "Antiquities of Orissa", p. 80. The transition from houses to villages, towns, and fortresses, is but natural ; and thence a brief survey of the geography of the earth (*Bhuvana-kosha*) is a wide but by no means an inconsistent stride (107th 108th). Again, talking of the earth, the author naturally casts his eyes on those spots on it which are the most holy, and worthy of being visited (Tīrthas). These are all comprised within the boundary of India, and treated of in a very summary and perfunctory manner. He first gives a chapter on what should be the duties which good men should observe in going to Tīrthas, and what they should do there. Fasting ; gifts of gold, land and cattle ; shaving off the hair of the head ; bathing ; offering of water (*tarpana*) and funeral cakes (*śrādhā*) to the manes ; and feeding of Bráhma-
 manas and beggars are the principals duties ; and these are strictly enjoined (109th). Then follow notices of some of the principal places of pilgrimage, such as the river Ganges, the confluence of the Ganges and the Yamuná (*Prayága*), Benares, the river Narmadá, and Gayá. The first four are disposed of very summarily, but the last is described in some detail, including the story of Gayásura in full,* the mode of proceeding to Gayá, and the various Śrādhās and rites to be performed there. The details are closely similar to what occur in the Gayá Máhātmya section of the Váyu Purána ; but not quite so elaborate. Some of the ślokaś are almost identical in the two works ; but it is difficult to decide from the circumstance which is the archetype, and which the copy.

A short account of India (Bháratararsha) in 8 śtanžas (118th) forms the prelude to another geographical dissertation in two chapters (119th and 120th) ; and then follow twenty-

* See my 'Buddha Gayá', pp. 10f.

nine chapters on astrology, or the calculation of auspicious and inauspicious conjunctions of stars, particularly those bearing on proper moments for commencing wars. The subject is one which has always interested much the people of this country, and systematic works on it are so numerous and voluminous, that an abstract of it is of little value for a clear understanding of the peculiar ideas and beliefs which have hitherto governed the Hindu mind. To those who are curious on the subject Dr. Kern's translation of the *Vrihat Saūhítá* of *Varáshamhira* will afford a much better account. As necessary adjuncts to inauspicious signs, rites and ceremonies calculated to overcome them, are adverted to in different parts of these chapters. The divinities specially to be invoked on such occasions appear to be *Kubjiká*, or the "humpbacked one," a form of *Durgá*, the goddess *Tvaritá*, and the sungod.

As parts of the ritual for worship *Nyásas*, or the mental dedications of different parts of the body to particular divinities, are held important, and the mystic mantras appropriate for such dedications are given at length. The rites are purely *Tántric*; they are observed in all *Tántric* worship; and in describing them the *Purána* especially refers to those *Tantras* which bear the generic name of *Yámalas*. Besides *Kubjiká*, there are other forms of *Durgá* which contribute to success of particular undertakings, and their mystic mantras, as also those of eight fierce forms of *Durgá*, are given at length. The goddess *Tvaritá*, who is otherwise called *Turajá* or *Tulajá*, has several chapters dedicated to rituals and mantras for her worship. She is now entirely forgotten in India; but at one time she was of great consequence, and an entire book of 40 chapters of the *Sahyádri Khaṇḍa* of the *Skanda Purána* is devoted to her history. She is said to have been the wife of a *Rishi* or sage. Failing to sacrifice herself on the funeral pile of her lord, she, by a divine command, performed protracted austerities on the

Himálaya mountain, and ultimately attained ápotheosis. The ritual for the worship of the God of War, who is declared to be the sun under the name of Sangráma-vijaya, takes up one chapter, and a rite called *Lakshakotihoma*, or a hundred billion offerings to the homa fire, another. As the rite, however, is all but impracticable, ten million, a million, a hundred thousand, or even ten thousand offerings are recommended as substitutes.

On the reigns of Manus, or periods called Manvantaras, each of which includes over three hundred million years, and forms an entire cycle of mundane existence the Purána has space to devote a single chapter of 30 stanzas (150th). It then enters upon the duties of the different orders of society. The first chapter on the subject treats of general rules, and on the propriety of each order following its own particular duties. The next is devoted to the householder, *Grihastha*; the next to] the Brahmachári, or men in pupillage, studying the Vedas; the next, marriage; then conduct (*áchára*); then articles of food appropriate to particular orders and persons; then impurities of the person resulting from death in the family, or from some special cause, such as the existence of running sores, or contact with impure articles, or want of essential sacraments. In all these the rules of Manu and other original Smṛiti writers are followed without any variation.

The third order, or the one immediately following that of householder, is that of hermitage (*Vánaprastha*), when the householder, having fully enjoyed the pleasures and performed the duties of domestic life, retires to the jungle to meditate in seclusion on the Divinity. This forms the theme of the next chapter; and the chapter after it is devoted to Yatis (161st) or pure asceticism, in which men are recommended to pass the last stage of their lives.

Having thus disposed of the duties of the four orders of mankind in a summary way, the Purāṇa enters upon those religious duties of householders which form the theme of the Dharma Śāstra (162nd). The authorities on the subject are the Rishis, who were the founders of distinct Vedic schools or Śākhās; and each of whom compiled sets of rules for the guidance of his followers. These rules were known under the three different names of *Grihya*, *Dharma* and *Samayāchāra*, and from them metrical redactions were compiled by their considerably remote successors, and named *Smritis* or *Sānhitās*. Entire works or fragments of well nigh fifty such redactions are still extant, and some of them bear the title of "old," "abridged" and "large," showing clearly that they had undergone several redactions. Of the sages in whose names they are current thirtysix are known by their works, and others by quotations from their writings, or by name only. The Agni Purāṇa, however, does not refer to them all. It is satisfied with a list of twenty, including the names of (1) Manu, (2) Vishṇu, (3) Yājñavalkya, (4) Hārīta, (5) Atri, (6) Yama, (7) Angiras, (8) Vaśiṣṭha, (9) Dakṣa, (10) Samvarta, (11) Śātātapa, (12) Parāsara, (13) Āpastamba, (14) Uśanas, (15) Vyāsa, (16) Kātyāyana, (17) Vṛihaspati, (18) Gotama, (19) Śankha, and (20) Likhita. It is impossible now to determine whether this list was made to show that these were the only authorities known at the time of the Purāṇa, or that they were the most important or leading lawgivers. In either case their preeminence is manifest. This is also evident from the fact of their having been named in Yājñavalkya's code of laws. According to these authorities, says the Purāṇa, Dharma or duty is two-fold; first that which effects emancipation; and second, that which prepares the mind by gradual amelioration for perfect freedom from transmigration. The theme of the Dharma Śāstra is the latter.

One of the most important religious duties of Hindu domestic life is the performance of periodical offerings of funeral cakes to the manes. This is called Śrāddha; and to it the Purāṇa devotes a chapter of 41 ślokas, in which an outline is given of the order in which the rite should be performed. (163rd). It is followed by one on homa offerings to the nine planets to appease their wrath, and overcome their adverse influences; and this leads to the influence of eclipses under particular conjunctions, and their effect on human destiny (165th). The duties of particular castes next take up 21 ślokas, and the ritual for a rite involving the offering of ten lacs of oblations to the sacred fire, and the mantras most appropriate for the purpose, 48 more (167th).

Duties necessarily involve transgressions, and the most serious of such transgressions are called Mahāpātakas or "heinous sins." These are noticed in one chapter (168th). The consequences which follow from these sins, both in this and future existences, as also those which result from venial offences, and the rites and penances for their expiations are detailed in the following six chapters (169th to 174th). The injunctions are strictly in accordance with what occur in Manu and other leading Smṛiti works on the subject. Some of the ślokas are, letter for letter, quotations from ancient authorities, and they show clearly that the chapters are intended to serve as summaries of the Smṛitis which have been cited as authorities at the commencement of the chapter on duty.

Chapter 175th opens with optional religious observances or Vratas. They are of eight kinds, according as they are regulated—(1) by the age of the moon; (2) by the day of the week; (3) by the conjunction of the moon with particular constellations; (4) by the day of the month; (5) by the months; (6) by the seasons; (7) by the year; and (8) by the sun. They all involve fasting and penance, and their main object is to train the body so

as to control the sensuous desires of human nature. The abstinence includes the giving up for a fixed time of the use of flowers, incenses, aromatics, unguents, and particular articles of food and convenience. Fleshmeat, fish, sweetmeats, milk, particular fruits, are the articles usually abjured; and not unoften plates at meal time, bedding, shaving, and rich apparel, come under the ban. Abstinence from paring the nails, and from trimming the beard, or the hair of the head, is a common form of penance.*

Fasts are of various kinds. Some fasts require abstention from food in the day time, or the night time; some involve the gradual reduction in the allowance of food for a time, and then a similar gradual encrease; others insist on living on a small quantity of food of a particular kind; while not a few ordain total and absolute forsaking of all kinds of food and drink. Penance includes various kinds of tortures to which the body is subjected by exposure to the sun, rain, cold, and other influences, in addition to the abstentions and fasts above set forth. Some of the Vratas are anniversary memorials, such as the fast on the birthday of Krishna, or on the day of Bhishma's death, or on the day on which a Fowler obtained the blessing of Śiva by accidentally shedding his tears on a lingam, &c. &c. Others are undertaken in fulfilment of vows made for the attainment of particular objects, a common object being the cure of dangerous or protracted diseases. The observances of each lunar day have a chapter devoted to them, and the other seven heads have each a chapter; some of the Vratas are specialised by devoting to them a chapter each. Altogether 33 chapters from 179th to 208th have the Vratas for their subjects.

All the Vratas involve feasting of Bráhamans and alms to beggars. But gifts may be made apart from Vratas, and the

* *Vide passim* my Buddha Gayá, p. 24.

merits resulting from such gifts form the subjects of five chapters (209th to 213th). The times for making such gifts, the rules to be followed in making them, the persons qualified to receive them, are described at considerable length, and in course of these details many verses occur which are verbatim quotations from the older Smṛitis.

Chapter 214th treats of a mystical Tántric dogma; it relates to the existence of certain lotuslike forms in the human trunk, the disposition of certain arteries around them, the play of the soul in these places, and the influence of mystic mantras thereupon. The rules regarding Sandhyá or the prayers to be repeated at morning, noon and dusk, come in next; and they are followed by two chapters (216th and 217th) on the merits of repeating the Gáyatri a number of times on those occasions.

The next thirtythree chapters dwell on the duties of kings, their coronation, ministers, officers, forts, &c. The rules are closely like what occur in the Rájadharmā section of the Mahábhárata; and quotations, or what appear like them, from the Niti Śāstra of Kámandaki occur frequently. The principles inun-
 ciated are the same which have been illustrated in the fables of the Panchatantra and the Hitopadesa. First comes coronation, or royal unction, with the mantras required for the purpose (218th and 219th). In its general outline it is the same rite which has been described by me in my paper on "a Delhi Assemblage" in the Journal of the Asiatic Society of Bengal XIV. But the details are simpler, and most of the mantras are different. The ministers, are very aptly called "wealth of assistance" (Saháya sampatti), and their duties take up the next chapter (220th). Then comes the "wealth of forts," and it includes rules for selecting sites for strongholds, (221st). The mode of dividing a kingdom into villages, towns, districts, and the machinery of government for them, take up the next chapter,

and the control of the household, including the princes and the ladies of the Zenana, form the subject of the next two chapters. Vigilance and personal interest on the part of the king in all state affairs, and the administration of punishment being then disposed of, a chapter is devoted to times and rites meant for proceeding on military expeditions. Four chapters are then devoted to the interpretations of dreams. The vision of certain inauspicious objects in dreams proves beneficial if the nature of the dreams are not disclosed to any body, while the reverse is the case with other objects. Some dreams are not subject to either of these rules, and produce their effect without fail; while others of a malignant nature may be counteracted by certain rites and ceremonies. Omens are somewhat more independent; but they too may be counteracted in certain instances by rites, ceremonies, and particular observances. The term used for omens is Śakuṇa, which means "a vulture;" and originally that bird was looked upon as an animal of evil omen, whence the application of the term to omens generally.

Next come astrological observations in connexion with starting on journeys, and curiously enough the old English prejudice about Friday being inauspicious is reproduced.

The punishments referred to above relate to offences committed in one's own kingdom; they cannot be inflicted on people residing in another's country; and when they commit offences, they have to be treated very differently; and what applies to them applies likewise to their rulers. Punishments for them are said to be either overt or covert. The former head includes plunder, sacking, and burning of villages or crops; the latter comprehends poison, arson through secret agents, assassination, tampering the loyalty of subjects, poisoning of drinking water, &c. The propriety of, and the mode of inflicting, these punishments are described in 25 stanzas (233rd).

The daily duties of kings are treated of in the next chapter; and they include every act of the king from rising from his bed an hour and a half before sunrise to retirement to his bed at night. Religious duties in connexion with military education are next described, and then comes a hymn to Śiri, to insure success in warfare (236th), and it is followed by several chapters on Níti or Polity, some of the rules laid down being attributed to Ráma.

One important element of success in government is the capacity on the part of a king to make out the character of men, or the selection of fit officers for particular duties; and to supply instruction for the purpose of helping kings easily to select their officials the Purána devotes two chapters to the characteristics of men and women; and then, to make them connoisseurs of chámara, umbrellas, jewels, buildings, and flowers, add four chapters (244th to 247th). The subject of training in the use of arms and armour also take up four chapters. Archery of course forms its leading element, and on it the rules appear to be thoroughly Indian. No mention is made in them of fire-arms, such as are to be met with in the 'Śukra Níti.' The chapters are particularly interesting, and abstracts of them will be found in Dr. Wilson's essay on 'the Art of War as known to the Hindus' (II. pp. 290f), and in my 'Antiquities of Orissa', (vol. I. p. 120).

The administration of justice takes up six chapters (252nd to 257th). The first is on law-courts; the second, on judicial officers; the third, on evidence; the fourth, on inheritance; the fifth, on boundary and other disputes; and the sixth, on abuse, slander, libel &c. To those who are familiar with the leading law literature of the Hindus as given in the English translations of Manu, Mitákshará &c. there is nothing in these chapters which will appear novel. In fact, we have in them a very fragmentary and unsatisfactory abstract of those works.

The subject of the 258th chapter is called *Rig-vidhāna* ; but it does not refer to the work of that name in which Śaunaka describes the authors, the divinities, and the metres of the Rig Veda. Its object is to point out the merits derivable by the repetitions of particular verses of the Rig Veda, especially the Gāyatrī, a great number of times, and under certain conditions. The verses and the rites enjoined in the Yajus, the Sāma, and the Atharva Vedas are also treated of in the same way in successive chapters ; and they are respectively named *Yajur-vidhāna*, *Sāma-vidhāna*, and *Atharva-vidhāna*. Health, life, prosperity, wealth, descendants, destruction and dementation of enemies, seasonable rain, and other blessings are promised to those who follow the injunctions laid down in these chapters.

A section occurs in one of the Bráhmaṇas of the Sāma Veda in which the means of obviating the evil effects of supernatural occurrences are provided ; a summary of this section, and the merits of the Śrí Śukta, a Litany to Fortune* form the subjects of the next chapter. An offering to the Viśvedevas and the mantras required for the purpose, the ceremony of bathing the images of the guardian divinities of the ten quarters, that of bathing the image of Vináyaka, (Gaṇeśa), that of Maheśvara, the adoration by kings of particular divinities on specified days of the month, mantras to be recited on the umbrella, the throne, the horse and other regal insignia, a charm bearing the name of Vishṇu and designed to protect the person of the wearer, the different Śákhás of the four Vedas, and the merit of alms, are then described in successive chapters. (269th to 271st.)

The last of the five primary subjects of Purāṇas is genealogy, and to it the Agni Pnrāṇa devotes six chapters (272nd to 277th). The first of these treats of the solar race ; the second, of the lunar

* Translated by Mr. F. E. Hall.

race; the third, of the Yádava race; the fifth, of the descendants of Turvasu; and the sixth, of the descendants of Puru; the fourth being an erratic one on the twelve great wars waged between the Devas and the Asuras. The total number of stanzas in the five chapters on genealogy amounts to 170. The account may be described as a brief summary of what occurs in the Vishṅu, the Váyu, and the Bhágavata Puráṅas.

The next subject taken up is practice of medicine, including materia medica and pharmacy. Agni, the interlocutor, proposes to explain the Ayur Veda. in the very words in which Śúśruta was taught by Dhanvantari. This remark at once shows that at least this portion of the work is subsequent to the age of Śúśruta. The interval between the time of Śúśruta and that of borrowing his authority in the Agni Puráṅa must also have been a long one, for both Dhanvantari and his pupil were surgeons, and not physicians. The former owes his name—apparently a title—to *dhanus* ‘a bow,’ because he saved men from wounds inflicted by arrows shot from bows, and the work of the latter is of a purely surgical character. We have also the authority of Charaka, a medical practitioner of a remote age, who says that under particular circumstances patients should resort to Dhanvantariyas, i.e. surgeons. And it must have taken a long time before the distinction could be so effaced as to hide the impropriety of quoting a surgeon as the highest authority on medicine. Śúśruta asks his tutor to explain the science of medicine as bearing on the diseases of men, horses, elephants and cattle; but Dhanvantari, instead of taking up the science, resorts to the art, and begins his instruction in the Puráṅa with an account of some select recipes (*Siddhaushadha*), and the names of the diseases in which they are best indicated. Very few of these find a place in the work of Śúśruta. He then describes some compound medicines which were held to be panaceas for all kinds of diseases (279th). The humours

of the body are next described, and a chapter is then devoted to the value of particular trees, planted round dwellings. Some trees are good on the south side of the house, others on the north, and so on. The effect of particular fieldcrops on the sanitary condition of houses is also described. But the whole subject is disposed of in 73 ślokas. Another set of the same number of ślokas is devoted to the effect of mantras as means of curing diseases and promoting longevity (283rd). Dhanvantari then quotes the words of Átreya with reference to certain highly efficacious recipes, supplementing the same by others of his own, and next enters upon the subject of elephants, their good points and defects, and the medicines most appropriate for diseases to which they are subject. The subject is named *Gajayurveda*, and is explained by one called Pálakápya, who is elsewhere said to be a saint (muni) or an alias of Dhanvantari himself; but inasmuch as the narrator of chapter 285th is Dhanvantari, and he is made to say that the *Gajáyurveda* would be explained by Pálakápya, and the latter, instead of addressing Śúsruta, makes Lomapáda, king of Anga, the receiver of his instructions, and at the close of chapter 291st Agni distinctly says that the instructions regarding horses had been imparted by Śálihotra to Śúsruta, and those regarding elephants had been communicated by Pálakápya to the king of Anga* the obvious inference is that the two names indicate not the same but two different persons.

In the next chapter Dhanvantari again takes up the thread of the discourse, and dwells at some length on the value of the horse as a vehicle, and the proper times and modes of using that animal. He concludes by saying that he would quote the words of Śálihotra on the good and bad points of horses and

* शास्त्रिहोत्रः सन्तुनाय इयादुर्वेदं मुक्तवान् । पालकाप्याङ्गराजाय गजायुर्वेद-
सम्प्रवीत् ।

on the veterinary art. Accordingly chapter 288th is devoted to the quotation in question. Śálihotra is said to have been a Rishi of great renown, who had acquired the veterinary art from the celestial horse-doctors, the two Ásvins, and written the first work on the subject for human use. His work has not yet been met with, but an abridgement of it by Nakula, the fourth of the Páñdu brothers, is still current, and veterinary art is in India indicated by the name of the Rishi, the vernacular form in northern India and also in Bengal, being *Saluteri*, and the practitioner of the art *Saluter*. In the reign of Ghiásuddin Muhammad Sháh Ghilzai, A. H. 783= A. D. 1381, a Sanskrit work, styled *Salotár*, appeared in a Persian dress under the name of *Kurrat-ul mulk*, and extended to 41 pages. Even before that, an Arabic version had appeared under the name of *Kitábul Baitarat*, and subsequently, in the reign of Sháh Jahán, a Persian translation was prepared of a Sanskrit work named *Salotari*, which extended to 16,000 ślokas. There is nothing, however, to show whether the original of any of these three versions was the work of Śálihotra, or later compilations on farriery. Seeing that the word *Saloteri* is now become a common noun for farriery, and there is no reason to doubt that it has been so current from a very long time, I am of opinion that the Persian versions were not taken from the original work of Śálihotra, but from later compilations; and this is confirmed by the fact of the originals of the three versions having been of very unequal lengths. It is doubtful if the verses quoted in the *Agui Puráña* retain the *ipsissima verba* of Śálihotra, or are paraphrases. The subject is an exceedingly interesting one; but as I have already written on it a separate paper, which will ere long be published, I refrain from producing a translation of the text here.

In the next chapter (291st) the interlocutor changes to *Dhanvantari*, and the subject is domestic cattle. The value of

the cow and her products, the sanctity of that animal, the proper mode of tending it, the diseases it is subject to, and the art of treating cattle diseases are all described briefly. A short extract from this chapter occurs in Bâbu Hem Chunder Ker's minute in the Report of the Cattle Commission of 1870.

Agni next resumes the discourse, and gives an account of the various kinds of serpents known, their poisons, and their antidotes (293rd and 297th). The treatment for snake-bites is, to some extent, relegated to the domain of mantras, but several prescriptions are given, particularly for bites of venomous insects; mantras are likewise supplied for use as charms and amulets, and for the neutralization of poisons. Infantile diseases next engage his attention (298th), and some mantras as well as some prescriptions are given for their cure.

Chapters 299th to 326th are purely ritualistic, supplying mantras and details for a variety of purposes, but of no practical interest. First come some ritual observances for the removal of diseases and evils resulting from adverse conjunctions of planets. Then Sûrya, "the lord of the planets," come in for his share (327th). Lakshmi, Gauri, Nṛisīṅha, Tvaritá Paśupati, and a host of minor divinities also have their rituals. One chapter (324th) is devoted to rosaries, the materials of which they should be made, the number of beads to be employed, and the manner in which they should be used. A good number of the mantras are meant to serve as magical incantations for causing death, ruin, dementation, subjugation, disease, stupefaction, &c. of one's adversaries. Some are meant to serve as love philters, others as amulets, others demoniac nocturnal rites; the efficacy of a few are promoted by the administration of poisonous substances. Every one of them is malevolent in its character. In Sanskrit literature these incantations date from the time of the Atharva Veda, and have at all times exercised a potent influence on the domestic life of the people;

but they are of the most puerile character, and it is a matter of no ordinary wonder that intelligent and even learned men of India should have attached any importance to them. These men were, however, not singular in this respect. The ancient Egyptians were particularly noted for their magical art, and the Greeks and the Romans were no less attached to it. Even in mediæval times charms, philters, incantations, and rites in association with evil spirits were any thing but uncommon in Europe. To illustrate the character of the incantations a single specimen would suffice. The object being to stupify or benumb the face of an enemy a Bráhmaṇ should, at midnight, draw, on a peice of Bhurj bark, the figure of a tortoise six fingers in diameter. Then he should write on each foot of the picture the mystic syllable *Kriñ*; in the mouth, the word *Hriñ*; on the belly, the name of one of the fierce forms of *Durgá*, and on the back the name of the worshipper. He should then surround the picture with the mantra called *Málá* mantra, which in its translated form would stand thus: "Om, benumber of enemy's face, assumer of every shape at will, and causer of agitation, *Hriñ*, *Pheñ*, *Pheṭkárini*, do, do thou benumb the mouth of my enemy so and so; do, do thou benumb the mouths of all who are inimical to me, *Oñ*, *Húñ*, *Pheñ*, *Pheṭkárini*, may this be agreeable to thee!" The drawing thus completed should be placed on a brick, and covered over by the carapace of a large tortoise. The divinity named *Mahákúrma*, or the great tortoise, should next be worshipped in due form, and with all the necessary offerings. On the completion of the rite, the name of the enemy should be called to mind seven times, and then the drawing with its coverings should be kicked down with the left foot.

As an instance of employing poisonous substances to promote the efficacy of incantations, reference may be made to the formula given for producing leprosy. The direction is:

“Take the blood of a serpent, and of a mole, and half its quantity of oleander root, a lizard, bees or lice, crabs, and scorpion; pound them together, and digest them in oil; give the oil to be rubbed on the body of the victim, and then bury the rest in a burning ground with the mantra, “Om, to the nine planets, do, do work on all my enemies, do, do kill them, Añ, Soñ, Mañ, Vuñ, Chuñ, Oñ, Sañ, Váñ, Keñ, Oñ, may this be acceptable!” All the mantras are made up of a number of mystical syllables like Hriñ, Huñ, Háñ, Piñ, Kriñ, Phát, Śvaha, &c. jumbled with the names of particular divinities and more or less definite prayers.

After the incantations come versification, and to it eight chapters have been dedicated (327th to 334th). The technical terms used in this part of the work are the same which are met with in Pīngala’s Chhanda Śāstra, and this part necessarily must be of a later age than that work, unless it can be shown that the two works have drawn their materials from a common source, which is by no means unlikely. This much, however, is certain that the versification treated of belongs to the age of classic Sanskrit, and not of the Vedic period, except in so far as Vedic metres had retained currency in the later age.

The great antiquity of the Vedas is no where better illustrated than in the treatises called Śikshá, in which the phonetics of the Vedic language are explained at length. All those treatises date from before the Christian era; some of them are unquestionably 6 to 8 hundred years older than that era; and at that time the language of the Vedas had become so old and antiquated, and the practices of the different schools of chanters had become so divergent that the necessity was felt of having treatises pointing out what syllables were long, what short, what circumflex, and what unaccented, and the different places in the organs of speech where they should be modu-

lated. This could not have possibly arisen until after the lapse of many centuries from the date when the Vedas were composed;—in fact when the language of the Vedas had in a great measure, if not entirely, ceased to be colloquial. The leading principles of this branch of Indian learning are given in the Purāṇa in 21 stanzas (335th), and the matter seems to have been taken from the Rik-prātiśakhya of Śaunaka.

From the last the Purāṇa passes on to rhetoric, and briefly discusses the leading characteristics of poetry, drama, taste, and style (336th 339th). The next chapter is on dancing, and the next on acting. Rhetorical ornaments take up three chapters (342nd to 44th), and rhetorical merits and defects two more. In these the principles inculcated are the same which are to be met with in the earlier leading texts on Rhetoric, and Bharata is quoted by name in the chapter on dancing and dramatic performances.

The meanings of single letters of the alphabet form the theme of the next chapter (347th), and then the grammar of the Sanskrit language occupies the following eleven chapters (348th to 358th). The object being only to give a sketch of the character of that language the leading points of the grammar alone have been touched upon. The language intended is the classic Sanskrit as defined by Pāṇini, and the archaic dialect of the Vedas is entirely overlooked. Professor Wilson, in his analysis of the Agni Purāṇa, states that the sketch excludes the conjugation, but in the texts from which this edition of the work has been compiled there is no such omission.

The grammar is followed by a metrical vocabulary in the style and plan of the Amarakośa, but very much condensed. It extends to eight chapters, (359th to 366th). The first opens, as in the Amarakośa, with celestial objects; the second supplies the indeclinables; the third, words of various meanings, and

so on. In the first chapter, after naming the gods and their followers, their enemies are indicated by a single word *Asura*, and immediately after it occurs the word *Sugata* with its synonyme *Tathágata*.

Chapter 367th treats of the dissolution of the universe (*pralaya*). The word is used in its most comprehensive sense of change, and then circumscribed under four heads, viz. (1) *Nitya*, (2) *Naimittika*, (3) *Prákrita*, (4) *Atyantika*. The first implies the change which the creation is undergoing constantly without intermission, including the daily deaths of animated beings. The second is "periodical," or the more or less partial destruction of the order of things produced at the close of a *Kalpa*. The third is called "elemental," or that in which the creation is reduced to its rudimentary form at the close of a thousand fourfold *Yugas*. The fourth is arrived at when, by the attainment of perfect knowledge, the nonsubstantiality of the creation becomes manifest to the eye of reason. The last is dwelt upon at considerable length. In the next chapter (369th) is given the anatomy of the human body, supplying the names of the different structures and their functions. Immediately after it occurs a dissertation on the different hells to which the wicked are consigned, and their characteristics; and this concludes the circle of mundane knowledge—*Apará Vidyá*, and the concluding twelve chapters are devoted to transcendental knowledge, which insures final emancipation from all liability to repeated births and deaths.

The first essential for perfect knowledge is the control of the passions, or the subjugation of the sensuous wants and longings of humanity. Nothing transcendental can be accomplished without this essential preliminary, and how this is to be effected is treated of in chapter three hundred and seventyfirst. Simultaneously with the exertion to restrain the

passions, the candidate for emancipation should train himself to adopt particular seats (*āsana*), to regulate his breath (*prānāyāma*), to withdraw his mind from all worldly objects (*pratyāhāra*), and to concentrate it in the meditation of Brahma (*dhyanā*). These practices gradually train the mind to rise above all external attractions and distractions, and to be fully occupied in holding within it the object of contemplation (*dhāranā*) to the entire exclusion of all other thoughts. This leads to the state of ecstasy (*samādhi*) in which the mind becomes dead to every perception, except that of the consciousness of existence, and the manifestation of the soul within is all that is left in him. This is the highest and most transcendental state of the mind, and the one necessary for the *sumum bonum* of knowledge, the conviction of the identity of the thinker with Brahma i.e. the knowledge of Brahma. The conviction then arises in which the thinker is enabled truthfully to say; "I am the great light which governs all." The doctrine inculcated is that which maintains the identity of the human and the Supreme soul, and it is illustrated by the story of Yaḍha, which also occurs in some of the other Purāṇas, and in which a youth, forced to serve as a substitute for a palki bearer, and being reprimanded for the slowness of his movements, explains to a king the true relation between matter and mind. By way of further illustration, the Purāṇa gives an abstract of the *Bhagavad Gītā* quoting the *Mahābhārata*, and then a similiar abstract of the *Yama Gītā*, a work on the model of *Bhagavad Gītā* and said to have been first imparted by Yama, the ruler of the nether regions, to a renowned saint named Kapila.

In the concluding chapter Agni first recounts the praises of the Agni Purāṇa ; Vāśishtha then recounts them to Vyāsa ; Vyāsa to Sūta ; and the last to the sages assembled in the Naimisha grove. The praises are of the most exaggerated

and hyperbolic character; but they are by no means remarkable. Almost every Purāṇa uses the same words, and attributes to itself the same virtues, in the same manner, so as to make the whole worthless; and even intelligent Hindu authors call them eulogistic, (*prasansāvāda,*) and not intended to be implicitly believed as true.

This abstract of its contents shows that the Purāṇa has no sectarian leaning. It treats of Vaishṇava, Śaiva and Śākta forms of worship with impartiality, and its object was, as has been already stated, more to produce a digest of Sanskrit learning than to advocate any particular form of religion. Hence it is that Sanskrit authors class it among the *Tāṃsa* or delusive division of the Purāṇas. Commenting on the contents of the work Professor Wilson remarks :

“ From this general sketch of the Āgneya Purāṇa it is evident that it is a compilation from various works; that consequently it has no claim in itself to any great antiquity, although, from the absence of any exotic materials, it might be pronounced earlier, with perhaps a few exceptions, than the Mohammedan invasion. From the absence also of a controversial or sectarian spirit it is probably anterior to the struggles that took place in the 8th and 9th centuries of our era between the followers of Śiva and Viṣṇu. As a mere compilation, however, its date is of little importance, except as furnishing a testimony to that of the materials of which it is composed. Many of these may pretend no doubt to considerable antiquity, particularly the legendary accounts of the Avatāras, the section on regal polity and judicature, and the genealogical chapters: how far the rest may be ancient, is perhaps questionable. For there can be little doubt that the Purāṇa as it now exists, differing from its own definition of Purāṇa, and comprehending such incongruous admixtures, is not the entire work as it at first stood. It is not

unlikely that many chapters were arbitrarily supplied about 8 or 9 centuries ago, and a few perhaps even later; to fill up the chasms which time and accident had made in the original *Āgneya Purāna*. ”*

In the Preface attached to the first volume of this edition of the *Agni Purāna*, a descriptive list has been given of the manuscripts consulted in preparing the text for the press. Since its publication I obtained two codices, one from Benares, and the other from Mangalore. The former numbered X, and marked φ . comprises 412 folia each 16. by $5\frac{1}{2}$ inches, written in the Bengali character with 9 lines of writing on each page. Its copyist's name was Gauramohana Deva Śarmā, and it was completed in the Śaka year 1767. Though unrevised, it is generally correct, and complete. The latter, No. XI, marked, α , was obtained for me by Dr. A. C. Burnell of Mangalore. It had been copied from a Tamil MS. It comprises 386 folia in 4to foolscap, having 21 lines of writing on each page. Like the last it is generally correct, and complete. On the receipt of these, No. V., which was incorrect, was not any longer consulted, and No. VIII. was found deficient at the end. The eleven Mss consulted may be classed under four heads; 1st, Benares, represented by Nos. I. VIII. and X; 2nd, Calcutta, represented by Nos. II, III, IV, V, VI, and VII; 3rd, Baroda, by No. IX; and 4th, Mangalore, by No. XI. Of these, eight codices correspond very closely, and give the same number of chapters; two Nos. I and VIII are incomplete, wanting several chapters at the end; and one, No. III, has several chapters at the end, and 4 chapters on pilgrimage in the middle the counterparts of which are not to be met with elsewhere. The chapters are not regularly numbered in any of the Mss.,

* *Essays*, Vol. I. p. 90.

and in several no number is to be met with. For the sake of convenience of reference the serial number has been introduced by me, and the total I have arrived at from the eight Mss. which correspond is 382. The MS. from which the late Professor Wilson prepared his analysis of the Agni Purāṇa for the Journal of the Asiatic Society was, like my Mss., divided into a number of small sections according to the subject, but without any enumeration ; but their number amounted to 332, or to 50 under the total of my Mss. On the other hand, the extent of matter in Professor Wilson's codex was computed at about 14000 slokas, whereas, my printed text comes up to 11000, exclusive of a few prose passages and mantra, which together would not amount to 500 ślokas. Thus my text is short by 2500 ślokas, if the total of the Purāṇa be accepted in its own words at 14000, or more if 15000, or 16000 ślokas be assigned to it in accordance with the Bhāgavata and other Purāṇas. The excess in my No. III amounts to 33 chapters, which together comprise about a thousand ślokas ; but there are several repetitions in them of subjects treated in previous chapters, and altogether the writing is so corrupt, smudgy, and frequently obliterated that I found it impossible to print from them. A few chapters are given in the Appendix by way of specimen. This is, however, not the "appendix" to which Colonel Wilford refers in his essay on Vikramāditya and Śālivāhana (*Asiatic Researches*, X. p. 131) in which he met with the mention of Śālivāhana and Vikramāditya, and also of Muhammad as the institutor of a new era, nor has it anything to do with the 'Kāverī Māhātmyam,' current in the South of India, and said to be a part of the Agni Purāṇa. It is, in the words of Professor Wilson, "very nearly as extensive as the whole work of which it is called a section." Of these appendixes I have seen no Mss., and know nothing of their contents. Colonel Wilford's appendix is described

to be "the sixtythird or last section," and appears on the face of the statement to be apocryphal—one of the many instances in which the enthusiastic enquirer was imposed upon by his wily Paṇḍits. The second occurs in the Mackenzie Collection, and belongs to the same class with the other Māhātmyas or local legends, which, with a view to attach importance and sanctity to them, have been interpolated into, or appended to, the Purāṇas.

अग्निपुराणम् ।



अथोनसप्तत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

— 000 —

विष्णुपञ्चरं ।

मुष्कर उवाच । त्रिपुररक्षन्नुषः पूर्वं ब्रह्मणा विष्णुपञ्चरं ।
शङ्करस्य द्विजश्रेष्ठ रक्षणाय निरूपितं ॥ १ ॥
वागीशेन च शक्रस्य बलं हन्तुं प्रयास्यतः ।
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि तत्त्वं शृणु जयादिमतम् ॥ २ ॥
विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्रौ हरिर्दक्षिणतो गदौ ।
प्रतीच्यां शार्ङ्गं धृग्विष्णुर्जिष्णुः खड्गौ ममोत्तरे ॥ ३ ॥
हृषीकेशो विकोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः ।
क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नरसिंहोऽम्बरे मम ॥ ४ ॥
क्षुरान्तममलक्ष्मणं भ्रमत्येतत् सुदर्शनं ।
अस्यांशमाला दुष्प्रोक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान् ॥ ५ ॥
गदा चैयं सहस्रार्च्चिःप्रदीपपावकोज्ज्वला ।
रक्षोभूतपिशाचानां डाकिनीनाञ्च नाशनी ॥ ६ ॥
शार्ङ्गं विस्फूर्जितश्चैव वासुदेवस्य मद्रिपून् ।
तिर्यङ्गनुष्यकुष्माण्डप्रेतादीन् हन्त्वशेषतः ॥ ७ ॥

(१)

खड्गधारोज्ज्वलज्जोऽत्स्नानिर्घूता ये समाहिताः ।
 ते यान्तु शाम्यतां सद्यो गरुडेनेव पद्मगाः ॥ ८ ॥
 ये कुष्माण्डास्तथा यक्षा ये दैत्या ये निशाचराः ।
 प्रेता विनायकाः क्रूरा मनुष्या जम्भगाः खगाः ॥ ९ ॥
 सिंहादयश्च पशवो दन्दशूकाश्च पद्मगाः ।
 सर्वे भवन्तु ते सौम्याः कृष्णशङ्करवाहताः ॥ १० ॥
 चित्तवृत्तिहरा ये मे ये जनाः स्मृतिहारकाः ।
 बलौजसाश्च हर्तारम्हायाविभ्रंशकाश्च ये ॥ ११ ॥
 ये चोपभोगहर्तारो ये च लक्षणनाशकाः ।
 कुष्माण्डास्ते प्रणश्यन्तु विष्णुचक्ररवाहताः ॥ १२ ॥
 बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा ।
 ममास्तु देवदेवस्य वासुदेवस्य कीर्त्तनात् ॥ १३ ॥
 पृष्ठे पुरस्तात्प्रम दक्षिणोत्तरे
 विकीर्णतश्चास्तु जनार्दनो हरिः ।
 तमोऽङ्गमीशानमनन्तमच्युतं
 जनार्दनं प्रणिपतितो न सीदति ॥ १४ ॥
 यथा परं ब्रह्म हरिस्तथा परः
 जगत्स्वरूपश्च स एव केशवः ।
 सत्येन तेनाच्युतनामकीर्त्तनात्
 प्रणाशयेत्तु त्रिविधं ममाशुभं ॥ १५ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे विष्णुपञ्चरं नामोत्सस्यधिक-
 द्विंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्तत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

—000—

वेदशाखादिकीर्त्तनं ।

पुष्कर उवाच । सर्वानुग्राहका मन्त्राश्चतुर्वर्गप्रसाधकाः ।
 ऋग्थर्व तथा साम यजुः संख्या तु लक्षकं ॥ १ ॥
 भेदः साङ्ख्यायनश्चैक आश्वलायनो द्वितीयकः ।
 शतानि दश मन्त्राणां ब्राह्मणा द्विसहस्रकं ॥ २ ॥
 ऋग्वेदो हि प्रमाणेन स्मृतो वैपायनादिभिः ।
 एकोनद्विसहस्रन्तु मन्त्राणां यजुषस्तथा ॥ ३ ॥
 शतानि दश विप्राणां षड्शीतिश्च शाखिकाः ।
 काण्वाभाध्यन्दिनी संज्ञा कठी माध्यकठी तथा ॥ ४ ॥
 मैत्रायणी च संज्ञा च तैत्तिरीयाभिधानिका ।
 वैशम्पायनिकेत्याद्याः शाखा यजुषि संस्थिताः ॥ ५ ॥
 साम्बः कौथुमसंज्ञैका द्वितीयाथर्वणायनी ।
 गानान्द्यपि च चत्वारि वेद आरण्यकन्तथा ॥ ६ ॥
 उक्था ऋहचतुर्थश्च मन्त्रा नवसहस्रकाः ।
 सचतुःशतकाश्चैव ब्रह्मसहस्रकाः स्मृताः ॥ ७ ॥
 पञ्चविंशतिरेवात्र साममानं प्रकीर्त्तितं ।
 मुमन्तुर्जाजलिश्चैव श्लोकायनिरथर्व्वके ॥ ८ ॥
 शौनकः पिप्पलादश्च मुञ्चकेशादयोऽपरे ।
 मन्त्राणामयुतं षष्टिशतञ्चोपनिषच्छतं ॥ ९ ॥
 व्यासरूपी स भगवान् शाखाभेदाद्यकारयत् ।

शाखाभेदादयो विष्णुरितिहासः पुराणकं ॥ १० ॥
 प्राप्य व्यासात् पुराणादि सूतो वै लोमहर्षणः ।
 सुमतिश्चाग्निवर्षाश्च मित्रयुःशिशुपायनः ॥ ११ ॥
 कृतव्रतोथ सावर्णिः षट्शिष्यास्तस्य चाभवन् ।
 शांशुपायनादयश्चक्रुः(१) पुराणानान्तु संहिताः ॥ १२ ॥
 ब्राह्मादीनि पुराणानि हरिविद्या दशाष्ट च ।
 महापुराणे ह्याग्नेये विद्यारूपो हरिः स्थितः ॥ १३ ॥
 सप्रपञ्चो निष्प्रपञ्चो मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपष्टक् ।
 तं ज्ञात्वाभ्यर्च्य संस्तूय भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥
 विष्णुर्जिष्णुर्भविष्णुश्च अग्निसूर्यादिरूपवान् ।
 अग्निरूपेण देवादेर्मुखं विष्णुः परा गतिः ॥ १५ ॥
 वेदेषु सपुराणेषु यज्ञमूर्त्तिश्च गीयते ।
 आग्नेयाख्यं पुराणन्तु रूपं विष्णोर्महत्तरं ॥ १६ ॥
 आग्नेयाख्यपुराणस्य कर्त्ता श्रीता जनार्दनः ।
 तस्मात्पुराणमाग्नेयं सर्ववेदमयं महत् ॥ १७ ॥
 सर्वविद्यामयं पुण्यं सर्वज्ञानमयं वरम्(२) ।
 सर्वात्म हरिरूपं हि पठतां शृण्वतां नृणां ॥ १८ ॥
 विद्यार्थिनाञ्च विद्यादमर्थिनां श्रीधनप्रदम्(३) ।
 राज्यार्थिनां राज्यदश्च धर्मदं धर्मकामिनाम् ॥ १९ ॥
 स्वर्गार्थिनां स्वर्गदश्च पुत्रदं पुत्रकामिनां ।
 गवादिकामिनाङ्गीदं ग्रामदं ग्रामकामिनां ॥ २० ॥

१ शिशुपायनादयश्चक्रुरिति च० ।

२ परमिति अ० ।

३ श्रीधनप्रदमिति अ० ।

कामार्थिनां कामदञ्च सर्वसौभाग्यसम्पदम् ।
 गुणकीर्त्तिप्रदन्तृणां जयदञ्चयकामिनाम् ॥ २१ ॥
 सर्वेषूनां सर्वदन्तु मुक्तिदं मुक्तिकामिनां ।
 पापघ्नं पापकर्तृणामग्नेयं हि पुराणकम् ॥ २२ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे वेदशाखादिकीर्त्तनं नाम सप्तत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथैकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

दानादिमाहात्म्यं ।

पुष्कर उवाच । ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये ।
 लक्षाद्वाङ्मन्तु तद्ब्राह्मं लिखित्वा सम्प्रदापयेत् ॥ १ ॥
 वैशाख्याम्पौरुषमास्याञ्च स्वर्गार्थी जलधेनुमत् ।
 पाद्मं द्वादशसाहस्रं ज्येष्ठे दद्याच्च धेनुमत् ॥ २ ॥
 वराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः ।
 त्रयोविंशतिसाहस्रं वैष्णवं प्राह चार्पयेत् ॥ ३ ॥
 जलधेनुमदाषाढां विष्णोः पदमवाप्नुयात् ।
 चतुर्दशसहस्राणि वायवीयं हरिप्रियं ॥ ४ ॥
 श्वेतकल्पप्रसङ्गे न धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
 दद्यान्नलिखित्वा तद्विप्रे आवण्णां गुडधेनुमत् ॥ ५ ॥
 यत्राधिकृत्य गायत्रीं कीर्त्त्यते धर्मविस्तरः ।

वृत्रासुरबधीपेतं तन्नागवतमुच्यते ॥ ६ ॥
 सारस्रतस्य कल्पस्य प्रोष्ठपद्यान्तु तद्देत् ।
 अष्टादशसहस्राणि हेमसिंहसमन्वितं ॥ ७ ॥
 यत्राह नारदो धर्मान् वृहत्कल्पाश्रितानिहं ।
 पञ्चविंशसहस्राणि नारदीयं तदुच्यते ॥ ८ ॥
 सधेनुञ्चाश्विने दद्यात्सिद्धिमाल्यन्तिकीं लभेत् ।
 यत्राधिकृत्य शत्रूनाम्बर्माधर्मेविचारणा ॥ ९ ॥
 कार्त्तिक्यां नवसाहस्रं मार्कण्डेयमथार्पयेत् ।
 अग्निना यद्वशिष्ठाय प्रोक्तञ्चाग्नेयमेव तत् ॥ १० ॥
 लिखित्वा पुस्तकं दद्यान्मार्गशीर्षां स सर्वदेः ।
 द्वादशैव सहस्राणि सर्वविद्यावबोधनं(१) ॥ ११ ॥
 चतुर्दशसहस्राणि भविष्यं सूर्यसम्भवं ।
 भवस्तु मनवे प्राह दद्यात् पीथां गुडादिमत् ॥ १२ ॥
 सावर्णिना नारदाय ब्रह्मवैवर्त्तमीरितं ।
 रथान्तरस्य वृत्तान्तमष्टादशसहस्रकं ॥ १३ ॥
 माघ्यान्दद्याद्द्वाराहस्य चरितं ब्रह्मलोकभाक् ।
 यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थो धर्मान्प्राह महेश्वरः ॥ १४ ॥
 आग्नेयकल्पे तल्लिङ्गमेकादशसहस्रकम् ।
 तद्वत्वा शिवमाप्नोति फाल्गुन्यां तिलधेनुमत् ॥ १५ ॥
 चतुर्दशसहस्राणि वाराहं विष्णुणेरितम् ।
 भूमौ वराहचरितं मानवस्य प्रवृत्तितः ॥ १६ ॥
 सहैमगरुडश्चैत्रां पद्माप्नोति वैष्णवम् ।

१ सर्वविद्यावधारणमिति अ० ।

चतुरशीतिसाहस्रं स्कान्दं स्कन्देरितं महत् ॥ १७ ॥
 अधिकृत्य सधर्मांश्च कल्पे तत्पुरुषेऽर्पयेत् ।
 वामनं दशसाहस्रं धौमकल्पे हरेः कथां ॥ १८ ॥
 दद्यात् शरदि विषुवे धर्मार्थादिनिबोधनम् ।
 कूर्मश्चाष्टसहस्रञ्च कूर्मीक्तञ्च रसातले ॥ १९ ॥
 इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गे न दद्यात्तद्देमकूर्मवत् ।
 त्रयोदशसहस्राणि मात्स्यं कल्पादितोऽब्रवीत् ॥ २० ॥
 मत्स्यो हि मनवे दद्याद्विषुवे हेममत्स्रवत् ।
 गारुडश्चाष्टसाहस्रं विष्णूक्तान्तार्क्षकल्पके ॥ २१ ॥
 विश्वाण्डाद्गुरुङ्गीत्यत्तिं तद्दद्याद्धेमहंसवत् ।
 ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्तु यत् ॥ २२ ॥
 तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं तद्भिजेऽर्पयेत् ।
 भारते पर्वसमाप्तौ वस्त्रगन्धस्त्रगादिभिः ॥ २३ ॥
 वाचकं पूजयेदादौ भोजयेत् पायसैर्हिजान् ।
 गोभूयामसुवर्णादि दद्यात्पर्वणि पर्वणि ॥ २४ ॥
 समाप्ते भारते विप्रं संहितापुस्तकान्यजेत् ।
 शुभे देशे निवेश्याथ क्षौमवस्त्रादिनाहतान् ॥ २५ ॥
 नरनारायणौ पूज्यौ पुस्तकाः कुसुमादिभिः ।
 गोऽन्नभूहेम दत्वाथ भोजयित्वा क्षमापयेत् ॥ २६ ॥
 महादानानि देयानि रत्नानि विविधानि च ।
 मासकौ द्वौ त्रयश्चैव सासे मासे प्रदापयेत् ॥ २७ ॥
 अयनादौ आबकस्य दानमादौ विधीयते ।
 ओढभिः सकलैः कार्यं आवके पूजनं द्विज ॥ २८ ॥

इतिहासपुराणानां पुस्तकानि प्रयच्छति ।
 पूजयित्वायुरारोग्यं स्वर्गमोक्षमवाप्नुयात् ॥ २६ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे दानादिमाहात्म्यं नामैक सप्तत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—000—

सूर्यवंशकीर्तनं ।

अग्निरुवाच । सूर्यवंशं सोमवंशं राज्ञां वंशं वदामि ते ।
 हरेर्ब्रह्मा पद्मगोऽभून्मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः ॥ १ ॥
 मरीचेः कश्यपस्तस्माद्दिवस्त्रांस्तस्य पत्न्यपि ।
 संज्ञा राज्ञी(१) प्रभा तिस्रो राज्ञी रैवतपुत्रिका ॥ २ ॥
 रेवन्तं सुषुवे पुत्रं प्रभातश्च प्रभा रवेः ।
 त्वाष्ट्री संज्ञा मनुं पुत्रं यमलौ यमुनां यमम् ॥ ३ ॥
 छाया संज्ञा च सावर्णिं मनुं वैवस्वतं सुतम् ।
 शनिश्च तपतीं विष्टिं संज्ञायाञ्चाश्विनौ पुनः ॥ ४ ॥
 मनोवैवस्वतस्यासन् पुत्रा वै न च तत्समाः ।
 इत्स्वाकुञ्चैव नाभागो धृष्टःशर्यातिरेव च ॥ ५ ॥
 नरिष्यन्तस्तथा प्रांशुर्नाभागादिष्टसत्तमाः ।
 करुषश्च पृषध्रश्च अयोध्यायां महाबलाः ॥ ६ ॥
 कान्येला च मनोरासीद्बुधात्तस्यां पुरुरवाः ।
 पुरुरवसमुत्पाद्य सेला सुद्युम्नताङ्गता ॥ ७ ॥

१ अत्र द्वायेतिपाठो युक्तः ।

सुद्युक्तादुत्कलगयी विनताश्वस्त्यो नृपाः ।
उत्कलस्थोत्कलं राष्ट्रं विनताश्वस्त्य पश्चिमा ॥ ८ ॥
द्विक् सख्यां राजवर्ष्यस्य गयस्य तु गयापुरी ।
वशिष्ठवाक्यात् सुद्युञ्जः प्रतिष्ठानमवाप ह ॥ ९ ॥
तत् पुरुरवषि प्रादात्सुद्युञ्जो राश्वमाप्य तु ।
नरिञ्जतः शकाः पुत्रा नाभागस्य च वैष्णवः ॥ १० ॥
अश्वरीषः प्रजापाली धाष्टकं धृष्टतः कुलम् ।
सुकल्यानर्त्नी शर्प्यार्त्तैर्वै रोद्धानर्त्ततो नृपः ॥ ११ ॥
भानर्त्तविषयवासीत् पुरी वासीत् कुशस्थली ।
रेवस्य रैवतः पुत्रः ककुष्ठी नाम धार्मिकः ॥ १२ ॥
ज्येष्ठः पुत्रशतस्यासीद्राज्यं प्राप्य कुशस्थलीम् ।
स कन्यासहितः श्रुत्वा गान्धर्व्यं ब्रह्मणोऽग्निके ॥ १३ ॥
सुहृत्तंभूतं देवस्य मर्त्यं बहुयुगं गतम् ।
भाजगाम जवेनाथ स्वां पुरीं यादवैर्षृताम् ॥ १४ ॥
कतां हारवतीं नाम बहुहारां मनोरमाम् ।
भोजहृण्यन्धकैर्गुर्तां वासुदेवपुरीगमैः ॥ १५ ॥
रेषतीं बलदेवाय ददौ ज्ञात्वा ह्यनिन्दिताम् ।
तपः सुमेरुशिखरे तस्मा विष्णुालयं गतः ॥ १६ ॥
नाभागस्य च पुत्री हो वैश्वी ब्राह्मण्यतां गतौ ।
कारुषस्य तु कारुषाः क्षत्रिया युद्धदुर्न्दाः ॥ १७ ॥
शूद्रत्वञ्च पृषभोऽगार्हिसयित्वा गुरीष गाम् ।
मनुपुत्रादथेक्षाकोर्विकुञ्चिर्देवराड्भूत् ॥ १८ ॥
विकुञ्चेस्तु ककुत्स्थोऽभूत्तस्य पुत्रः सूर्यधनः ।

तस्य पुत्रः पृथुर्नाम विश्वगम्भः पृथोः सुतः ॥ १८ ॥
 आयुस्तस्य च पुत्रोऽभूद्युवनाश्वस्तथा सुतः ।
 युवनाश्वश्च आवन्तः पूर्वे आवन्तिका पुरी ॥ २० ॥
 आवन्ताद् वृहदश्वोऽभूत् कुबलाश्वस्ततो नृपः ।
 धुन्धुमारत्वमगमधुन्धोर्नाम्ना च वै पुरा ॥ २१ ॥
 धुन्धुमाराश्वयो भूपा वृढाश्वी दण्ड एव च ।
 कपिलोऽथ वृढाश्वान्तु हर्यश्वश्च प्रमोदकः ॥ २२ ॥
 हर्यश्वश्च निकुन्धोऽभूत् संहताश्वी निकुन्धतः ।
 अक्रुशाश्वी रणाश्वश्च संहताश्वसुतावुभौ ॥ २३ ॥
 युवनाश्वो रणाश्वस्य मान्वाता युवनाश्वतः ।
 मान्वातुः पुरुकुत्सोऽभून्मुचुकुन्धो द्वितीयकः ॥ २४ ॥
 पुरुकुत्सादसस्युश्च सभूतो नर्मदाभवः ।
 सभूतस्य सुधन्वाऽभून्निधन्वाथ सुधन्वनः ॥ २५ ॥
 निधन्वनस्तु तरुणस्तस्य सत्यव्रतः सुतः ।
 सत्यव्रतात्सत्यरथो हरिश्चन्द्रश्च तत्सुतः ॥ २६ ॥
 हरिश्चन्द्राद्द्रोहिताश्वी रोहिताश्वानृकोऽभवत् ।
 वृकाहाहुश्च वाहोश्च सगरस्तस्य च प्रिया ॥ २७ ॥
 प्रभा षष्टिसहस्राणां सुतानां जननी ह्यभूत् ।
 तुष्टादौर्वाण्मृपादेकं भानुमत्यसमञ्जसम् ॥ २८ ॥
 सनन्तः पृथिवीं दग्धा विष्णुना(१) बहुसागराः ।
 असमञ्जसोऽश्रुमांश्च दिलीपोऽश्रुमतोऽभवत् ॥ २९ ॥
 भगीरथो दिलीपात्तु येन गङ्गावतारिता ।

भगीरथात्तु नाभागो नाभागादम्बरीषकः ॥ १० ॥
 सिन्धुद्वीपोऽम्बरीषात्तु श्रुतायुस्तत्सुतः स्मृतः ।
 श्रुतायोर्ऋतपर्णीऽभूत्तस्य कल्माषपादकः ॥ ११ ॥
 कल्माषाङ्ग्रेः सर्वकर्मा(१) ह्यनरण्यस्ततोऽभवत् ।
 अनरण्यात्तु निम्नोऽथ अनमित्रस्ततो रघुः ॥ १२ ॥
 रघोरभृद्दिलीपस्तु दिलीपाञ्चाप्यजो नृपः ।
 दीर्घवाहुरजात् कालखजापालस्ततोऽभवत् ॥ १३ ॥
 तथा दशरथो जातस्तस्य पुत्रचतुष्टयम् ।
 नारायणात्मकाः सर्वे रामस्तस्यायजोऽभवत् ॥ १४ ॥
 रावणान्तकरो राजा ह्ययोध्यायां रघूत्तमः ।
 वाल्मीकिर्यस्य चरितं चक्रे तन्नारदश्रवात् ॥ १५ ॥
 रामपुत्रौ कुशलवौ सीतायां कुलवर्धनौ ।
 अतिथिषु कुशाञ्जने निषधस्तस्य चात्मजः ॥ १६ ॥
 निषधात्तु नलो जज्ञे नभोऽजायत वै नलात् ।
 नभसः पुण्डरीकोऽभूत् सुधन्वा च ततोऽभवत् ॥ १७ ॥
 सुधन्वनो देवानीको ह्यहीनाश्वश्च तत्सुतः ।
 अहीनाश्वात् सङ्घस्राश्वश्चन्द्रालोकस्ततोऽभवत् ॥ १८ ॥
 चन्द्रावलोकतस्तारापीडोऽस्माच्चन्द्रपर्वतः ।
 चन्द्रगिरेर्भानुरथः श्रुतायुस्तस्य चात्मजः ।
 इच्छाकुवंशप्रभवाः सूर्यवंशधराः स्मृताः ॥ १९ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे सूर्यवंशकौत्सनं नाम द्विसप्तत्यधिका-
 द्विंशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—०००—

सोमवंशवर्णनं ।

अग्निह्वाच । सोमवंशं प्रवक्ष्यामि पठितं पापनाशनम् ।
 विष्णुनाभ्यङ्गजो ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रोऽचिरञ्जितः ॥ १ ॥
 सोमस्रजे राजसूयं त्रैलोक्यं दक्षिणान्ददौ ।
 समाप्तेऽवश्वथे सोमं तद्रूपालोकनेच्छवः ॥ २ ॥
 कामवाणाभितप्तार्ङ्गो नरदेव्यः सिधेविरे ।
 लक्ष्मीर्नारायणं त्यक्त्वा सिनीवाली च कर्हमम् ॥ ३ ॥
 द्युतिं विभावसुव्यक्ता पुष्टिर्धातारमव्ययम् ।
 प्रभा प्रभाकरव्यक्ता हृविषन्तं कुहः स्वयम् ॥ ४ ॥
 कौर्त्तिर्जयन्तश्चर्त्तारं वसुर्भारीचकश्यपम् ।
 धृतिस्वक्ता पतिं नन्दीं सोममिवाभजत्तदा ॥ ५ ॥
 स्वकौया इव सोमोऽपि कामयामास तास्तदा ।
 एवं कृतापचारस्य तासां भर्त्तृगणस्तदा ॥ ६ ॥
 न शशाकापचाराय(१) शापैः शस्त्रादिभिः पुनः ।
 समलीकैकनाथत्वमवाप्तस्तपसा द्युत ॥ ७ ॥
 विवभ्राम मतिस्तस्य विनयादनया कृता ।
 वृहस्पतेः स वै भार्यां तारां नाम यशस्विनीम् ॥ ८ ॥
 जहार तरसा सोमो ह्यवमन्याङ्घ्रिःसुतम् ।
 ततस्तद्युद्धमभवत् प्रख्यातं तारकामयम् ॥ ९ ॥

१ न शशाकापचारायेति अ० ।

देवानां दामवानाञ्च लोकक्षयकरं महत् ।
 ब्रह्मा निवार्योश्मसन्तारामङ्गिरश्चे ददौ ॥ १० ॥
 तामन्तःप्रसवां दृष्ट्वा गर्भं त्वज्जाब्रवीद्बुधः ।
 गर्भस्त्यक्तः प्रद्वीप्तोऽथ प्राहाहं सोमसन्धवः ॥ ११ ॥
 एवं सोम्राद्बुधः पुत्रः पुत्रस्तस्य पुरुरवाः ।
 स्वर्गन्धर्वोर्वशी सा तं वरयामास चाप्सराः ॥ १२ ॥
 तथा सहाचरद्राजा दशवर्षाणि पञ्च च ।
 पञ्च षट् सप्त चाष्टौ च दश चाष्टौ महासुने ॥ १३ ॥
 एकोऽग्निरभवत् पूर्वं तेन चेता प्रवर्त्तिता ।
 पुरुरवा योगशीलो गान्धर्व्लोकमीयिवान् ॥ १४ ॥
 आयुर्दृक्कायुरम्नायुर्धनायुर्धृतिमान् वसुः ।
 दिविजातः शतायुश्च सुषुवे चोर्वशी नृपान् ॥ १५ ॥
 आयुषो नहुषः पुत्रो बृहशर्वा रजिस्तथा ।
 दर्भो विपाप्मा पञ्चाम्ना (१) रजेः पुत्रशतं ह्यभूत् ॥ १६ ॥
 राजेया इति विख्याता विष्णुदत्तवरो रजिः ।
 देवासुरे रणे दैत्यानबधीत्सुरयाचितः ॥ १७ ॥
 गतायेन्द्राय पुत्रत्वं दत्त्वा राज्यं दिवङ्गतः ।
 रजेः पुत्रैर्द्वृतं राज्यं शक्रस्याथ सुदुर्भनाः ॥ १८ ॥
 बृहशर्वाद्यादिविधिना गुरुरिन्द्राय तद्ददौ ।
 मोहयित्वा रजिसुतानासंस्ते निजधर्मगाः ॥ १९ ॥
 नहुषस्य सुताः सप्त यतिर्यथातिरुत्तमः ।
 उद्भवः पञ्चकक्षैव शर्यातिभेषपालकौ ॥ २० ॥

१ पञ्चाम्ना इति ज० । पञ्चाश्रमिति ज० ।

यतिः कुमारभावेऽपि विष्णुं ध्यात्वा हरिं गतः ।
 देवयानी शुक्रकन्या ययातेः पत्न्यऽभूत्सदा ॥ २१ ॥
 वृषपर्वाजा शर्मिष्ठा ययातेः पञ्च तत्सुताः ।
 यदुच्च तुर्वसुश्चैव देवयानी व्यजायत ॥ २२ ॥
 द्रुह्यञ्चानूच्च पूरुच्च शर्मिष्ठा वार्षपर्वाणी ।
 यदुः पूरुश्चाभवतान्तेषां वंशविवर्द्धनी ॥ २३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे सोमवंशवर्णनं नाम त्रिसप्तत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

यदुवंशवर्णनं ।

अग्निरुवाच । यदोरासन्पञ्च पुत्रा ज्येष्ठस्तेषु सहस्रजित् ।
 नीलाश्लिको रघुः क्रोष्टुः शतजिच्च सहस्रजित् ॥ १ ॥
 शतजिद्धैहयो रेणुहयो ह्य इति त्रयः ।
 धर्मनेत्रो हैहयस्य धर्मनेत्रस्य संहनः ॥ २ ॥
 महिमा संहनस्यासीन्महिक्वी भद्रसेनकः ।
 भद्रसेनाद् दुर्गमोऽभूद्दुर्गमात्कनकोऽभवत् ॥ ३ ॥
 कनकात् कृतवीर्यस्तु कृताग्निः करवीरकः ।
 कृतौजाश्च चतुर्थोऽभूत् कृतवीर्यात्तु सोऽजुनः ॥ ४ ॥
 दत्तोऽर्जुनाय तपते सप्तद्वीपमहौशताम् ।
 ददौ बाहुसहस्रञ्च अजेयत्वं रणेऽरिणा ॥ ५ ॥

अधर्म्मं वर्त्तमानस्य विष्णुहस्तान्मृतिर्भुवा ।
 दश यज्ञसहस्राणि सोऽर्जुनः कृतवानृपः ॥ ६ ॥
 अनष्टद्रव्यता राष्ट्रे तस्य संस्मरणादभूत् ।
 न नूनं कार्त्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति वै नृपाः ॥ ७ ॥
 यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च विक्रमेण श्रुतेन च ।
 कार्त्तवीर्यस्य च शतं पुत्राणां पञ्च वै पराः ॥ ८ ॥
 सूरसेनश्च सूरश्च धृष्टोक्तः कृष्ण एव च ।
 जयध्वजश्च नामासौदावन्थो नृपतिर्महान् ॥ ९ ॥
 जयध्वजात्तालजङ्गस्तालजङ्गात्ततः सुताः ।
 हैहयानां कुलाः पञ्च भोजाश्चावन्तयस्तथा ॥ १० ॥
 वीतिहोत्राः स्वयं जाताः श्रोण्डिकेयास्तथैव च ।
 वीतिहोत्रादनन्तोऽभूदनन्ताहुर्ज्यो नृपः ॥ ११ ॥
 क्रोष्टोर्व्यंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातो हरिः स्वयम् ।
 क्रोष्टोस्तु वृजिनीवांश्च स्वाहाऽभूद्वृजिनीवतः ॥ १२ ॥
 स्वाहापुत्रो रुषद्गुप्त(१) तस्य चित्ररथः सुतः ।
 शशविन्दुश्चित्ररथाञ्चक्रवर्त्ती हरौ रतः ॥ १३ ॥
 शशविन्दोश्च पुत्राणां शतानामभवच्छतम् ।
 धीमतां चारुरूपाणां भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ १४ ॥
 पृथुश्रवाः प्रधानोऽभूत्तस्य पुत्रः सुयज्ञकः ।
 सुयज्ञस्योशनाः पुत्रस्तितिशुरुशनःसुतः ॥ १५ ॥
 तितिहोस्तु मरुत्तोऽभूत्तस्मात्कम्बलवर्हिषः ।
 पञ्चाशद्रुक्मकवचाद्रुक्मपुः पृथुरुक्मकः ॥ १६ ॥

हविर्व्यामघः पापघ्नो ज्यामघः स्त्रीजितोऽभवत् ।
 सेव्यायां ज्यामघादासोद्दिर्भस्तस्य कौशिकः ॥ १७ ॥
 लोमपादः क्रथः श्रेष्ठात् कृतिः(१)स्याल्लोमपादतः ।
 कौशिकस्य चिदिः पुत्रस्तस्माच्चैव्या नृपाः स्मृताः ॥ १८ ॥
 क्रथाद्दिर्भपुत्राश्च कुन्तिः कुन्तेस्तु घृष्टकः ।
 घृष्टस्य निघृतिस्तस्य उदर्काखरो विदूरथः ॥ १९ ॥
 दशार्हपुत्रो व्योमस्तु व्योमाञ्जीमूत उच्यते ।
 जीमूतपुत्रो विकलस्तस्य भीमरथः सुतः ॥ २० ॥
 भीमरथान्नवरथस्ततो दृढरथोऽभवत् ।
 शकुन्तिश्च दृढरथात् शकुन्तेष करभकः ॥ २१ ॥
 करभः हेवलातोऽभूत्(२) देवक्षेत्रश्च तत्सुतः ।
 देवक्षेत्रान्मधुर्नाम मधोर्द्वरसोऽभवत् ॥ २२ ॥
 द्रवरसात् पुरुङ्गतोऽभूज्जन्तुरासीत् तत्सुतः ।
 गुणी तु धादवो राजा जन्तुपुत्रस्तु सात्वतः ॥ २३ ॥
 सात्त्वताङ्गजमानस्तु हृषिकरन्धक एव च ।
 देवाहृषश्च चत्वारस्तेषां वंशास्तु विश्रुताः(३) ॥ २४ ॥
 भजमानस्य वाञ्छोऽभूद्दृष्टिः क्षमिर्निमिस्तथा ।
 देवाहृषाहम्बुरासीत्तस्य श्लोकोऽत्र गीयते ॥ २५ ॥
 यथैव शृणुमो दूरात् गुणांस्तद्वत्समन्तिक्रात् ।
 वभ्रः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवाहृषः समः ॥ २६ ॥
 चत्वारश्च सुता वभ्रोर्वासुदेवपरा नृपाः ।

(१) धृतिरिति अ० ।

१ देवरातोऽभूदिति अ०, ग०, घ०, ज०, ङ०, उ० च ।

२ विश्व मा इति अ०, इ० च ।

कुङ्कुरो भजमानस्तु(१) शिनिः कम्बलवर्हिषः ॥ २७ ॥
 कुङ्कुरस्य(२) सुतो धृष्णुर्धृष्णोस्तु तनयो धृतिः ।
 धृतेः कपोतरोमाभूसस्य पुत्रस्तु तित्तिरिः ॥ २८ ॥
 तित्तिरेस्तु नरः पुत्रस्तस्य चन्दनदुन्दुभिः ।
 पुनर्वसुस्तस्य पुत्र आङ्किकायाङ्किकीसुतः ॥ २९ ॥
 आङ्किकादेवको जज्ञे उग्रसेनस्ततोऽभवत् ।
 देववानुपदेवश्च देवकस्य सुताः स्मृताः ॥ ३० ॥
 तेषां स्वसारः सप्तासन् वसुदेवाय ता ददौ ।
 देवकी श्रुतदेवी च मित्रदेवी यशोधरा ॥ ३१ ॥
 श्रीदेवी सत्यदेवी च सुरापौ चेति सप्तमी ।
 नवोग्रसेनस्य सुताः कंसस्तेषाञ्च पूर्वजः ॥ ३२ ॥
 न्यग्रोधश्च सुनामा च कङ्कः शङ्खश्च भूमिपः ।
 सुतनूराङ्गपालश्च युद्धमुष्टिः समुष्टिकः ॥ ३३ ॥
 भजमानस्य पुत्रोऽथ रथमुख्यो विदूरथः ।
 राजाधिदेवः शूरश्च विदूरथसुतोऽभवत् ॥ ३४ ॥
 राजाधिदेवपुत्रो ह्यौ शोणाश्वः श्वेतवाहनः ।
 शोणाश्वस्य सुताः पञ्च शमी शत्रुजिहादयः(३) ॥ ३५ ॥
 शमीपुत्रः प्रतिक्षेत्रः प्रतिक्षेत्रस्य भोजकः ।
 भोजस्य हृदिकः पुत्रो हृदिकस्य दशरथजाः ॥ ३६ ॥
 कृतवर्मा शतधन्वा देवार्ही भीषणादयः ।

१ कुङ्कुरो भजमानस्त्विति क० । सुन्दरी भजमानस्त्विति ज० ।

२ कुङ्कुरस्यति क० ।

३ शत्रुजिहादय इति च० ।

देवार्हात् कम्बलवर्हिरसमोजास्ततोऽभवत् ॥ ३७ ॥
 सुदंष्ट्रश्च सुवासश्च वृष्टोऽभूदसमोजसः ।
 गान्धारी चैव माद्री च वृष्टभार्य्यं बभूवतुः ॥ ३८ ॥
 सुमित्रोऽभूच्च गान्धार्यां माद्रीं जज्ञे युधाजितम्(१) ।
 अनमित्रः शिनिर्घृष्टास्ततो वै देवमीदृषः ॥ ३९ ॥
 अनमित्रसुतो निम्नो निम्नस्यापि प्रसेनकः ।
 सत्राजितः प्रसेनोऽथ मणिं सूर्यात्स्यमन्तकम् ॥ ४० ॥
 प्राप्यारख्ये चरन्तन्तु सिंहो हत्वाऽप्रहीमणिं ।
 हृतो जाम्बवता सिंहो जाम्बवान् हरिणा जितः ॥ ४१ ॥
 तस्मान्मणिं जाम्बवतीं प्राप्यागाहारकां पुरीम् ।
 सत्राजिताय प्रददौ शतधन्वा जघान तम् ॥ ४२ ॥
 हत्वा शतधनुं कृशो मणिमादाय कीर्त्तिभाक् ।
 बलयादवमुख्याये भद्रू रान्मणिमर्पयेत् ॥ ४३ ॥
 मिथ्याभिग्रस्तिं कृशस्य त्वङ्गा स्वर्गी च सम्पठन् ।
 सत्राजितो भद्रूकारः सत्यभामा हरिः प्रिया ॥ ४४ ॥
 अनमित्राच्छिनिर्जज्ञे सत्यकस्तु शिनेः सुतः ।
 सत्यकात्सत्यकिर्जज्ञे युयुधानाहुनिर्जभूत् ॥ ४५ ॥
 धुनेर्युगन्धरः पुत्रः स्वाङ्गोऽभूत्(२) स युधाजितः ।
 ऋषभक्षेत्रको तस्य ह्यृषभाच्च स्वफल्ककः ॥ ४६ ॥
 स्वफल्कपुत्रो ह्यक्रूरो अक्रूराच्च सुधन्वकः ।
 शूरास्त, वसुदेवाद्याः पृथा पाण्डोः प्रियाऽभवत् ॥ ४७ ॥

१ युधाजितमिति ख०, ख० च ।

२ स्वाङ्गोऽभूदिति ख०, ख० च । साङ्गेऽभूदिति ज० ।

धर्माद्युधिष्ठिरः पाण्डोर्वायोः कुन्त्यां वृकोदरः ।
 द्रुपदाङ्गनक्षत्रयो माद्र्यां नकुलः सहदेवकः ॥ ४८ ॥
 वसुदेवाच्च रोहिण्यां रामः सारथदुर्बमौ ।
 वसुदेवाच्च देवक्यामादौ जातः सुबेनकः ॥ ४९ ॥
 कीर्त्तिमान् भद्रसेनश्च जाह्नव्यो विष्णुदासकः ।
 भद्रदेहः कंश एतान् षड्गर्भान्विजघान ह ॥ ५० ॥
 ततो बलस्ततः क्षणः सुभद्रा भद्रभाषिणी ।
 चारुदेष्यश्च शम्बाद्याः कृष्णाञ्जाम्बवतीसुताः ॥ ५१ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे यदुवंशवर्णनं नाम चतुःसप्तत्यधिक-
 द्विंशततमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चसप्तत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

—0*0—

द्वादशसङ्ग्रामाः ।

अग्निरुवाच । कश्यपो वसुदेवोऽभूद्देवकी चादितिर्वरा ।
 देवक्यां वसुदेवात्तु कृष्णोऽभूत्तपसान्वितः ॥ १ ॥
 धर्मसंरक्षणार्थाय ह्यधर्महरणाय च ।
 सुरादेः पालनार्थञ्च दैत्यादेर्नयनाय च ॥ २ ॥
 रुक्मिणी सत्यभामा च सत्या नग्नजिती प्रिया ।
 सत्यभामा हरेः सेव्या गान्धारी कृष्णया तथा ॥ ३ ॥
 मित्रविन्दा(१) च कालिन्दी देवी जाम्बवती तथा ।
 सुग्रीवा च तथा माद्री कौशल्या विजया जया ॥ ४ ॥

१ मित्रविन्देति ७०, ४० च ।

एवमादीनि देवीनां सहस्राणि तु षोडश ।
 प्रद्युम्नाद्याश्च कृष्णस्यां भीमाद्याः सत्यभामया ॥ ५ ॥
 जाम्बवत्याश्च शम्बाद्याः कृष्णस्यासंस्तथापरे ।
 शतं शतसहस्राणां पुत्राणां तस्य धीमतः ॥ ६ ॥
 अशीतिश्च सहस्राणि यादवाः कृष्णरक्षिताः ।
 प्रद्युम्नस्य तु वैदर्भ्यामनिरुद्धो रणप्रियः ॥ ७ ॥
 अनिरुद्धस्य वज्राद्या यादवाः सुमहाबलाः ।
 तिस्रः कोट्यो यादवानां षष्टिर्लक्षाणि दानवाः ॥ ८ ॥
 मनुष्ये बाधका ये तु तन्नाशाय बभूव सः ।
 कर्तुं कर्मव्यवस्थानं मनुष्यो जायते हरिः ॥ ९ ॥
 देवासुराणां सङ्ग्रामा दायार्थं द्वादशाभवन् ।
 प्रथमो नारसिंहस्तु द्वितीयो वामनो रणः ॥ १० ॥
 सङ्ग्रामस्त्वथ वाराहश्चतुर्थोऽनृतमन्यनः ।
 तारकामयसङ्ग्रामः षष्ठो ह्याजीवको रणः ॥ ११ ॥
 त्रैपुरस्वाम्यकबधो नवमो ह्यत्रघातकः ।
 जितो हालाहलश्चाथ घोरः कोलाहलो रणः ॥ १२ ॥
 हिरण्यकशिपोश्चोरो विदार्य च नखैः पुरा ।
 नारसिंहो देवपालः प्रह्लादं कृतवान् नृपम् ॥ १३ ॥
 देवासुरे वामनश्च कृत्वा बलिमूर्जितम् ।
 महेन्द्राय ददौ राज्यं काश्यपोऽदितिसम्भवः ॥ १४ ॥
 वराहस्तु हिरण्याक्षं हत्वा देवानपालयत् ।
 उज्जहार भुव्रं मग्नां देवदेवैरभिष्टुतः ॥ १५ ॥
 मन्यानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ।

सुरासुरैश्च मथितं(१) देवेभ्यश्चामृतं ददौ ॥ १६ ॥
 तारकामयसङ्ग्रामे तदा देवाश्च पालिताः ।
 निवार्येन्द्रं गुरुन् देवान् दानवान्सोमवंशकृत् ॥ १७ ॥
 विष्णामित्रवशिष्ठाभिकवयश्च रणे सुरान् ।
 अपालयन्ते निर्वार्य रागहेषादिदानवान् ॥ १८ ॥
 पृथ्वीरथे ब्रह्मयन्तुरीशस्य शरणो हरिः ।
 ददाह त्रिपुरं देवपालको दैत्यमर्दनः ॥ १९ ॥
 गोरीं जिहीर्षुणा रुद्रमन्थकेनादितं हरिः ।
 अनुरक्तश्च रेवत्यां चक्रे चान्ध्यासुरार्दनम् ॥ २० ॥
 अपां फेनमयो भूत्वा देवासुररणे हरन्(२) ।
 वृत्रं देवहरं विष्णुर्देवधर्मानपालयत् ॥ २१ ॥
 शाखादीन् दानवान् जित्वा हरिः परशुरामकः ।
 अपालयत् सुरादींश्च दुष्टवृत्रं निहत्य च ॥ २२ ॥
 हालाहलं विषं दैत्यं निराकृत्य महेश्वरात् ।
 भयं निर्णशयामास देवानां मधुसूदनः ॥ २३ ॥
 देवासुरे रणे यश्च दैत्यः कीलाहलो जितः ।
 पालिताश्च सुराः सर्वे विष्णुना धर्मपालनात् ॥ २४ ॥
 राजानो राजपुत्राश्च मुनयो देवता हरिः ।
 यदुक्तं यश्च नैवीक्तमवतारा हरेरिमे ॥ २५ ॥

इत्याम्नेये महापुराणे द्वादशसङ्ग्रामा नाम पञ्चसप्तत्यधिक-

द्विंशततमोऽध्यायः ।

१ सुरासुरैरमन्वाभिमिति क०, ख० च० ।

२ देवासुरपरोऽभवदिति क०, घ०, ङ०, ट० च० ।

अथ षट्सप्तत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

—000—

राजवंशवर्णनं ।

अग्निहवाच । तूर्वसोश्च सुतो वर्गो गोभासुस्तस्य चात्मजः(१) ।
गोभानोरासीत्(२) चैग्रानिस्त्रैशानेस्तु करन्धमः ॥ १ ॥
करन्धमान्मरुतोभूऽदुषन्तस्तस्य चात्मजः ।
दुषन्तस्य वरुणोऽ भूहाण्डीरस्तु वरुणतः ॥ २ ॥
गाण्डीरास्त्रैव गान्धारः पञ्च जानपदास्ततः ।
गान्धाराः केरलाखोलाः पाण्ड्याःकोला(३)महाबलाः ॥ ३ ॥
दुह्यस्तु वभ्रुसेतुश्च वभ्रुसेतोः पुरोवसुः ।
ततो गान्धारा गान्धारैर्घर्ष्णी घर्ष्णाद् दृतोऽभवत् ॥ ४ ॥
दृतास्तु विदुषस्तस्मात् प्रचेतास्तस्य वै शतम् ।
आनद्रश्च सभानरश्चाक्षुषः परमेषुकः ॥ ५ ॥
सभानरात् कालानलः कालानलजसृष्टयः ।
पुरश्चयः सृष्टयस्य तत्पुत्रो जनमेजयः ॥ ६ ॥
तत्पुत्रस्तु महाशालस्तत्पुत्रोऽभूत्सहामनाः ।
तस्मादुशीनरो ब्रह्मन्मृगायान्तु नृगस्ततः ॥ ७ ॥
नरायान्तु नरशासीत् कृमिस्तु कृमितः सुतः ।

१ गोभासुस्तस्य चात्मज इति ख० ।

२ गोभानोरासीदिति ख० ।

३ कर्णा इति ज०, ट० च० ।

दशार्थां सुव्रतो जज्ञे दृशहत्यां शिविस्तथा ॥ ८ ॥
 शिवेः पुत्रास्तु चत्वारः पृथुदर्भश्च वीरकः ।
 कैकेयो भद्रकस्तेषां नाम्ना जनपदाः शुभाः ॥ ९ ॥
 तितिक्षुवशीनरजस्तितिक्षोश्च रुषद्रथः ।
 रुषद्रथादभूत्पैलः पैलाश्च सुतपाः सुतः ॥ १० ॥
 महायोगी बलिस्तस्मादङ्गा वङ्गश्च मुख्यकः ।
 पुण्ड्रः कलिङ्गो बालियो बलिर्योगी बलान्वितः ॥ ११ ॥
 अङ्गाहृदिवाहनोऽभूत्(१) तस्माद्दिविरथो नृपः ।
 दिविरथाहर्षीरथस्तस्य चित्ररथः सुतः ॥ १२ ॥
 चित्ररथात्मत्यरथो लोमपादश्च तत्सुतः ।
 लोमपादाश्चतुरङ्गः पृथुलाश्चश्च तत्सुतः ॥ १३ ॥
 पृथुलाश्चाश्च चम्पोऽभूश्चम्पाहर्ष्यङ्गकोऽभवत् ।
 हर्ष्यङ्गाश्च भद्ररथो हृहृत्कर्माश्च तत्सुतः ॥ १४ ॥
 तस्मादभूद्दृहङ्गानुर्दृहङ्गानोर्दृहात्मवान् ।
 तस्माज्जयद्रथो ह्यासीज्जयद्रथाहृहृद्रथः ॥ १५ ॥
 हृहृद्रथाहृश्वजिश्च कर्णो विश्वजितोऽभवत् ।
 कर्णस्य हृषसेनस्तु पृथुसेनस्तदात्मजः ।
 एतेऽङ्गवंशजा भूपाः पुरोर्वंशं निबोध मे ॥ १६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे राजवंशवर्णनं नाम षट्सप्तत्यधिक-
 द्विंशततमोऽध्यायः ।

१ दशिवामनोभूदिति ख०, ब०, ज० च० ।

अथ सप्तमप्रत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—000—

पुरुवंशवर्णनं ।

अग्निरुवाच । पुरोर्जनमेजयोऽभूत्प्राचीन्नस्तु तत्सुतः ।
प्राचीन्नन्ताम्नस्यस्तु तस्माद्हीतमयो नृपः ॥ १ ॥
शुभ्रुर्वीतमयाञ्चा ऽभूच्छ्वोर्बहुविधः(१) सुतः ।
बहुविधाश्च संयातिरहोवादी च तत्सुतः ॥ २ ॥
तस्य पुत्रोऽथ भद्राश्वी भद्राश्वस्य दशाम्भजाः ।
ऋचेयुश्च कृषेयुश्च सन्नतेयुस्तथाम्भजः ॥ ३ ॥
घृतेयुश्च चितेयुश्च स्थण्डिलेयुश्च सप्तमः ।
धर्म्युः सन्नतेयुश्च कृचेयुर्मतिनारकः ॥ ४ ॥
तंसुरीशः प्रतिरथः पुरस्तो मतिनारजाः ।
आसीत्प्रतिरथात्कणुः कणुन्मि धातिथिस्वभूत् ॥ ५ ॥
तंसुरीशाश्च चत्वारो दुष्मन्तोऽथ प्रवीरकः ।
सुमन्तश्चानयो वीरो दुष्मन्ताङ्गरतोऽभवत् ॥ ६ ॥
शक्रुन्तलायान्तु बली यस्य नाम्ना तु भारताः ।
सुतेषु मातृकोपेन नष्टेषु भरतस्य च । ७ ॥
ततो मरुद्भिरानीय पुत्रः स तु वृहस्पतेः ।
संक्रामितो भरद्वाजः क्रतुभिर्वितथोऽभवत् ॥ ८ ॥
स चापि वितथः पुत्रान् जनयामास पञ्च वै ।

१ शुभ्रुर्वीतमयाञ्चामूच्छ्वोर्बहुविध इति ख०, ज० च० ।

सुहोत्रश्च सुहोतारङ्गयज्ञर्भन्तथैव च ॥ ८ ॥
 कपिलश्च महात्मानं सुकेतुश्च सुतद्वयम् ।
 कौशिकश्च गृत्सपतिं तथा गृत्सपतेः सुताः ॥ १० ॥
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः काशे दीर्घतमाः(१) सुताः ।
 ततो धन्वन्तरिद्यासीत्सुतोऽभूश्च केतुमान् ॥ ११ ॥
 केतुमतो हेमरथो दिवोदास इतिश्रुतः ।
 प्रतर्दंनो दिवोदासाङ्गवल्को प्रतर्दनात् ॥ १२ ॥
 वत्सादनर्क आसीच्च अनर्कात् क्षेमकोऽभवत् ।
 क्षेमकाद्वर्षकेतुश्च वर्षकेतोऽर्विभुः स्मृतः(२) ॥ १३ ॥
 विभोरानर्त्तः पुत्रोऽभूद्विभोश्च सुकुमारकः ।
 सुकुमारात्सत्यकेतुर्वत्सभूमिस्तु वत्सकात् ॥ १४ ॥
 सुहोत्रस्य बृहत्पुत्रो बृहत्स्तनयास्त्रयः ।
 अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च वीर्थवान् ॥ १५ ॥
 अजमीढस्य केशिन्यां जज्ञे जङ्गुः प्रतापवान्(३) ।
 जङ्गोरभूदजकाश्वो बलाकाश्चस्तदात्मजः ॥ १६ ॥
 बलाकाश्वस्य कुशिकः कुशिकात् गाधिरिन्द्रकः ।
 गाधेः सत्यवती कन्या विश्वामित्रः सूतोत्तमः ॥ १७ ॥
 देवरातः कतिमुखा विश्वामित्रस्य ते सुताः ।
 शुनःशेफोऽष्टकशान्यो ह्यजमीढात् सुतोऽभवत् ॥ १८ ॥
 नीलिन्यां शान्तिरपरः पुरुजातिः सुशान्तितः ।

१ काशदीर्घतमा इति ज० ।

२ सुत इति ख०, ख०, ज० च ।

३ प्रभाववानिति ख० ।

पुरुजातेस्तु वाह्याश्वो वाह्याश्वत् पञ्च पार्थिवाः ॥ १९ ॥
 मुकुलः सञ्जयश्चैव राजा वृहदिषुस्तथा ।
 यवीनरश्च(१) कृमिलः पाञ्चाला इति विश्रुताः ॥ २० ॥
 मुकुलस्य तु मौकुल्याः चेतोपिता द्विजातयः ।
 चञ्चाश्वी मुकुलाज्जने चञ्चाश्वान्मिथुं ह्यभूत् ॥ २१ ॥
 दिवोदासी ह्यहल्या च अहल्यायां शरदतात् ।
 शतानन्दः शतानन्दात् सत्यधृन्मिथुनस्ततः ॥ २२ ॥
 कृपः कृपी दिवोदासान्मैत्रेयः सीमपस्ततः ।
 सञ्जयात् पञ्चधनुषः सीमदत्तश्च तत्सुतः ॥ २३ ॥
 सहदेवः सीमदत्तात् सहदेवात्तु सीमकः ।
 आसीञ्च सीमकाज्जन्तुर्ज्जन्तीश्च पृषतः सुतः ॥ २४ ॥
 पृषताद्द्रुपदस्तस्माद्द्रुपद्युक्तीऽथ तत्सुतः ।
 धृष्टकेतुश्च धूमिन्याश्चोऽभूदजमीढतः ॥ २५ ॥
 ऋक्षात्मस्वरणो जज्ञे कुरुः सम्बरणात्ततः ।
 यः प्रयागादपाक्रम्य कुरुक्षेत्रेणश्चकार ह ॥ २६ ॥
 कुरोः सुधन्वा सुधनुःपरिचिञ्चारिमेजयः ।
 सुधन्वनः सुहोत्रोऽभूत् सुहोत्राश्चरवनी ह्यभूत् ॥ २७ ॥
 वशिष्ठपरिचाराभ्यां सप्तासन् गिरिकासुताः ।
 वृहद्रथः कुशो वीरो यदुः प्रत्यग्रहो बलः ॥ २८ ॥
 मत्स्यकाली कुशाग्रोऽती ह्यासीद्रात्री वृहद्रथात् ।
 कुशाग्राहृषभो जज्ञे तस्य सत्यहितः सुतः ॥ २९ ॥
 सुधन्वा तत्सुतश्चीर्ज्जं जर्जादासीञ्च सम्भवः ।

१ यवीनवश्चेति ४०, ४०, ज० च ।

सश्रवाश्च जरासन्धः सहदेवश्च तत्सुतः ॥ ३० ॥
 सहदेवाद्दुदापिश्च उदापेः श्रुतकर्मकः ।
 परिचितस्य दायानो धार्मिको जनमेजयः ॥ ३१ ॥
 जनमेजयान्नसदस्युर्जङ्घीस्तु सुरथः सुतः ।
 श्रुतसेनोऽसेनौ च भीमसेनश्च नामतः ॥ ३२ ॥
 जनमेजयस्य पुत्रौ तु सुरथो महिमांस्तथा ।
 सुरथाद्विदूरघ्नोऽभूद्दृक्ष आसीद्विदूरघ्नात् ॥ ३३ ॥
 ऋक्षस्य तु द्वितीयस्य भीमसेनोऽभवत् सुतः ।
 प्रतीपो भीमसेनात्तु प्रतीपस्य तु शान्तनुः ॥ ३४ ॥
 देवापिर्वाङ्घ्रिकश्चैव सोमदत्तस्तु शान्तनोः ।
 वाङ्घ्रिकात्सोमदत्तोऽभूद्भूरिभूरिस्त्रिभूःशलः ॥ ३५ ॥
 गङ्गायां शान्तनोर्भीष्मः कात्यायां विचित्रवीर्यकः ।
 कृष्णहैपायनश्चैव चेन्ने वैचित्रवीर्यके ॥ ३६ ॥
 घृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्चाप्यजीजनत् ।
 पाण्डोर्युधिष्ठिरः कुन्त्यां भीमश्चैवार्जुनस्त्रयः ॥ ३७ ॥
 नकुलः सहदेवश्च पाण्डोर्माद्याश्च देवतः ।
 अर्जुनस्य च सौभद्रः परिशिदभिमन्युतः ॥ ३८ ॥
 द्रौपदी पाण्डवानाश्च प्रिया तस्यां युधिष्ठिरात् ।
 प्रतिविन्ध्यो भीमसेनाच्छ्रुतकीर्त्तिर्द्विमन्त्रयात्(१) ॥ ३९ ॥
 सहदेवाच्छ्रुतकर्मा शतानीकस्तु नाकुलिः ।
 भीमसेनाद्विद्विम्बायामन्य आसीद् घटोत्कचः ॥ ४० ॥
 एते भूता भविष्याश्च नृपाः संख्या न विद्यते ।

१ अत्र पाठः पतिनः धनञ्जयात् क उत्पन्न इति विशेषाप्रार्थः ।

गताः कालेन काली हि हरिस्तं पूजयेद्दिज ।
होममग्नौसमुद्दिश्य कुरु सर्वप्रदं यतः ॥ ४१ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे पुरुवंशवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथाष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

सिद्धीषधानि ।

अग्निरुवाच । आयुर्वेदं प्रवक्ष्यामि सुश्रुताय यमब्रवीत् ।

देवो धन्वन्तरिः सारं मृतसञ्जीवनीकरं ॥ १ ॥

सुश्रुत उवाच । आयुर्वेदं मम ब्रूहि नराश्वेभरुगर्दनम् ।

सिद्धयोगान्सिद्धमन्त्रान्मृतसञ्जीवनीकरान् ॥ २ ॥

धन्वन्तरिरुवाच । रक्षन् बलं हि ज्वरितं लङ्घितं भोजयेद्विषक् ।

सविश्वं लाजमण्डन्तु तड्ज्वरान्तं मृतं जलम् ॥ ३ ॥

मुस्तपर्पटकोशौरचन्दनोदीच्यनागरैः ।

षड्हे च व्यतिक्रान्ते तित्ककं पाययेद्भ्रुवम् ॥ ४ ॥

स्नेहयेत्तत्तदीषन्तु(१) ततस्तच्च विरेचयेत् ।

जीर्णाः षष्टिकनीवाररक्तशालिप्रमोदकाः ॥ ५ ॥

तद्विधास्ते ज्वरेष्विष्टा यवानां विकृतिस्तथा ।

मुद्गा मसूराश्च णकाः कुलत्थाश्च सकुष्ठकाः ॥ ६ ॥

पङ्करोषन्ति अ० ।

आटक्यो नारकाद्याश्च कर्कोटककटीखकम् ।
 पटोलं सफलं निम्बं पर्यटं दाडिमं ज्वरे ॥ ७ ॥
 अधोगे वमनं शस्तमूर्धगे च विरेचनम् ।
 रक्तपित्ते तथा पानं षडङ्गं शुण्ठिवर्जितम् ॥ ८ ॥
 शक्तुगोधूमलाजाय यवशालिमसूरकाः ।
 सकुष्ठचणका मुद्गा भक्ष्या गोधूमका हिताः ॥ ९ ॥
 साधिता घृतदुग्धाभ्यां क्षौद्रं वृषरसो मधु ।
 अतीसारे पुराणानां शालीनां भक्ष्यं हितं ॥ १० ॥
 अनभिष्यन्दि यच्चान्नं लोभ्रवल्कलसंयुतम् ।
 मारुतं वर्जयेद् यन्नः कार्थ्यो गुल्मेषु सर्वथा ॥ ११ ॥
 वाटं क्षीरेण चाश्रीयाद्वास्तूकं घृतसाधितं ।
 गोधूमशालयस्तिक्ता हिता जठरिणामथ ॥ १२ ॥
 गोधूमशालयो मुद्गा ब्रह्मर्क्षखदिरोऽभया ।
 पञ्चकोलञ्जाङ्गलाश्च निम्बवात्राः पटोलकाः ॥ १३ ॥
 मातुलङ्गरसाजातिशुष्कमूलकसैन्धवाः ।
 कुष्ठिनाश्च तथा शस्तं पानार्थं खदिरोदकं ॥ १४ ॥
 मसूरमुद्गी पेरार्थं भीक्ष्या जीर्णैश्च शालयः ।
 निम्बपर्यटकैः शाकैर्जाङ्गलानां तथा रसः ॥ १५ ॥
 विडङ्गं मरिचं मुस्तं कुष्ठं लोभ्रं सुवर्षिका ।
 मनःशिला च वालीयः कुष्ठहा मूत्रपेषितः ॥ १६ ॥
 अपूपकुष्ठकुस्माषयवाद्या मेहिनां हिताः ।
 यवान्नविकृतिमुद्गा कुलत्था जीर्णशालयः ॥ १७ ॥
 तिक्तवृक्षाणि शाकानि तिक्तानि हरितानि च

तैलानि तिलशिशुकविभीतकेङ्गुदानि च ॥ १८ ॥
 मुद्गाः सयवगोधूमा धान्यं वर्षस्थितश्च यत् ।
 जाङ्गलस्य रसः शस्तो भोजने राजयक्षिणा ॥ १९ ॥
 कौलत्थमौद्भको रास्त्राशुष्कमूलकजाङ्गलैः ।
 पूषैर्वा विस्करैः सिद्धैर्दधिदाडिमसाधितैः ॥ २० ॥
 मातुलङ्गरसक्षौद्रद्राक्षाव्योषादिसंस्कृतैः ।
 यवगोधूमशाल्यनैर्भोजयेच्छासकासिनं ॥ २१ ॥
 दशमूलवलाराम्नाकुलत्थैरुपसाधिताः ।
 पेयाः पूपरसाः क्वाथाः श्वासहिकानिवारणाः ॥ २२ ॥
 शुष्कमूलककौलत्थमूलजाङ्गलजैरसैः ।
 यवगोधूमशाल्यन्नं जीर्णं सोशीरमाचरेत् ॥ २३ ॥
 सोथवान् सगुडां पथ्यां खादेद्वा गुडनागरम् ।
 तक्रश्च चित्रकाञ्चीभौ ग्रहणीरोमनाशनौ ॥ २४ ॥
 पुराणयवगोधूमशालयो जाङ्गलो रसः ।
 मुद्गामलकखर्जूरमृहीकावदराणि च ॥ २५ ॥
 मधु सर्पिः पयः शक्रं निम्बपर्पटकौ वृषम् ।
 तक्रारिष्टाश्च(१) शस्यन्ते सततं वातरीगिणाम् ॥ २६ ॥
 हृद्रोगिणो विरेच्यास्तु पिप्पल्यो हिकिनां हिताः ।
 तक्रावलालसिन्धूनि मुक्तानि शिशिराम्भसा ॥ २७ ॥
 मुक्ताः सौवर्चलाजादि मद्यं शस्तं मदात्यये(२) ।
 सक्षौद्रपयसा लाक्षां पिवेच्च क्षतवाधरः ॥ २८ ॥

१ भद्राविष्टासिति ख० ।

२ सदासये इति ख० । दमात्यये इति ड० ।

अथ मांसरसाहारो वज्रिसंरक्षणाययेत् ।
 शालयो भोजने रक्ता नीवारकलमादयः ॥ २९ ॥
 यवान्नविकृतिर्मांसं शाकं सौवर्चलं शटी ।
 पथ्या तथैवार्शसां यन्मण्डं तक्रञ्च वारिणा(१) ॥ ३० ॥
 मुस्ताभ्यासस्तथा लेपश्चित्केण हरिद्रया ।
 यवान्नविकृतिः शालिर्वास्तूकं ससुवर्चलम् ॥ ३१ ॥
 त्र्युषत्रारुगोधूमाः क्षीरे क्षुष्टतसंयुताः ।
 मूत्रकण्ठे च शस्ताः स्युः पाने मण्डसुरादयः ॥ ३२ ॥
 लाजाः शक्तुस्तथा क्षौद्रं शून्यं मांसं परुषकम् ।
 वार्त्ताकुलावशिखिनश्छर्दिष्णाः पानकानि च ॥ ३३ ॥
 शाल्वन्नन्तीयपयसी केवलीष्णे शृतेऽपि वा ।
 टण्णाप्ते मुस्तगुडयोगुटिका वा मुखे धृता ॥ ३४ ॥
 यवान्नविकृतिः पूषं(२) शुष्कमूलकजन्तथा ।
 शाकं पटोलवेत्ताद्यमुरुस्तम्भविनाशनम् ॥ ३५ ॥
 मुद्गादकमसुराणां सतिलैर्जाङ्गलैरसैः ।
 ससैन्ववष्ट तद्राक्षाशुण्डगामलककोलजैः ॥ ३६ ॥
 यूपैः पुराणगोधूमयवशाल्यन्नमभ्यसेत् ।
 विसर्पीं ससिताक्षौद्रशुद्धीकादाङ्गिमोदकम् ॥ ३७ ॥
 रक्तयष्टिकगोधूमयवमुद्गादिकं लघु ।
 काकमारौ च वेत्ताद्यं वास्तुकञ्च सुवर्चला ॥ ३८ ॥
 वातशोणितनाशाय तीर्थं शस्तं सितं मधु ।

१ पथ्या तथैव काशस्य मण्डं तक्रञ्च वादणमिति ख०, ज० च ।

२ यूपमिति ख०, ज० च ।

नाशारोगेषु च हितं घृतं दुर्वाप्रसाधितम् ॥ ३९ ॥
 भृङ्गराजरसे सिद्धं तैलं धात्रीरसेऽपि वा ।
 मशयं सर्वाभयेष्विष्टं मूर्ध्निजन्तून्निषेधे च ॥ ४० ॥
 शीततीयान्नपानञ्च तिलानां विप्र भक्षयम् ।
 द्विजदार्षाकरं प्रोक्तं तथा तुष्टिकरम्परम् ॥ ४१ ॥
 गण्डूषं तिलतैलेन द्विजदार्षाकरं परं ।
 विष्टङ्गचूर्णं गोमूत्रं सर्वत्र कृमिनाशने ॥ ४२ ॥
 धात्रीफलान्यथाज्यञ्च शिरोलेपनमुत्तमम् ।
 शिरोरोगविनाशाय स्निग्धफुष्पाञ्च भोजनम् ॥ ४३ ॥
 तैलं वा वस्त्रमूत्रञ्च कर्णपूरणमुत्तमम् ।
 कर्णशूलविनाशाय सर्वशुक्तानि(१) वा द्विज ॥ ४४ ॥
 गिरिमृच्चन्दनं लाक्षा मालती कलिका तथा ।
 संयोज्या या कृता वर्त्तिः क्षतशुक्रहरी तु सा ॥ ४५ ॥
 व्योषं त्रिफलया युक्तं तुच्छकञ्च तथा जलम् ।
 सर्वाक्षिरोगशमनं तथा चैव रसाञ्जनं ॥ ४६ ॥
 पाण्ड्यभृष्टं शिलापिष्टं लोभ्रकाञ्चिकसैन्धवैः ।
 आश्वगोतनाविनाशाय सर्वनेत्रामये हितम् ॥ ४७ ॥
 गिरिमृच्चन्दनेर्लेपो वह्निर्नेत्रस्य शस्यते ।
 नेत्रामयविघातार्थं त्रिफलां शीलयेत् सदा ॥ ४८ ॥
 रात्रौ तु मधुसर्पिभ्यां दीर्घमायुर्ज्जिजीविषुः ।
 शतावरौरसे सिद्धौ वृथो क्षीरघृतौ स्मृतौ ॥ ४९ ॥
 कलम्बिकानि माषाञ्च वृथो क्षीरघृतौ तथा ।

१ सर्वशुक्तानीति ७० ।

आयुष्वा त्रिफला ज्ञेया पूर्ववन्मधुकान्विता ॥ ५० ॥
 मधुकादिरसोपेता बलीपलितनाशिनौ ।
 वचासिद्धष्टतं विप्र भूतदोषविनाशनम् ॥ ५१ ॥
 कथ्यं बुद्धिप्रदञ्चैव(१) तथा सर्वार्थसाधनम् ।
 बलाकल्ककषायेण सिद्धमभ्यञ्जने हितम् ॥ ५२ ॥
 राज्ञासहस्ररैर्वापि तैलं वातविकारिणाम् ।
 अमभिथन्दि यच्चान्नं तद्गन्धेषु प्रशस्यते ॥ ५३ ॥
 शक्तुपिण्डी तथैवास्त्रा पाचनाय प्रशस्यते ।
 पक्वस्य च तथा भेदे निम्बचूर्णञ्च रोपणे ॥ ५४ ॥
 तथा शूच्युपचारस(२) बलिकर्म विशेषतः ।
 स्रुतिका च तथा रक्षा प्राणिनाम्सु सदा हिता ॥ ५५ ॥
 भक्षणं निम्बपत्राणां सर्पदृष्टस्य भेषजम् ।
 तालनिम्बदलङ्केशं जीर्णन्तैलं यवाद्युतम् ॥ ५६ ॥
 धूपो हृषिकदृष्टस्य शिखिपत्रद्युतेन वा ।
 अर्कञ्जीरेण संपिष्टं लोपा वीजं पलाशजं ॥ ५७ ॥
 हृषिकार्कस्य कृष्णा वा शिवा च फलसंयुता(३) ।
 अर्कञ्जीरं तिलं तैलं पल्लवञ्च गुडं समम् ॥ ५८ ॥
 पानाज्जयति दुर्वारं श्वविषं शीघ्रमेव तु ।
 पीत्वा मूलं त्रिठसुख्यं तण्डुलीयस्य सर्पिषा ॥ ५९ ॥
 सर्पकौटविषास्त्राश्च जयत्यतिबलान्यपि ।
 चन्दनं पद्मकङ्कुष्ठं लताम्बूशीरपाटलाः ॥ ६० ॥

१ कथ्यं' दृष्टिप्रदञ्चैवेति ख० ।

२ कस्यसंयुतेति ख० ।

३ प्रत्युपचारश्चेति ख० ।

निर्गुण्डी शारिका सेलुर्लूताविषहरो गदः ।
 शिरोविरेचनं शस्तं गुडनागरकं द्विज ॥ ६१ ॥
 स्नेहधाने तथा वस्ती तैलं घृतमनुत्तमम् ।
 खेदनीयः परो वक्त्रिः शीताश्वः स्तम्भनं परम् ॥ ६२ ॥
 चिह्नं रेचने श्रेष्ठा वमने मदनं तथा ।
 वस्तिर्विरेकी वमनं तैलं सर्पिस्तथा सधु ।
 वातपित्तबलाशानां क्रमेण परमौषधं ॥ ६३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे सिद्धौषधानि नामाष्टसप्तत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथैकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—०००—

सर्वरोगहराण्यौषधानि ।

धन्वन्तरिइवाच । शारीरमानसागन्तुसहजा व्याधयो मताः ।

शारीरा ज्वरकुष्ठाद्या क्रोधाद्या मानसा मताः ॥ १ ॥

आगन्तवो विघातोत्था सहजाः क्षुब्धरादयः ।

शारीरागन्तुनाशाय सूर्यवारि घृतं गुडम् ॥ २ ॥

लवणं सहिरस्यञ्च विप्रायापूपमर्षयेत् ।

चन्द्रे चाभ्यङ्गदो विप्रे सर्वरोगैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

तैलं शनैश्चरे दद्यादाश्विने गोरसान्नदः ।

घृतेन पयसा लिङ्गं संस्नाप्य स्याद्गुग्भिक्तः ॥ ४ ॥

गायत्र्या हावयेदङ्गी दूर्वाग्निमधुरामुताम् ।
 यस्मिन् भे व्याधिमाप्नोति तस्मिन् ज्ञानं वक्तिः शुभे ॥ ५ ॥
 मानसानां रुजादीनां त्रिण्योः स्तोत्रं हरं भवेत् ।
 वातपित्तकफा दोषा धातवश्च तथा ऋण ॥ ६ ॥
 भुक्तं पक्वाशयादन्नं द्विधा याति च सुयुत ।
 अंशेनैकेन किट्त्वं रसताद्यापरेण च ॥ ७ ॥
 किट्टभागे मलस्तत्र विन्मूत्रस्वेददूषिकाः ।
 नासामलङ्करणमलं तथा देहमलञ्च यत् ॥ ८ ॥
 रसभागाद्द्रवस्तत्र समाच्छीनिततां व्रजेत् ।
 मांसं रक्तात्ततो मेदो मेदसीऽस्य च सम्भवः ॥ ९ ॥
 अस्थो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्भागस्तथोजसः ।
 देशमार्त्तिं बलं शक्तिं कालं प्रकृतिमेव च ॥ १० ॥
 ज्ञात्वा चिकित्सितं कुर्याद्भेषजस्य तथा बलम् ।
 तिथिं रिक्तान्यजेद् भौमं मन्दभन्दारण्योयकम् ॥ ११ ॥
 हरिगोद्विजचन्द्रार्कसुरादीन् प्रतिपूज्य च ।
 ऋण मन्त्रमिमं विद्वन् भेषजारम्भमाचरेत् ॥ १२ ॥
 ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्काऽनिलानलाः ।
 ऋषयश्चौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते ॥ १३ ॥
 रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा ।
 सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ १४ ॥
 वातश्लेष्मातको देशो बहुवृक्षो बहुदकः ।
 अनूपप्रतिबिख्यातो जाङ्गलस्तद्विर्वर्जितः ॥ १५ ॥
 किञ्चिद्बहुवृक्षो देशस्तथा साधारणः स्मृतः ।

जाङ्गलः पित्तबहुलो मध्यः साधारणः स्मृतः ॥ १६ ॥
 रुक्मः शीतश्लो वायुः पित्तमुष्णं कटुत्रयम् ।
 स्थिरान्मस्त्रिग्धमधुरं बलाशश्च प्रचक्षते ॥ १७ ॥
 दृष्टिः समानैरेतेषां विपरीतैर्विपर्ययः ।
 रसाः स्वाहृन्नलवणाः श्लेष्मला वायुनाशनाः ॥ १८ ॥
 कटुतिक्तकषायाश्च वातलाः श्लेष्मनाशनाः ।
 कटुश्ललवणा श्रेयास्तथा पित्तविवर्धनाः ॥ १९ ॥
 तिक्तस्वादुकषायाश्च तथा पित्तविनाशनाः ।
 रसस्यैतद्गुणं नास्ति विपाकस्यैतद्विद्यते ॥ २० ॥
 वीर्योष्णाः कफवातघ्नाः शीताः पित्तविनाशनाः ।
 प्रभावतस्तथा कर्म ते कुर्वन्ति च सुश्रुत ॥ २१ ॥
 शिशिरे च वसन्ते च निदाघे च तथा क्रमात् ।
 चयप्रकोपप्रशमाः कफस्य तु प्रकीर्तिताः ॥ २२ ॥
 निदाघवर्षारात्रौ च तथा शरदि सुश्रुत ।
 चयप्रकोपप्रशमाः पवनस्य प्रकीर्तिताः ॥ २३ ॥
 मेघकाले च शरदि हेमन्ते च यथाक्रमात् ।
 चयप्रकोपप्रशमास्तथा पित्तस्य कीर्तिताः ॥ २४ ॥
 वर्षादीयो विसर्गास्तु हेमन्ताद्यास्तथा त्रयः ।
 शिशिराद्यास्तथादानं ग्रीष्मान्ता ऋतवस्त्रयः ॥ २५ ॥
 सौम्यो विसर्गस्त्वादानमाग्नेयं परिकीर्तितम् ।
 वर्षादींस्त्रीऋतून् सोमश्चरन् पर्यायशो रसान् ॥ २६ ॥
 जनयत्यश्ललवणमधुरांस्त्रीन् यथाक्रमम् ।
 शिशिरादीऋतून् कश्चरन् पर्यायशो रसान् ॥ २७ ॥

विवर्धयेत्तथा तिक्तकषायकटुकान् क्रमात् ।
 यथा रजस्यो वर्धन्ते बलमेकं हि वर्धते ॥ २८ ॥
 क्रमशोऽथ मनुष्याणां ह्यीयमानासु ह्यीयते ।
 रात्रिभुक्तदिनानाञ्च वयसश्च तथैव च ॥ २९ ॥
 आदिमध्यावसानेषु कफपित्तसमीरणाः ।
 प्रकोपं यान्ति कोपादौ काले तेषाञ्चयः स्मृतः ॥ ३० ॥
 प्रकोपोत्तरके काले शमस्तेषां प्रकीर्तितः ।
 अतिभोजनतो विप्र तथा चाभोजनेन च ॥ ३१ ॥
 रोगा हि सर्वे जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ।
 अग्नेन कुक्षेर्द्वावंशविकं पानेन पूरयेत् ॥ ३२ ॥
 आश्रयं पवनादीनां तथैकमवशेषयेत् ।
 व्याधेर्निदानस्य तथा विपरीतमथौषधम् ॥ ३३ ॥
 कर्त्तव्यमेतदेवात्र भया सारं प्रकीर्तितम् ।
 नाभेरुर्ध्वमधश्चैव गुदश्रीण्योस्तथैव च ॥ ३४ ॥
 बलाशपित्तवातानां देहे स्थानं प्रकीर्तितं ।
 तथापि सर्वगाश्चैते देहे वायुर्विशेषतः ॥ ३५ ॥
 देहस्य मध्ये हृदयं स्थानं तन्मनसः स्मृतम् ।
 क्लशोऽल्पकेशश्चपलो बहुवाग्विषमानलः ॥ ३६ ॥
 व्योमगश्च तथा स्वप्ने वातप्रकृतिरुच्यते ।
 अकालपलितः क्रोधी प्रखेदो मधुरप्रियः ॥ ३७ ॥
 स्वप्ने च दीप्तिमत्प्रेक्षी पित्तप्रकृतिरुच्यते ।
 दृढाङ्गः स्थिरचित्तश्च सुप्रभः स्निग्धमूर्ध्वजः ॥ ३८ ॥
 शुक्लाम्बुदर्शी स्वप्ने च कफप्रकृतिको नरः ।

तामसा राजसाथैव सात्विकाश्च तथा स्मृताः ॥ ३८ ॥
 मनुष्या मुनिशार्दूल वातपित्तकफात्मकाः ।
 रक्तपित्तं व्यवायाश्च गुरुकर्म्मप्रवर्त्तनैः ॥ ४० ॥
 कदन्नभोजनाद्वायुर्देहे शोकाच्च कुप्यति
 विदाह्निनां तथोष्कानामुष्णान्नाध्वनिसेविनां(१) ॥ ४१ ॥
 पित्तं प्रकोपमायाति भयेन च तथा द्विज ।
 अत्यम्बुपानगुर्वन्नभोजिनां भुक्तशायिनाम् ॥ ४२ ॥
 श्लेष्मप्रकोपमायाति तथा ये चालसा जनाः ।
 वाताद्युत्थानि रोगाणि ज्ञात्वा ग्राम्यानि लक्षणैः ॥ ४३ ॥
 अस्थिभङ्गः कषायत्वमास्ये शुष्कास्यता तथा ।
 जृम्भणं लोमहर्षश्च वातिकव्याधिलक्षणम् ॥ ४४ ॥
 मखनेत्रशिराणाम्नु पीतत्वं कटुता मुखे ।
 दृष्ट्वा दाहोष्णता चैव पित्तव्याधिनिदर्शनम् ॥ ४५ ॥
 आलस्यञ्च प्रसेकश्च गुरुता मधुरास्यता ।
 उष्णाभिलाषिता चेति श्लैष्मिकव्याधिलक्षणम् ॥ ४६ ॥
 क्लिग्धीष्णमन्नमभ्यङ्गस्त्रैलपानादि वातनुत् ।
 आज्यं क्षीरं सिताद्यञ्च चन्द्ररश्मगादि पित्तनुत् ॥ ४७ ॥
 सक्षौद्रं त्रिफलातैलं व्यायामादि कफापहम् ।
 सर्वरोगप्रशान्त्यै स्याद्विष्णोर्ध्यानञ्च पूजनम् ॥ ४८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे सर्वरोगहराण्यौषधानि नामी-
 नाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

१ तथोष्कानामुष्णान्नाध्वनिसेविनामिति च० ।

अथाश्रीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

— ००० —

रसादिलक्षणं ।

धन्वत्तरिहवाच । रसादिलक्षणं वक्ष्ये भेषजानां गुणं नृणाम् ।

रसवीर्यविपाकज्ञो नृपादीनृक्षयेत्तरः ॥ १ ॥

रसाः स्वादुक्ललवणाः सोमजाः परिकीर्त्तिताः ।

कटुतिक्तकषायानि तथाम्नेया महाभुज ॥ २ ॥

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य कटुक्ललवणात्मकः ।

द्विधा वीर्यं समुद्दिष्टमुष्णं शीतं तथैव च ॥ ३ ॥

अनिर्देश्यप्रभावश्च शोषधीनां द्विजोत्तम ।

मधुरश्च कषायश्च तिक्तश्चैव तथा रसः ॥ ४ ॥

शीतवीर्याः समुद्दिष्टाः शेषास्तूष्णाः प्रकीर्त्तिताः ।

गुडुची तत्र तिक्तापि भवत्युष्णातिवीर्यतः ॥ ५ ॥

उष्णा कषायापि तथा पथ्या भवति मानद ।

मधुरीपि तथा मांस उष्णा एव प्रकीर्त्तितः ॥ ६ ॥

लवणो मधुरश्चैव विपाकमधुरी ऋती ।

आक्लीष्णाश्च तथा प्रोक्तः शेषाः कटुविपाकिनः ॥ ७ ॥

वीर्यपात्रे विपर्यस्ते प्रभावात्तत्र निश्चयः ।

मधुरोऽपि कटुः पाके यच्च क्षौद्रं (१) प्रकीर्त्तितं ॥ ८ ॥

काशयेत् क्षौद्रग्रगुणं पिवेद्द्रव्याञ्चतुर्गुणम् ।

१ यवक्षौद्रमिति च ।

कल्पनैषा कषायस्य यत्र नीक्ती विधिर्भवेत् ॥ ९ ॥
 कषायन्तु भवेत्तीयं स्नेहपाके चतुर्गुणं(१) ।
 द्रव्यतुल्यं समुद्धृत्य द्रव्यं स्नेहं क्षिपेद्बुधः ॥ १० ॥
 तावत्प्रमाणं द्रव्यस्य स्नेहपादं ततः क्षिपेत् ।
 तीयवर्जन्तु यद्द्रव्यं स्नेहद्रव्यं तथा भवेत् ॥ ११ ॥
 संवर्त्तितौषधः पाकः स्नेहानां परिकीर्त्तितः ।
 तत्सुख्यता तु लेह्यस्य तथा भवति सुशुत(२) ॥ १२ ॥
 स्वकृमस्यौषधं क्वाथं कषायश्चोक्तवद्भवेत् ।
 अर्घं चूर्णस्य निर्द्दिष्टं कषायस्य चतुष्पलं ॥ १३ ॥
 मध्यमैषा कृता मात्रा नास्ति मात्राविकल्पना ।
 वयः कालं बलं वक्रिं देशं द्रव्यं रुजं तथा ॥ १४ ॥
 समवेक्ष्य महाभाग मात्रायाः कल्पना भवेत् ।
 सौम्यास्तत्र रसाः प्रायो विज्ञेया धातुवर्द्धनाः ॥ १५ ॥
 मधुरास्तु विशेषेण विज्ञेया धातुवर्द्धनाः ।
 दीषाणाश्चैव धातूनां द्रव्यं समगुणन्तु यत् ॥ १६ ॥
 तदेव वृद्धये ज्ञेयं विपरीतं क्षमावहम् ।
 उपस्तम्भत्रयं प्रोक्तं देहेऽस्मिन्मनुजोत्तम ॥ १७ ॥
 आहारी मैथुनं निद्रा तेषु यत्रः सदा भवेत् ।
 असेवनात् सेवनाच्च अत्यन्तं नाशमाप्नुयात् ॥ १८ ॥
 क्षयस्य वृंहणं कार्यं स्थूलदेहस्य कर्षणम् ।
 रक्षणं मध्यकायस्य देहभेदास्त्रयो मताः ॥ १९ ॥

१ स्नेहपाके च तद्गुणमिति च० ।

२ तत्सुख्यताञ्च तथा यथा भवति सुशुत इति च० ।

उपक्रमद्वयं प्रोक्तं तर्पणं वाप्यतर्पणं ।

द्विताम्री च मिताम्री च जीर्णाम्री च तथा भवेत् ॥ २० ॥

ओषधीनां पञ्चविधा तथा भवति कल्पना ।

रसः कल्कः शृतः शीतः फ्राण्टश्च मनुजोत्तम ॥ २१ ॥

रसश्च पीडको ज्ञेयः कल्क आलोडिताद् भवेत् ।

कथितश्च शृतो ज्ञेयः शीतः पर्युषितो निशां ॥ २२ ॥

सद्योभिश्चृतपूतं यत् तत् फ्राण्टमभिधीयते ।

करणानां शतञ्चैव षष्टिश्चैवाधिका स्मृता ॥ २३ ॥

यो वेत्ति स ह्यजेयः स्यात्सम्बन्धे वाहुशौण्डिकः ।

आहारशुद्धिरन्यर्थमग्निमूलं बलं नृणां ॥ २४ ॥

ससिन्धुत्रिफलाश्चाद्यास्तुराग्नि अभिवर्णदां ।

जाङ्गलश्च रसं सिन्धुयुक्तं दधि पयःकणां ॥ २५ ॥

रसाधिकं समं कुर्यान्नरो वाताधिकोऽपि वा ।

निदाघे मर्दनं प्रोक्तं शिशिरे च समं बहु ॥ २६ ॥

वसन्ते मध्यमं ज्ञेयन्निदाघे मर्दनोत्पणं ।

त्वचन्तु प्रथमं मर्द्दमङ्गश्च तदनन्तरं ॥ २७ ॥

आयुरुधिरदेहेषु अस्थि भातीव मांसलं ।

स्कन्धौ बाहू तथैवेह तथा जङ्घे सजानुनी ॥ २८ ॥

अरिवन्मर्द्दयेत् प्राञ्चो जञ्च वक्षस्य पूर्ववत् ।

अङ्गसन्धिषु सज्वेषु निष्पीड्य बहुलं तथा ॥ २९ ॥

प्रसारयेदङ्गसन्धीन् च क्षेपेण चाक्रमात् ।

नाजीर्णे तु अमं कुर्यान्न भुक्त्वा पीतवाक्तरः ॥ ३० ॥

दिनस्य तु चतुर्भाग ऊर्ध्वन्तु प्रहरार्धके ।

(६)

व्यायामं नेव कर्त्तव्यं स्नायाञ्छीताम्बुना सकृत् ॥ ३१ ॥

वार्युष्णञ्च यमं जह्नाद्दृढा श्वासत्र धारयेत् ।

व्यायामश्च कफं हन्याद्दातं हन्याच्च मर्दनम् ॥ ३२ ॥

स्नानं पित्ताधिकं हन्यात्तस्यान्ते चातपाः प्रियाः ।

आतपक्लेशकर्मादौ चेमध्यायामिनो नराः ॥ ३३ ॥

द्रव्याग्नेये महापुराणे रसादिलक्षणं नामाशीत्यधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथैकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—000—

हृत्त्रायुर्वेदः ।

धन्वन्तरिदवाच । हृत्त्रायुर्वेदमाख्यास्ये ऋक्षवीत्तरतः शुभः ।

प्राग्बटो याम्यतस्त्वाम्न आप्येऽश्वत्थः क्रमेण तु ॥ १ ॥

दक्षिणां दिशमुत्पन्नाः समीपे कण्ठकद्दुमाः ।

उद्यानं गृहवासे(१) स्यात् तिलान् वाप्यथ पुष्पितान् ॥२॥

गृह्णीयाद्ग्रीपयेद्दृक्षान् द्विजञ्चन्द्रं प्रपूज्य च ।

ध्रुवाणि पञ्च वायव्यं हस्तं प्राजेशवैष्णवं ॥ ३ ॥

नक्षत्राणि तथा मूलं शस्यन्ते द्रूमरोपणे ।

प्रवेशयेन्नदीवाहान् पुष्करिस्थान्तु(२) कारयेत् ॥ ४ ॥

१ गृहवासे इति ख० ।

२ पुष्करिस्थान्ति पाठो न सम्यक् प्रतिभाति ।

हस्ता मघा तष्ठा मैत्रमाद्यं पुष्यं सतासवं ।
 जलाशयसमारम्भे वारुणञ्चीत्तरात्रयम् ॥ ५ ॥
 संपूज्य वरुणं विष्णुं पर्जन्यं तत् समाचरेत् ।
 अरिष्टाशोकपुन्नागशिरोषाः सप्रियङ्गवः ॥ ६ ॥
 अशोकः कदली जम्बुस्तथा वकुलदाडिमाः ।
 सायं प्रातस्तु घर्भर्त्तरीं शीतकाले दिनान्तरे ॥ ७ ॥
 वर्षारान्नौ भुवः शीघ्रे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः ।
 उत्तमं विंशतिर्हस्ता मध्यमं षोडशान्तरम् ॥ ८ ॥
 स्थानात् स्थानान्तरं कार्यं हृत्चाणां द्वादशवारं ।
 विफलाः स्युर्वना हृत्ताः शस्त्रेणादौ हि शोधनम् ॥ ९ ॥
 विडङ्गघृतपङ्काक्तान् सेचयेच्छीतवारिणा ।
 फलनाशे कुलत्थैश्च मासैर्मुद्गरैर्यवैस्त्रिलैः ॥ १० ॥
 घृतशीतपयःसेकः फलपुष्पाय सर्वदा ।
 आविकाजशकृत्सूर्णं यवचूर्णं तिलानि च ॥ ११ ॥
 गोमांसमुदकञ्चैव सप्तरात्रं निधापयेत् ।
 उत्सेकः सर्व्यहृत्चाणां फलपुष्पादिदृष्टिदः ॥ १२ ॥
 मत्स्याभसा तु सेकेन हृत्तिर्भवति शाखिनः ।
 विडङ्गतण्डुलोपेतं मत्स्यं मांसं हि दोहदं ।
 सर्वेषामविशेषेण हृत्चाणां रोगमर्दनम् ॥ १३ ॥
 हृत्त्याग्नेये महापुराणे हृत्चायुर्वेदे नामैकाशीत्यधिक-

द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ द्वाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—ooo@ooo—

नानारोगहराख्यौषधानि ।

धन्वन्तरिरुवाच । सिंही शटी(१) निशायुग्मं वक्षकं क्वाथसेवनं ।

शिशोः सर्वांसि सारेषु स्तन्यदोषेषु शस्यते ॥ १ ॥

शुद्धीं सकृन्नातिविषां चूर्णितां मधुना लिहेत् ।

एका चातिविशा काशच्छर्दिज्वरहरी शिशोः ॥ २ ॥

बालैः सेव्या वचा साग्या सद्रुग्धा वाथ तैलयुक् ।

यष्टिकां शङ्खपुष्पीं वा बालः क्षीरान्वितां पिवेत् ॥ ३ ॥

वायूपसम्पद्युक्तायुर्ध्माश्रीर्वर्द्धते शिशोः ।

वचाग्निशिखावासाशुण्ठीकृष्णानिशागदं ॥ ४ ॥

सयष्टिसैन्धवं बालः प्रातर्मेधाकरं पिवेत् ।

देवदारुमहाशिशुफलत्रययोमुचां ॥ ५ ॥

क्वाथः सकृन्ना शुद्धीका कल्कः सर्वान् कृमीन् हरेत् ।

त्रिफलाभृङ्गविश्वानां रसेषु मधुसर्पिषोः ॥ ६ ॥

मेघीक्षीरे च गोमूत्रे सिक्तां रोगे हितं शिशोः ।

नासारक्तहरो नस्याद्दुर्वारस इहोत्तमः ॥ ७ ॥

लशुनार्द्रकशिशुणां रसः कर्णस्य पूरणम् ।

तैलमार्द्रकजात्यं वा शूलहा(२) चौष्ठरोगनुत्(३) ॥ ८ ॥

१ सिंही षष्ठीति च० ।

३ मूत्रहा शोषरोगदुद्धिति च० ।

२ शूलहा इत्यत्र पुंस्त्वनिर्देश आर्षः ।

जातीपत्रं फलं व्योषं कबलं मूत्रकं निशा ।
दुग्धकाथेऽभयाकल्के सिद्धं तैलं द्विजार्तिनुत् ॥ ८ ॥
धान्याख्यु नारिकेलं गोमूत्रं क्रमूकविश्वयुक् ।
काथितं कबलं कार्यमधिजिह्वाधिग्रान्तये ॥ १० ॥
साधितं लाङ्गलीकल्के तैलं निर्गुण्डिकारसैः ।
गण्डमालागलगण्डी नाशयेन्नस्यकर्मणा ॥ ११ ॥
पद्मवैरर्कपूतीकसुह्रीरुग्घातजातिकैः ।
उदत्तयेत् सगोमूत्रैः सर्वत्वग्दीघनाशनैः ॥ १२ ॥
वाकुचो सतिला भुक्ता वत्सरात् कुष्ठनाशनी ।
पथ्या भक्तातकी तैलगुडपिण्डी तु कुष्ठजित् ॥ १३ ॥
यूतीकवज्रिरजनी त्रिफलाव्योषचूर्णयुक् ।
तक्रं गदाङ्कुरे पेयं भक्ष्या वा सगुडाऽभया ॥ १४ ॥
फलदार्ढ्यविषाणान्तु काथो धात्रीरसोऽथवा ।
पातव्यो रजनीकल्कः चौद्राचौद्रप्रमेहिषा ॥ १५ ॥
वासागर्भो व्याधिघातकाथ एरण्डतैलयुक् ।
वातशीणितहत् पानात् पिप्पली स्यात् ग्रीहाहरी ॥ १६ ॥
खेव्या जठरिणा कृष्णा सुचीरवहुभाविता ।
पयो वा रथदन्त्याग्निविडङ्गव्योषकल्कयुक् ॥ १७ ॥
ग्रन्थिकीयाभया कृष्णा विडङ्गाक्ता हृते स्थिता ।
मांसन्तक्रं ग्रहण्यर्शःपाण्डुगुल्मकृमीन् हरेत् ॥ १८ ॥
फलत्रयामृता वासा तित्तभूनिस्त्रजस्तथा ।
काथः समाक्षिकी हन्यात् पाण्डुरोगं सकामलं ॥ १९ ॥
रक्तपित्ती पिवेद्वासासुरसं ससितं मधु ।

वरीद्राक्षाबलाशुण्ठीसाधितं वा पयः पृथक् ॥ २० ॥
 वरी विदारो पथ्या च बलात्रयं सवासकं ।
 श्वदंष्ट्रामधुसर्पिर्भ्यामालिहेत् क्षयरोगवान् ॥ २१ ॥
 पथ्याशिशुकरश्चार्कत्वक्सारं मधुसिन्धुमत् ।
 समूलं विद्रधिं हन्ति परिपाकाय तन्त्रजित् ॥ २२ ॥
 त्रिहृता जीवती दन्ती मञ्जिष्ठा शर्वरीह्वयं ।
 तार्क्षजं निम्बपत्रञ्च लेपः शस्ती भगन्दरे ॥ २३ ॥
 रुग्घातरजनीलाक्षाचूर्णाजक्षौद्रसंयुता ।
 वासोवलिर्घ्णे योज्या शोधनीगतिनाशनी ॥ २४ ॥
 श्यामायष्टिनिशालोद्भ्रपन्नकोत्पलचन्दनैः ।
 समरीचैः शृतं तैलं क्षीरे स्वाद्गणरोहणं ॥ २५ ॥
 श्रीकार्पासदलैर्भस्मफलोपलवणा निशा ।
 तत्पिण्डीस्त्रेदनं ताम्ब्रे सतैलं स्यात् क्षतौषधं ॥ २६ ॥
 कुम्भीसारं पयोयुक्तं वज्रिदग्धं व्रणे लिपेत् ।
 तदेव नाशयेत्सेकाक्षारिकेलरजोष्टतम् ॥ २७ ॥
 विश्वाज्जमोदसिन्धुत्थचिञ्चात्वग्भिः समाभया ।
 तक्रेषोष्णाश्वुना वाद्य पीतातीसारनाशनी ॥ २८ ॥
 वत्सकातिविषाविश्वविक्लमुस्तशृतं जलं ।
 सामे पुराणेऽतीसारे साष्टकशूले च पाययेत् ॥ २९ ॥
 अङ्गारदग्धं सुगतं सिन्धुमुष्णाश्वुना पिवेत् ।
 शूलवानथ वा तद्धि सिन्धुहिङ्गुकषाभवा ॥ ३० ॥
 कटुरोहीत्कणातङ्गलाजचूर्णं(१) मधुमुतं ।

१ कटुरोहीत्कणातङ्गलाजचूर्णमिति ट० ।

वस्त्रच्छिद्रगतं वस्त्रं न्यस्तं तृष्णां विनाशयेत् ॥ ३१ ॥
 पाठादावर्षाजातिदक्षं द्राक्षांमूलफलत्रयैः(१) ।
 साधितं समधुं क्वाथं कवलं मुखपापहृत् ॥ ३२ ॥
 क्षणातिविषतित्तेन्द्रदारुपाठापयोमुषां ।
 क्वाथो मूत्रे मृतः चौद्री सर्वकण्ठमदापहः ॥ ३३ ॥
 पथ्यागोक्षुरदुस्पर्शराजवृक्षशिलाभिदां ।
 कषायः समधुः पीतो मूत्रकण्ठं व्यपोहति ॥ ३४ ॥
 वंशत्वम्बरुषक्वाथः शर्कराशमविघातनः ।
 शाखोटकाशसचौद्रचीराशी श्लेपदी भवेत् ॥ ३५ ॥
 मासार्कत्वक्पयसौलं मधुसिताश्च सैन्धवं ।
 पादरोगं हरेत्सर्पिर्जालकुक्कुटजं तथा ॥ ३६ ॥
 शुण्ठीसौवर्चलाहिङ्गुचूर्णं शून्ठीरसैर्घृतम् ।
 रुजं हरेदथ क्वाथो विद्धि वह्निग्निसाधने ॥ ३७ ॥
 सौवर्चलाग्निहिङ्गूनां सदीप्यानां रसैर्घृतं ।
 विद्धदीप्यकमुक्तं वा तक्रं गुल्मातुरः पिबेत् ॥ ३८ ॥
 धान्नीपटोलमुद्गानां क्वाथः साण्डो विसर्षह ।
 शुण्ठीदारुनवाचीरक्वाथो मूत्रान्वितोऽपरः ॥ ३९ ॥
 सव्योषाथोरजःक्षारः फलक्वाथश्च शीघ्रहृत् ।
 गुडशिशुभिहृद्भिश्च सैन्धवानां रजोयुतः ॥ ४० ॥
 त्रिहृताफलकक्वाथः सगुडः स्याद्विरेचनः ।
 वचाफलकषायोत्थं पयो वमनकृद्भवेत् ॥ ४१ ॥
 त्रिफलायाः पलशतं घृथग्भृङ्गजभावितम् ।

१ द्राक्षासतफलकषेरिति ज०, उ० च ।

विडङ्गं लोहचूर्णञ्च दशभागसमन्वितम् ॥ ४२ ॥
 शतावरीगुडुश्चग्निपलानां शतविंशतिः(१) ।
 मध्वाञ्जतिलजैर्लिङ्गादुबलीपलितवर्जितः ॥ ४३ ॥
 शतमब्दं हि जीवेत सर्वरोगविवर्जितः ।
 त्रिफला सर्वरोगघ्नी समधुः शर्करान्विता ॥ ४४ ॥
 सितामधुष्टैर्युक्ता सकृन्वा त्रिफला तथा ।
 पथ्याचिन्नकशुण्ठाश्च गुडुचीमुषलीरजः ॥ ४५ ॥
 सगुडं भक्षितं रोगहरं त्रिशतवर्षकृत् ।
 किञ्चिच्चूर्णं जवापुष्यं पिण्डितं विसृजेज्जले ॥ ४६ ॥
 तैलं भवेद् दृताकारं किञ्चिच्चूर्णं जलान्वितं ।
 धूपार्थं दृश्यते चित्रं वृषदंशजरायुना ॥ ४७ ॥
 पुनर्माक्षिकधूपेन दृश्यते तद्यथा पुरा ।
 कर्पूरजलकाभेकतैलं(२) पाटलिमूलयुक् ॥ ४८ ॥
 पिष्ट्वा लिप्य पदे हे च चरेदङ्गारके नरः ।
 दृशौत्थानादिकं व्यूह्य दर्शयन्वै कुतूहलं ॥ ४९ ॥
 विषयहृदजध्वंसचुद्रनर्म्भं च कामिकं ।
 तत्ते षट्कर्म्मिकं प्रोक्तं सिद्धिद्वयसमाश्रयं ॥ ५० ॥
 मन्त्रध्यानौषधिकषासुद्रेष्व्या यत्र सुष्टयः ।
 चतुर्बर्गफलं प्रोक्तं यः पठेत्स दिव ब्रजेत् ॥ ५१ ॥
 इत्याम्बेये महापुराणे नानारोगहराखौषधानि नाम
 द्वाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥]

१ पञ्चविंशतिरिति ज०, ड० च ।

२ कर्पूरजलकाभेकतैलमिति च० । कर्पूरजलानुकाभेकतैलमिति ज० ।

अथ त्रयोत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—:०:—

मन्त्ररूपीषधकथनं ।

घन्त्वन्तरिरुवाच । आयुरारोग्यकर्त्तार श्रीकाराद्याश्च नाकदाः ।

श्रीकारः परमो मन्त्रस्तं जप्त्वा चामरो भवेत् ॥ १ ॥

गायत्री परमो मन्त्रस्तं जप्त्वा भुक्तिमुक्तिभाक् ।

श्रीं नमो नारायणाय मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ २ ॥

श्रीं नमो भगवते वासुदेवाय सर्वदः ।

श्रीं ह्रूं नमो विष्णवे मन्त्रोयञ्चीषधं परं ॥ ३ ॥

अनेन देवा ह्यसुराः सत्रियो निरुजोऽभवन् ।

भूतानामुपकारश्च तथा धर्मो महौषधम् ॥ ४ ॥

धर्मः सहर्षकहर्षी एतैर्धर्मैश्च निर्मलः ।

श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीधरः श्रीनिकेतनः ॥ ५ ॥

श्रियः पतिः श्रीपरम एतैः श्रियमवाप्नुयात् ।

कामी कामप्रदः कामः कामपालस्तथा हरिः ॥ ६ ॥

आनन्दी माधवश्चैव नाम कामाय वै हरेः ।

रामः परशुरामश्च नृसिंहो विष्णुरेव च ॥ ७ ॥

त्रिविक्रमश्च नामानि जप्तव्यानि जिगीषुभिः ।

विद्यामभ्यस्यतां नित्यं जप्तव्यः पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥

दामोदरो बन्धहरः पुष्कराक्षोऽक्षिरोगनुत् ।

हृषीकेशो भयहरो जपेदौषधकर्मणि ॥ ९ ॥

(७)

अच्युतश्चासृतं मन्त्रं सङ्ग्रामे चापराजितः ।
 जलतारे नारसिंहं पूर्वाद्दौ क्षेमकामवान् ॥ १० ॥
 चक्षिणङ्गदिनञ्चैव शाङ्किणं खड्गिनं स्मरेत् ।
 नारायणं सर्वकाले नृसिंहोऽखिलभीतिनुत् ॥ ११ ॥
 गरुडध्वजस्य विषहत् वासुदेवं सदा जपेत् ।
 धान्यादिस्थापने स्त्रप्ते अनन्ताच्युतमीरयेत् ॥ १२ ॥
 नारायणस्य दुःस्त्रप्ते दाक्षादौ जलघायिनं ।
 हयग्रीवस्य विद्यार्थी जगत्सृतिं सुतामये ।
 बलभद्रं शौरकार्य्ये(१) एकं नामार्थसाधकम्(२) ॥ १३ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे मन्त्ररूपौषधकथनं नाम त्रयो-
 त्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

अथ चतुरशीत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

—:०:—

मृतसञ्जीवनीकरसिद्धयोगः ।

धन्वन्तरिरुवाच । सिद्धयोगान् पुनर्वक्ष्ये मृतसञ्जीवनीकरान् ।
 आत्रेयभाषितान् दिव्यान् सर्वव्याधिविमर्दनान्(३) ॥ १ ॥
 आत्रेय उवाच । विष्वादिपञ्चमूलस्य क्वाथः स्याद्वातिके ज्वरे ।
 पावनं पिप्पलीमूलं गुडूची विष्वजोऽथ वा ॥ २ ॥

१ शौरकार्य्ये इति ख० ।

३ सर्वव्याधिविनाशकामिति ख० ।

२ एकनामाथ सार्थकमिति ख०, ज० च ।

आमलक्यभया कृष्णा वक्रिः सर्वज्वरान्तकः ।
 विश्वाम्निमन्वशोनाककाश्मर्थः पारला स्थिरा ॥ ३ ॥
 त्रिकण्टकं पृथ्निपर्णी वृहती कण्टकारिकाः ।
 ज्वराविपाकपार्श्वार्त्तिकाशनुत् कुशमूलकम् ॥ ४ ॥
 गुडूची पर्पटी मुस्तं किरातं विश्वभेषजम् ।
 वातपित्तज्वरे देयं पञ्चभद्रमिदं स्मृतम् ॥ ५ ॥
 त्रिवृद्धिशालकटुकात्रिफलारग्वधैः कृतः ।
 संस्कारी भेदनक्वाथः पेयः सर्वज्वरापहः ॥ ६ ॥
 देवदारुबलावासान्निफलाव्योषपद्मकैः(१) ।
 सविडङ्गैः सितातुल्यं तच्चूर्णं पञ्चकाशजित् ॥ ७ ॥
 दशमूलीशटीरान्नापिपप्लीविश्वपौष्करैः ।
 शृङ्गीतामलक्रीभार्गीगुडूचीनागवस्त्रिभिः ॥ ८ ॥
 यवाग्रं विधिना सिद्धं कषायं वा पिवेन्नरः ।
 काशहृद्यहृषीपार्श्वहिक्वाश्वासप्रशान्तये ॥ ९ ॥
 मधुकं मधुना युक्तं विष्प्लीं शर्करान्वितां ।
 नागरं गुडसंयुक्तं हिक्काघ्नं लावणप्रयम् ॥ १० ॥
 कारव्यजाजीमरिचं द्राक्षा वृक्षाक्लदाडिमम् ।
 सौवर्चलं गुडं शौद्रं सर्वारोचननाशनम् ॥ ११ ॥
 शृङ्गवेररसञ्चैव मधुना सह पाययेत् ।
 अरुचिश्वासकाशघ्नं प्रतिश्यायकफान्तकम् ॥ १२ ॥
 वटं शृङ्गी शिलालोभदाडिमं मधुकं मधु ।
 पिवेत् तण्डुलतोयेन च्छर्दिदृष्टानिवारणम् ॥ १३ ॥

१ देवदारुबलारान्नान्निफलाव्योषपद्मकैरिति ख० ।

गुडुची वासकं लोभं पिप्पलीचौद्रसंयुतम् ।
 कफान्वितञ्चयेद्रक्तं तृष्णाकासज्वरापहम् ॥ १४ ॥
 वासकस्य रसस्तद्वत् समधुस्ताम्रजो रसः ।
 शिरीषपुष्पसुरसभावितं मरिचं हितं ॥ १५ ॥
 सर्वात्तिनुम्नसूरोऽथ पित्तमुक्त् तण्डुलीयकं ।
 निगर्गुण्डी शारिवा शेलु रङ्गोलस्य(१) विषापहः ॥ १६ ॥
 महौषधं मृतां क्षुद्रां पुष्करं(२) ग्रन्थिकोद्भवं(३) ।
 पिवेत् कणायुतं काथं मूर्च्छायाञ्च मर्देषु च ॥ १७ ॥
 हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृतताडकं ।
 चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनं ॥ १८ ॥
 शङ्खपुष्पोवचाकुष्ठैः सिद्धं ब्राह्मीरसैर्युतं ।
 पुराणं हन्यपस्मारं सोन्मादं मेधमुत्तमं ॥ १९ ॥
 पञ्चगव्यं घृतं तद्वत् कुष्ठनुच्चाभयायुतं ।
 पटोलत्रिफलानिम्बगुडुचीधावणीवृषैः ॥ २० ॥
 सकरञ्जैर्घृतं सिद्धं कुष्ठनुद्वेषकं स्मृतं ।
 निम्बं पटोलं व्याघ्री च गुडुची वासकं तथा ॥ २१ ॥
 कुर्याद्दशपलान् भागान् एकैकस्य सकुट्टितान् ।
 जलद्रोणे विपक्त्वयं यावत्पादावशेषितं ॥ २२ ॥
 घृतप्रस्थम्पचेत्सेन त्रिफलागर्भसंयुतं(४) ।
 पञ्चतिक्तमिति ख्यातं सर्पिः कुष्ठविनाशनं ॥ २३ ॥
 अशीतिं वातजान्त्रोगान् चत्वारिंशच्च पैत्तिकान् ।

१ वङ्गोलस्येति ख०, अ० च ।

२ ग्रन्थिकोद्भवमिति ख० ।

३ पुष्पकमिति अ० ।

४ त्रिफलागर्भसंयुतमिति ख०, अ० न ।

विंशतिं श्लैष्मिकान् कासपीनसार्शोत्रणादिकान् ॥ २४ ॥
 हृन्मन्यान् योगराजोऽयं यथार्कस्त्रिमिरं खलु ।
 त्रिफलायाः कषायेन भृङ्गराजरसेन च ॥ २५ ॥
 त्रणप्रक्षालनङ्कुर्यादुपदंशप्रशान्तये ।
 पटोलदलचूर्णेन दाडिमत्वग्रजोऽथ वा ॥ २६ ॥
 गुण्डयेच्च गजेनापि(१) त्रिफलाचूर्णकेन च ।
 त्रिफलायीरजोयष्टिमार्कवीत्पलमारिचैः ॥ २७ ॥
 ससैन्धवैः पचेत्तैलमभ्यङ्गाच्छर्दिकापहं ।
 सञ्जीरान् मार्कवरसान् द्विप्रस्थमधुकोत्पलैः ॥ २८ ॥
 पचेत्तु तैलकुडवं तन्नस्यं पलितापहं ।
 निम्बम्पटोलं त्रिफला गुडूची खदिरं वृषं ॥ २९ ॥
 भूनिम्बपाठात्रिफलागुडूचीरक्तचन्दनं ।
 योगद्वयं ज्वरं हन्ति कुष्ठविस्फोटकादिकं ॥ ३० ॥
 पटोलामृतभूनिम्बवासारिष्टकपर्पटैः ।
 खदिरान्तयुतैः काथो विस्फोटज्वरशान्तिकृत् ॥ ३१ ॥
 दशमूली श्छिन्नरुहा पथ्या दारु पुनर्नवा ।
 ज्वरविद्रधिग्रोधेषु शिग्रुविश्वजिता हिताः ॥ ३२ ॥
 मधूकं निम्बपत्राणि लेपः स्याद्द्रवणशोधनः ।
 त्रिफला खदिरो दार्वी न्यग्रोधातिबलाकुशाः ॥ ३३ ॥
 निम्बमूलकपत्राणां कषायाः शोधने हिताः ।
 करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीरसो हृन्मन्मृणक्रमीन् ॥ ३४ ॥

१ गुण्डयेन्नगजेनापीति ख०, ज० च ।

धातकीचन्दनबलासमङ्गामधुकोत्पलैः ।
 दार्वीमेदीन्वितैर्लेपः ससर्पिर्घ्नणरोपणः ॥ ३५ ॥
 गुग्गुलुत्रिफलाव्योषसमांशैर्घृतयोगतः ।
 नाडी दुष्टत्रयं शूलश्वगन्दरमुखं हरेत् ॥ ३६ ॥
 हरितकीं मूत्रसिद्धां सतैललवणान्वितां ।
 प्रातः प्रातश्च सेवेत कफवातामयापह्नां(१) ॥ ३७ ॥
 त्रिकटुत्रिफलाक्वाथं(२) सञ्चारलवणं पिवेत् ।
 कफवातात्मकेष्वेव विरेकः कफवृद्धिनुत् ॥ ३८ ॥
 पिप्पलीपिप्पलीमूलवचाचिन्नकनागरैः ।
 क्वाथितं वा पिवित्प्रेयमामवातविनाशनं ॥ ३९ ॥
 रास्नां गुडुचीमेरुहृदेवदारुमहौषधं ।
 पिवेत् सर्वाङ्गिके वाते सामे सन्ध्यस्थिमञ्जगे ॥ ४० ॥
 दशमूलकषायं वा पिवेद्वा नागराश्रसा ।
 शुण्ठीगोक्षुरकक्वाथः प्रातः प्रातर्निषेवितः ॥ ४१ ॥
 सामवातकटीशूलपाचनो रुक्प्रणाशनः ।
 समूलपत्रशाखायाः प्रसारव्यास्य तैलकं ॥ ४२ ॥
 गुडुच्याः सुरमः कल्कः चूर्णं वा क्वाथमेव च ।
 प्रभूतकालमासेव्य मुच्यते वातशीणितात् ॥ ४३ ॥
 पिप्पली वर्द्धमानं वा सेव्यं पथ्या गुडेन वा ।
 पटोलत्रिफलातीव्रकटुकामृतसाधितं(३) ॥ ४४ ॥
 पक्कं पीत्वा जयत्याशु सदाहं वातशीणितं ।

१ कफवातविनाशनीमिति ज० ।

२ पटोलत्रिफलातीव्रकटुकामृत-

३ विरूटत्रिफलाकुष्ठमिति ज० ।

साधितमिति ख०, इ०, अ० च ।

गुग्गुलं कोष्णशोते(१) तु गुडुची त्रिफलाश्रसा ॥ ४५ ॥

बलापुनर्नवैरण्डवृहतीद्वयगोक्षुरैः ।

सहिङ्गु लवणैः पीतं सद्यो वातरुजापहं ॥ ४६ ॥

कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च ।

पिप्पली चित्रकं शृण्ठी त्रिफला चिह्नता वचा ॥ ४७ ॥

द्वौ चारौ श्रावला दन्ती स्वर्णक्षीरी विषाणिका ।

कीलप्रमाणां गुटिकां पिवेत् सौवीरकायुतां ॥ ४८ ॥

श्रीधावपाके त्रिहता प्रहृष्टे चोदरादिके ।

क्षीरं शोधहरं दारु वर्षाभूर्नागरैः शुभम् ॥ ४९ ॥

सेकस्तथाकवर्षाभूनिम्बक्वाथेन शोधयित् ।

व्योषगर्भं पलाशस्य त्रिगुणे भस्मवारिणि ॥ ५० ॥

साधितं पिवतः सर्पिः पतत्यर्शो न संशयः ।

विश्वक्सेनावनिर्गुण्डीसाधितं चापि लावणं ॥ ५१ ॥

विडङ्गानलसिन्धूत्थरास्त्रापचारदारुभिः ।

तैलञ्चतुर्गुणं सिद्धं कटुद्रव्यं जलेन वा ॥ ५२ ॥

गण्डमालापहं तैलमभ्यङ्गात् गलगण्डनुत् ।

शटीकुनागबलयक्वाथः क्षीररसे युतम् ॥ ५३ ॥

पयस्यापिप्पलीवासाकल्कं सिद्धं चये हितम् ।

वचाविडङ्गभयाशृण्ठीहिङ्गु कुठाग्निदीप्यकान् ॥ ५४ ॥

द्वित्रिषट्चतुरेकांशसप्तपञ्चाशिकाः क्रमात् ।

चूर्णं पीतं हन्ति गुल्मं उदरं शूलकासनुत् ॥ ५५ ॥

पाठानिकुम्भत्रिकटुत्रिफलाग्निषु साधितम् ।

मूत्रेषु चूर्णगुटिका गुल्मप्लीहादिमर्दनौ ॥ ५६ ॥
 वासानिम्बपटोलानि त्रिफला वातपित्तगुत् (१) ।
 लिङ्गात् क्षौद्रेण विडङ्गं चूर्णं कृमिविनाशनम् ॥ ५७ ॥
 विडङ्गसैन्धवक्षारमूत्रेनापि हरीतकी ।
 शङ्खकीवदरीजम्बुपियालाम्नाजुनत्वचः ॥ ५८ ॥
 पीताः क्षीरेण मध्वक्ताः पृथक्शोणितवारणाः ।
 विष्वाम्नधातकीपाठाशुण्ठीमीचरसाः समाः ॥ ५९ ॥
 पीता रुन्धम्यतीसारं गुडतक्रेण दुर्जयम् ।
 चाङ्गे रीकीलदध्यम्बुनागरक्षारसंयुतम् ॥ ६० ॥
 छतयुक्त्वायितं पेयं गुदम्रंसे रुजापहम् ।
 विडङ्गातिविषामुस्तं दारुपाठाकलिङ्गकम् ॥ ६१ ॥
 मरीचेन समायुक्तं शीथातीसारनाशनम् ।
 शर्करासिन्धुशुण्ठीभिः कृष्णामधुगुडैर्न वा ॥ ६२ ॥
 द्वे द्वे खादेत्तरीतक्यौ जीवेद्द्वर्षशतं सुखी ।
 त्रिफला पिप्पलीयुक्ता समध्वाज्या तथैव सा ॥ ६३ ॥
 चूर्णमामलकं तेन सुरसेन तु भावितम् ।
 मध्वाज्यशर्करायुक्तं लिङ्गा स्त्रीशः पयः पिवेत् ॥ ६४ ॥
 मासपिप्पलिशालीनां यवगोधूमयोस्तथा ।
 चूर्णभागैः समांशैश्च पचेत् पिप्पलिकां शुभां ॥ ६५ ॥
 तां भक्षयित्वा च पिवेत् शर्करामधुरं पयः ।
 नवशटकवज्जम्भेद् दशवारान् स्त्रियं ध्रुवम् ॥ ६६ ॥
 समङ्गाधातकीपुष्पलोध्रनीलीत्पलानि च ।

१ त्रिफला चाक्षपित्तमुदिति ख०, ज० च ।

एतत् क्षीरेण दातव्यं स्त्रीणां प्रदरनाशनं ॥ ६७ ॥
 वीजक्षीरण्टकञ्चापि मधुकं श्वेतचन्दनं ।
 पद्मीत्यलस्य मूलानि मधुकं शर्करातिलान् ॥ ६८ ॥
 द्रवमाणेषु गर्भेषु गर्भस्थापनमुत्तमं ।
 देवदारु नभः कुष्ठं(१) नलदं विश्वभेषजं ॥ ६९ ॥
 श्लेषः काष्ठीकसम्पिष्टसैलयुक्तः शिरोर्त्तिनुत् ।
 घस्रपूतं क्षिपेत् कोष्णं सिन्धूत्थं कर्णशूलनुत् ॥ ७० ॥
 लशुनार्द्रकशिशूणां कदल्या वा रसः पृथक् ।
 बलाशतावरीराम्बताः सैरीयकैः पिवेत् ॥ ७१ ॥
 त्रिफलासहितं सर्पिस्त्रिमिरघ्नमनुत्तमं ।
 त्रिफलाब्धोषसिन्धुस्यैर्घृतं सिद्धं पिवेन्नरः ॥ ७२ ॥
 चाक्षुष्यभेदनं हृद्यं(२) दीपनं क्रफरोगनुत् ।
 नीलोत्पलस्य किष्किल्कं गोशकृद्रससंयुतं ॥ ७३ ॥
 गुटिकास्त्रनमेतत् स्यात् दिनरात्रान्धयोर्हितं ।
 यष्टीमधुवचाकृष्णावीजानां कुटजस्य च ॥ ७४ ॥
 कल्केनालीड्य निम्बस्य कषायो वमनाय सः ।
 श्लिम्बस्त्रिभयवन्तोयं प्रदातव्यं विरेचनम् ॥ ७५ ॥
 अन्यथा योजितं कुर्यात् मन्दाग्निं गौरवारुचिं ।
 पथ्यासैन्धवकृष्णानां(३) चूर्णमुष्णाभ्युना पिवेत् ॥ ७६ ॥
 विरेकः सर्वरोगघ्नः श्रेष्ठो नाराचसंज्ञकः ।

१ कृष्णमिति ख० ।

२ पथ्यासैन्धवकृष्णानामिति ख० ।

३ कृष्णमिति ख० ।

सिद्धयोगा मुनिभ्यो ये आत्रेयेण प्रदर्शिताः ।

सर्वरोगहराः सर्व योगाग्राः सुश्रुतेन हि ॥ ७७ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे मृतसञ्जीवनीकरसिद्धयोगो नाम
चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—०००@०००—

कल्पसागरः ।

धन्वन्तरिववाच । कल्पाभृत्युञ्जयान्वस्ये ह्यायुर्हान्नोगमर्हानाम् ।

त्रिशती रोगहा सेव्या मध्वाज्यत्रिफलामृता ॥ १ ॥

पलं पलाहं कर्षं वा त्रिफलां सकलां तथा ।

वित्त्वतैलस्य नस्यश्च मासं पञ्चशती कविः ॥ २ ॥

रोगापमृत्युबलिजित् तिलं(१) भङ्गातकं तथा ।

पञ्चाङ्गं वाकूचीचूर्णं षष्मासं खदिरोदकैः ॥ ३ ॥

क्वाथैः कुष्ठञ्जयेत् सेव्यं चूर्णं नीलकुरण्टजम् ।

क्षीरेण मधुना वापि शतायुः खण्डदुग्धमुक् ॥ ४ ॥

मध्वाज्यशुण्ठीं संसेव्य पलं प्रातः स मृत्युजित् ।

बलीपलितजिञ्जीवेन्माण्डकौचूर्णदुग्धपाः ॥ ५ ॥

उच्चटामधुना कर्षं पयःपा मृत्युजिन्नरः ।

मध्वाज्यैः पयसा वापि निर्गुण्डी रोगमृत्युजित् ॥ ६ ॥

पलाशतैलं कर्षकं षण्मासं मधुना पिवेत् ।
 दुग्धभोजी पञ्चशती सहस्रायुर्भवेन्नरः ॥ ७ ॥
 ज्योतिष्मतीपत्ररसं पयसा त्रिफलां पिवेत् ।
 मधुनाज्यन्ततस्तद्वत् शतावर्था रजः पलं ॥ ८ ॥
 क्षौद्राज्यैः पयसा वापि निर्गुच्छी रोगमृत्युजित् ।
 पञ्चाङ्गं निम्बचूर्णस्य खदिरकाद्यभाषितं ॥ ९ ॥
 कर्षं भृङ्गरसेनापि रोगजिञ्चामरो (१) भवेत् ।
 वदन्तिकाज्यमधुभुक् दुग्धभोजी च मृत्युजित् ॥ १० ॥
 कर्षचूर्णं हरीतक्या भाषितं भृङ्गराद्रसैः ।
 घृतेन मधुना सेव्य त्रिशतायुश्च रोगजित् ॥ ११ ॥
 वाराहिका भृङ्गरसं लोहचूर्णं शतावरी ।
 साज्यं कर्षं (२) पञ्चशती कार्त्तचूर्णं शतावरी ॥ १२ ॥
 भाषितं भृङ्गराजेन मध्वाज्यन्त्रिशती भवेत् ।
 ताम्रं मृतं (३) मृततुल्यं (४) गन्धकञ्च कुमारिका ॥ १३ ॥
 रसैर्विमृज्य हे गुच्छे साज्यं पञ्चशताब्दवान् ।
 अश्वगन्धा पलं तैलं साज्यं खण्डं शताब्दवान् ॥ १४ ॥
 पलम्युनर्षवाचूर्णं मध्वाज्यपयसा पिवन् ।
 अशोकचूर्णस्य पलं मध्वाज्यं पयसार्त्तिनुत् ॥ १५ ॥
 तिलस्य तैलं समधु नस्यात् कृष्णाकचः शती ।
 कर्षमचं समध्वाज्यं शतायुः पयसा पिवन् ॥ १६ ॥

१ रोगनुञ्चामरो भवेदिति ज० ।

३ ताम्राक्षतमिति ज० ।

२ साज्यं सर्षपमिति ज० ।

४ सुरतुल्यमिति ज०, ज०, च ।

अभयं सगुहञ्जगध्वा घृतेन मधुरादिभिः ।
 दुग्धान्नभुक् कृष्णकेशोऽरोगी पञ्चशताब्दवान् ॥ १७ ॥
 पलङ्गुष्णाण्डिकाचूर्णं मध्वान्यपयसा पिवन् ।
 मासं दुग्धान्नभोजी च सहस्रायुर्विरोगवान् ॥ १८ ॥
 शालूकचूर्णं भृङ्गान्ज्यं समध्वान्यं शताब्दकृत् ।
 कटुतुम्बीतैलनस्यं कर्षं शतद्वयाब्दवान् ॥ १९ ॥
 त्रिफला पिप्पली शुण्ठी सेविता त्रिशताब्दकृत् ।
 शताब्दर्याः पूर्वयोगः सहस्रायुर्वलातिकृत् ॥ २० ॥
 चित्रकेन तथा पूर्वस्तथा शुण्ठीविडङ्गतः ।
 लोहेन भृङ्गराजेन बलयया निम्बपञ्चकैः ॥ २१ ॥
 खदिरेण च निर्गुण्ड्या कण्टकार्याथ वासकात् ।
 वर्षाभुवा तद्रसैर्वा भावितो वटिकाकृतः ॥ २२ ॥
 चूर्णं हृतैर्वा मधुना गुडाद्यैर्वारिणा तथा ।
 ॐ ह्रूं स इतिमन्त्रेण मन्त्रितो योगराजकः ॥ २३ ॥
 मृतसञ्जीवनीकल्पो रोगमृत्युञ्जयो भवेत् ।
 सुरासुरैश्च मुनिभिः सेविताः कल्पसागराः ।
 गजायुर्वेदं प्रोवाच पालकाप्योऽङ्गराजकं ॥ २४ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे कल्पसागरो नाम पञ्चाशीत्यधिक-

द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— 000 —

गजचिकित्सा ।

पालकाप्य उवाच(१) । गजलक्ष्म चिकित्साञ्च लोमपाद वदामि ते ।

दीर्घहस्ता महीच्छासाः प्रसस्तास्ते सहिष्णवः ॥ १ ॥

त्रिंशत्यष्टादशनखाः शीतकालमदाश्च ये ।

दक्षिणञ्चोन्नतन्दन्तं वृंहितं जलदोपमं ॥ २ ॥

कर्णौ च विपूलौ येषां सूक्ष्मविन्धन्वितत्वचौ ।

ते धार्या न तथा धार्या वामना ये च सङ्गुशाः(२) ॥३॥

हस्तित्यः पार्श्वगर्भस्थो ये च मूढा मतङ्गजाः ।

वर्णं सत्त्वं बलं रूपं कान्तिः संहननञ्चवः ॥ ४ ॥

सप्तस्थितो गजखेटक् सङ्गामिरीञ्चयेत्स च ।

कुञ्जराः परमा शोभा शिविरस्य बलस्य च ॥ ५ ॥

आयत्तं कुञ्जरैश्चैव विजयं पृथिवीक्षितां ।

पाकलेषु च सर्वेषु कर्त्तव्यमनुवासनं ॥ ६ ॥

घृततैलपरीपाकं स्थानं वातविवर्जितं ।

स्कन्धेषु च क्रिया कार्या तथा पालकवद्धृपाः ॥ ७ ॥

गोमुत्रं पाण्डुरोगेषु रजनीभ्यां घृतन्दिज ।

आनाहे तैलसिक्तस्य निषेकस्तस्य शस्यते ॥ ८ ॥

लवणैः पञ्चभिर्भिन्ना प्रतिपानाय वारुणी ।

१ धन्वन्तरिववाचेति ज० ।

२ मर्हना इति ज० ।

विडङ्गत्रिफलाव्योषसैन्धवैः कवलान् कतान् ॥ ८ ॥
 मूर्च्छासु भोजयेन्नागं क्षौद्रन्तोयञ्च पाययेत् ।
 अभ्यङ्गः शिरसः शूले नस्यञ्चैव प्रशस्यते ॥ १० ॥
 नागानां ज्वेहपुटकः पादरोगानुपक्रमेत् ।
 पश्चात् कल्ककषायेण शोधनञ्च विधीयते ॥ ११ ॥
 शिखितिसिरिलावानां धिप्पलीमरिचान्बितैः ।
 रसैः सम्भोजयेन्नागं वेपथुर्यस्य जायते ॥ १२ ॥
 बालविष्वं तथा लोभ्रं धातकी सितया सह ।
 अतीसारविनाशाय पिण्डीं भुञ्जीत कुञ्जरः ॥ १३ ॥
 नस्यं करग्रहे देयं घृतं लवणसंयुतम् ।
 मागवीनागराजाजीववागूर्मुस्तसाधिता ॥ १४ ॥
 उत्कर्णके तु दातव्या वाराहञ्च तथा रसम् ।
 दशमूलकुलत्थास्त्रकाकमाचीविपाचितम् ॥ १५ ॥
 तैलमूषणसंयुक्तं गलग्रहगदापहम् ।
 अष्टभिल्वणैः पिष्टैः प्रसन्नाः पाययेद्दृष्टम् ॥ १६ ॥
 मूत्रभङ्गे ऽथ वा वीजं कथितं चपूषस्य च ।
 त्वग्दोषेषु पिवेन्निम्बं हृषं वा कथितं द्विपः ॥ १७ ॥
 गवां मूत्रं विडङ्गानि कृमिकीष्ठेषु शस्यते ।
 शृङ्गवेरकणाद्राक्षाशकराभिः शृतं पयः ॥ १८ ॥
 क्षतक्षयकरं पानं तथा मांसरसः शुभः ।
 मुद्गीदमं व्योषयुतमरुचौ तु प्रशस्यते ॥ १९ ॥
 त्रिवृद्धोषाग्निदन्त्यर्कश्यामाचीरेभपिप्पली ।
 एतैर्गुल्माहरः ज्वेहः कृतञ्चैव तद्यापरः ॥ २० ॥

भेदनद्रावणाभ्यङ्गञ्चै हपानानुवासनैः ।
 सर्वानेव समुत्पन्नान् विद्रवान् समुपाहरेत् ॥ २१ ॥
 यष्टिकं मुद्गसूपेन(१) शारदेन तथा पिबेत् ।
 बालविस्त्रैस्तथा लेपः कटुरीगेषु शस्यते ॥ २२ ॥
 विडङ्गे न्द्रयवौ हिङ्गु सरसं रजनीहयम् ।
 पूर्वाह्ने पाययेत् पिण्डान् सर्वशूलोपशान्तये ॥ २३ ॥
 प्रधानभोजने तेषां यष्टिकम्रीहिशालयः ।
 मध्यमो यवगोधूमौ शेषा दन्तिनि चाधमाः ॥ २४ ॥
 यवश्चैव तथैवेक्षुर्नागानां बलवर्द्धनः ।
 नागानां यवसं शुष्कं तथा धातुप्रकोपणं ॥ २५ ॥
 मदक्षीणस्य नागस्य पयःपानं प्रशस्यते ।
 दीपनीयैस्तथा द्रव्यैः शृतो मांसरसः शुभः ॥ २६ ॥
 वायसः कुक्कुरयोभौ काकीलूककुली हरिः ।
 भवेत् चौद्रेण संयुक्तः पिण्डो युद्धे महापदि(२) ॥ २७ ॥
 कटुमत्स्यविडङ्गानि चारः कोषातकी पयः ।
 हरिद्रा चेति धूपीयं कुक्कुरस्य जयावहः ॥ २८ ॥
 पिप्पलीतण्डुलास्तौर्लं माध्वीकं माषिकम् तथा ।
 नेत्रयोः परिषेकीयं दीपनीयः प्रशस्यते ॥ २९ ॥
 पूरीषस्रटकायाश्च तथा पारावतस्य च ।
 क्षीरवृक्षकरीषाश्च(३) प्रसन्नायेष्टमञ्जनं ॥ ३० ॥

१ मुदगसूपेति ज०, ज० च ।

२ क्षीरवृक्षकरीषावेति ज० ।

३ मदाव इति ज० ।

अनेनाञ्जितनेत्रस्तु करोति कर्णं रणे ।
 उत्पलानि च मीलानि सुस्तन्तगरमेव च ॥ ३१ ॥
 तण्डुलोदकोपिष्टानि नेत्रनिर्वापनं परम् ।
 नखद्वयी नखच्छेदस्तैलसेकश्च मास्यपि ॥ ३२ ॥
 शय्यास्थानं भवेच्चास्य करीषैः पांशुभिस्तथा ।
 शरन्नदावयोः सेकः सर्पिषा च तथेष्यते ॥ ३३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे गजचिकित्सा नाम षड्शीत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—0*0—

अश्ववाहनसारः ।

धन्वन्तरिर्वाच । अश्ववाहनसारश्च वक्ष्ये चाश्वचिकित्सनम् ।
 वाजिनां संप्रहः कार्य्यो धर्मकमार्थसिद्धये ॥ १ ॥
 अश्विनी अवणं हस्तं उत्तरात्रितयन्तथा ।
 नक्षत्राणि प्रशस्तानि हयानामाद्विवाहने ॥ २ ॥
 हेमन्तः शिशिरश्चैव वसन्तश्चाश्ववाहने ।
 ग्रीष्मेशरदि वर्षासु निषिद्धं वाहनं ह्ये ॥ ३ ॥
 तीव्रैर्न च परैर्हृष्टैरदेशे न च ताण्डयेत् ।
 कीलास्थिसंकुले चैव विषमे कण्टकान्विते ॥ ४ ॥

बाहुकापङ्कसंच्छन्ने गर्त्तागर्त्तप्रदूषिते ।
 अचित्तज्ञो विनोपायैर्वाहनं कुर्वते तु यः ॥ ५ ॥
 स बाह्यते ह्येनैव पृष्ठस्यः कटिका विना(१) ।
 ह्यन्दं विज्ञापयेत् कोपि सुकृती धीमता वरः ॥ ६ ॥
 अभ्यासादभियोगाच्च विनाशास्त्रं स्ववाहकः ।
 ज्ञातस्य प्राक्षुखस्याथ देवान् वपुषि योजयेत् ॥ ७ ॥
 प्रशवादिनमोक्षेन स्वबीजेन यथाक्रमम् ।
 ब्रह्मा चित्ते बले विष्णुर्वैनतेयः पराक्रमे ॥ ८ ॥
 पार्श्वे रुद्रा गुरुर्बुधौ विश्वेदेवाश्च मर्मसु ।
 दृगावत्तं दृशीन्धर्कीं कर्णयोरश्विनौ तथा ॥ ९ ॥
 जठरेऽग्निः स्वधा स्वेदे वाग्जिह्वायां जवेऽनिलः ।
 पृष्ठतो नाकपृष्ठस्तु खुराग्रे सर्वपर्वताः ॥ १० ॥
 ताराश्च रोमकूपेषु हृदि चान्द्रमसी कला ।
 तेजस्वनीरतिः श्रोण्यां ललाटे च जगत्पतिः ॥ ११ ॥
 प्रहाश्च हेमिने चैव तथैवीरसि वासुकिः ।
 उपोषितोऽर्चयेत् सादी ह्यं दक्षन्तुतो जपेत् ॥ १२ ॥
 ह्य गन्धर्वराजस्व' नृणाञ्च वचनं मम ।
 गन्धर्वकुलजातस्व' माभूस्व' कुलदूषकः ॥ १३ ॥
 द्विजानां सत्यवाक्येन सोमस्य गरुडस्य च ।
 रुद्रस्य वरुणस्यैव पवनस्य बलेन च ॥ १४ ॥
 हुताशनस्य दीप्त्या च स्मर जातिं तुरङ्गम ।
 स्मर राजेन्द्रपुत्रस्व' सत्यवाक्यमनुस्मर ॥ १५ ॥

१. कटिकां विनेति क०, अ० च ।

स्मर त्वं वारुणीं कन्यां स्मर त्वं कौस्तुभं मणिं ।
 क्षीपोदसागरे चैव मथ्यमाने सुरासुरैः ॥ १६ ॥
 तत्र देवकुले जातः स्ववाक्यं परिपालय ।
 कुले जातस्वमश्वानां मित्रं मे भव शाश्वतम् ॥ १७ ॥
 शृणु मित्र त्वमेतच्च सिद्धो मे भव वाहन ।
 विजयं रक्ष माञ्चैव समरे मिद्धिमावह ॥ १८ ॥
 तत्र पृष्ठं समारुह्य हता दैत्याः सुरैः पुरा ।
 अधुना त्वां समारुह्य जेष्यामि रिपुवाहिनीं ॥ १९ ॥
 कर्णजापन्ततः कृत्वा विमुह्य च तथा प्यरीन्(१) ।
 पर्यायनेद्वयं सादी वाहयेद्दुयुद्धतो जयः ॥ २० ॥
 सञ्जाताः स्वशरीरेण(२) दोषाः प्रायेण वाजिनां ।
 हन्यन्तेऽतिप्रयत्नेन गुणाः सादिवरैः पुनः ॥ २१ ॥
 सहजा इव दृश्यन्ते गुणाः सादिवरोद्भवाः ।
 नाशयन्ति गुणानन्ये सादिनः सहजानपि ॥ २२ ॥
 गुणानेको विजानाति वेत्ति दोषांस्तथाऽपरः ।
 धन्यो धीमान् ह्ययं वेत्ति नोभयं वेत्ति मन्दधीः ॥ २३ ॥
 अकर्मज्ञोऽनुपायज्ञो वेगासक्तोऽतिकीपनः ।
 घनदण्डरतिच्छिद्रे यः समोपि न शस्यते ॥ २४ ॥
 उपायज्ञोऽथ चित्तज्ञो विशुद्धो दोषनाशनः ।
 गुणार्जनपरो नित्यं सर्वकर्मविशारदः ॥ २५ ॥
 प्रयत्नेण गृहीत्वाऽथ प्रविष्टो वाहभूतलम् ।
 सव्यापसव्यभेदेन वाहनीयः स्वसादिना ॥ २६ ॥

१ तथासुरानिति ज०, अ०, ठ० च ।

२ सच जाताः शरीरेषुति ज० ।

आरुह्य सहसा नैव ताडनीयो हयोत्तमः ।
 ताडनादुभयमाप्नोति भयान्मोहश्च जायते ॥ २७ ॥
 प्रातः सादी भ्रुतेनैव कल्गामुद्धृत्य चालयेत् ।
 मन्दं मन्दं विना नालं धृतवल्गो दिनान्तरे ॥ २८ ॥
 प्रोक्तमाश्वसनं सामभेदीऽश्वेन नियोज्यते ।
 कषादिताडनं दण्डो दानं कालसहिष्णुता ॥ २९ ॥
 पूर्वपूर्वविशुद्धौ तु विदध्यादुत्तरोत्तरम् ।
 जिह्वातले विनायोगं विदध्याद्वाहने ह्ये ॥ ३० ॥
 गुणैतरश्रतां कल्गां सृक्कण्या सह गाहयेत् ।
 विचार्य वाहनं कुर्याच्छिथिलानां शनैः शनैः ॥ ३१ ॥
 ह्यं जिह्वाङ्गमाहीने जिह्वाग्रन्त्रिं विमोचयेत् ।
 गाटतां मोचयेत्तावद्यावत् स्तीभं न मुञ्चति ॥ ३२ ॥
 कुर्याच्छ्रुतमुरस्त्राणमविलालञ्च मुञ्चति ।
 जर्हाननः स्वभावाद्यस्तस्योरस्त्राणमस्रथम् ॥ ३३ ॥
 विधाय वाहयेद्दृष्ट्या लीलया सादिसत्तमः ।
 तस्य सव्येन पूर्वेण संयुक्तं सव्यवल्गया ॥ ३४ ॥
 यः कुर्यात्पश्चिमं पादं गृहीतस्तेन दक्षिणः ।
 क्रमेणानेन यो सेवां कुरुते वामवल्गया ॥ ३५ ॥
 पादौ तेनापि पादः स्याद्गृहीतो वाम एव हि ।
 अग्रे चञ्चरणे त्यक्ते जायते सुदृढासनं ॥ ३६ ॥
 यो हृत्तौ दुष्करे चैव मोटके नाटकायनं ।
 सव्यहीनं खलीकारो हनने गुणने तथा ॥ ३७ ॥
 स्वभावं हि तुरङ्गस्य मुखव्यावर्तनं पुनः ।

न चैवेत्थं तुरङ्गाणां पादग्रहणहेतवः ॥ ३८ ॥
 विभ्रस्तं ह्यमालोक्य गाढमापीड्य चासनं ।
 दोकयित्वा मुखे पादं ग्राह्यतो लोकनं हितं ॥ ३९ ॥
 गाढमापीड्य रागाभ्यां वल्गामाकृष्य गृह्यते ।
 तद्वन्नाद युष्मपादं(१) तद्वद्वक्त्रनमुच्यते ॥ ४० ॥
 संवीच्य वरुगया पादान् वल्गामामीष्य वाञ्छितम् ।
 वाह्यपार्श्विप्रयोगात्तु(२) यत्र तत्ताडनं मतम् ॥ ४१ ॥
 प्रलयाविप्लवे ज्ञात्वा क्रमेषानेन बुद्धिमान् ।
 मोटनेन चतुर्थेन विधिरेष विधीयते ॥ ४२ ॥
 नाधत्तेऽधश्च यः पादं योऽश्वी लघुनि मण्डले ।
 मोटनोद्गक्रनाभ्यान्तु ग्राहयेत् पादभीषितं ॥ ४३ ॥
 वटयित्वासने(३) गाटं मन्दमादाय यो ब्रजेत् ।
 ग्राह्यते संग्रहाद्यत्र तत्संग्रहश्चमुच्यते ॥ ४४ ॥
 हत्वा पार्श्वे प्रहारेण स्थानस्थो व्यथमानसम् ।
 वल्गामाकृष्य पादेन बाह्यकण्ठकपायनम्(४) ॥ ४५ ॥
 उत्थितो योऽङ्घ्रिणानेन पार्श्विपादात्तुरङ्गमः ।
 गृह्यते यत् खलीकृत्य खलीकारः स चेष्यते ॥ ४६ ॥
 गतित्रये पियः पादमादत्ते नैव वाञ्छितः ।
 हत्वा तु यत्र दण्डेन ग्राह्यते गहनं हि तत् ॥ ४७ ॥
 खलीकृत्य चतुष्केण तुरङ्गी वल्गयाम्यया ।
 उच्छास्य ग्राह्यतेऽन्यत्र तत्स्यादुच्छासनं पुनः ॥ ४८ ॥

१ भठकासायहृत्पादमिति ज० ।

२ बाह्यपार्श्वे प्रयोगात्विति ख० ।

३ वटयित्वासने इति ख० ।

४ पादकण्ठकपायनमिति ख० ।

स्वभावं वह्निरस्यन्तं तस्यां दिशि पदायनं ।
 निवीज्य ग्राहयेत्तत् सुखव्यायत्तनं मतम् ॥ ४८ ॥
 ग्राहयित्वा ततः पादं त्रिविधासु यथाक्रमम् ।
 साधयेत् पञ्चधारासु क्रमशो मण्डलादिषु ॥ ५० ॥
 आजनीर्षाननं वाहं शिथिलं वाहयेत् सुधीः ।
 अङ्गेषु लाघवं यावत्तावत्तं वाहयेत्तद्यं ॥ ५१ ॥
 मृदुः स्कन्धे लघुर्वक्त्रे शिथिलः सर्वसन्धिषु ।
 यदा स सादिनो वश्यः सङ्गृह्णीयात्तदा ह्ययं ॥ ५२ ॥
 न त्यजेत् पश्चिमं पादं यदा साधुर्भवेत्तदा ।
 तदाकृष्टिर्विधातव्या पाश्चिभ्यामिह बल्लगया ॥ ५३ ॥
 तत्र त्रिको यथा तिष्ठेदुद्ग्रीवोऽक्षः समाननः ।
 धरायां पश्चिमी पादौ अन्तरीक्षे यदाश्रयो ॥ ५४ ॥
 तदा सन्धारणं कुर्व्याद्गठाठवाहञ्च सुष्टिना ।
 सहसैवं समाकृष्टो यस्तुरङ्गो न तिष्ठति ॥ ५५ ॥
 शरीरं विचिपन्तश्च साधयेन्मण्डलभ्रमैः ।
 क्षिपेत् स्कन्धश्च यो वाहं स च स्थाप्यो हि बल्लगया ॥ ५६ ॥
 गोमयं लवणं मूत्रं क्षिप्तं मृत्समन्वितम् ।
 अङ्गुलीषो मन्त्रिकादिदं शश्रमविनाशनः ॥ ५७ ॥
 मध्ये भद्रादिजातीनां मण्डो देयो हि सादिना ।
 दर्शनं भोततीक्ष्णस्व निरुत्साहः क्षुधा ह्ययः ॥ ५८ ॥
 यथा वश्यस्तथा शिवा विनश्यन्त्यतिवाहिताः ।
 अवाहिता न मिथ्यन्ति तुङ्गवक्त्राश्च वाहयेत् ॥ ५९ ॥
 सम्पीड्य जानुयुग्मे न स्थिरमुष्टिसुरङ्गमं ।

गोमूत्राकुटिला वेणी पद्ममण्डलमासिका ॥ ६० ॥
 पद्मोलखलिका कार्या गर्वितास्तेऽतिकीर्तिताः(१) ।
 संचिमच्चैव किंचिमं कुञ्चितञ्च यथाचितम्(२) ॥ ६१ ॥
 वल्गितावल्गितौ चैव षोढा चेत्यमुदाहृतम् ।
 वीथीधनुःशतं यावदशीतिर्भवतिस्तथा ॥ ६२ ॥
 भद्रः सुसाधो वाजी स्यान्नन्दो दण्डैकमानसः ।
 मृगजङ्घो(३) मृगो वाजी सङ्कोर्णस्तत्समन्वयात् ॥ ६३ ॥
 शर्करामधुलाजादः सुगन्धोऽश्वः शुचिर्हिजः ।
 तेजस्वी क्षत्रियश्चाश्वो विनीतो बुद्धिमांश्च यः ॥ ६४ ॥
 शूद्रोऽशुचिश्चलो मन्दो विरूपो विमतिः खलः ।
 वल्गाया धार्यमाणोऽश्वो लालकं यश्च दश(४)त् ॥ ६५ ॥
 धारासु योजनीयोऽसौ प्रग्रहग्रहमोक्षणैः ।
 अश्वदिलक्षणं वक्ष्ये शालिहीनो यथाऽब्रुदत् ॥ ६६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अश्ववाहनसारी नाम सप्ताशीत्य-

धिकद्विंशततमोऽध्यायः ॥

१ गर्वितास्तेऽतिकीर्तिता इति ख० ।

२ यथाचितमिति अ० ।

३ मृगजङ्घ इति ख०, अ० च ।

अथाष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—000—

अथचिकित्सा ।

शालिहोत्र उवाच । अश्वानां लक्षणं वक्ष्ये चिकित्साञ्चैव(१)सुश्रुत ।

ह्रीमदन्तो विदन्तश्च करालो कृष्णतालुकः ॥ १ ॥

कृष्णजिह्वश्च यमजीजातमुष्कश्च यस्तथा ।

द्विशफश्च तथा शृङ्गी त्रिवर्णी व्याघ्रवर्णकः ॥ २ ॥

खरवर्णी भस्मवर्णी जातवर्णश्च काकुदी ।

श्वित्री च काकसादी च खरसारस्तथैव च ॥ ३ ॥

वानराक्षः कृष्णशटः कृष्णगुह्यस्तथैव च ।

कृष्णप्रोथश्च शुकश्च यश्च तित्तिरिसन्निभः ॥ ४ ॥

विषमः श्वेतपादश्च ध्रुवावर्त्तविवर्जितः ।

अशुभावर्त्तसंयुक्तो वर्जनौयस्तरङ्गमः ॥ ५ ॥

रन्ध्रोपरन्ध्रयोर्द्वौ द्वौ द्वौ मस्तकवक्षसोः ।

प्रयाणे च ललाटे च कण्ठावर्त्ताः शुभा दश ॥ ६ ॥

सृक्कृष्णाश्च ललाटे च कर्णमूले निगालके ।

बाहुमूले गले श्रेष्ठा आवर्त्तास्त्वशुभाः परे ॥ ७ ॥

शुक्रेन्द्रगोपचन्द्राभा ये च वायससन्निभाः ।

सुवर्णवर्णाः स्निग्धाश्च प्रशस्यास्तु सदैव हि ॥ ८ ॥

दीर्घश्रीवाक्षिकूटाश्च ऋस्रकर्णाश्च शोभनाः ।

१ चिकित्साकवेति अ० ।

रात्रान्तरङ्गमा यत्र(१) विजयं वर्जयेत्ततः ॥ ८ ॥
 पाणितस्तु हृद्यो दन्ती शुभदो दुःखदोऽन्यथा ।
 त्रियः पुत्रास्तु गन्धर्वा वाजिनो रत्नसुत्तमम् ॥ १० ॥
 अश्वमेधे तु तुरगः पवित्रत्वात्तु ह्ययते ।
 वृषो निम्बहृत्तयो च गुडूची च समाक्षिका ॥ ११ ॥
 सिंहा गन्धकरी पिण्डी स्नेहश्च शिरसस्तथा ।
 शिङ्गु पुष्करमूलञ्च नागरं सास्त्रवेतसं ॥ १२ ॥
 पिप्पलीसैन्धवयुतं शूलघ्नं चोष्णवारिणा ।
 नागरातिविषा मुस्ता सानन्ता त्रिखमालिका ॥ १३ ॥
 काशमेघां पिवेद्वाजी सर्वातीसारनाशनम् ।
 प्रियङ्गुसारिवाभ्याश्च युक्तमाजं शृतं(२) पयः ॥ १४ ॥
 पर्याप्तशर्करं पीत्वा अमाद्वाजी विमुच्यते ।
 द्रोणिकायान्तु दातव्या तैलवस्तिस्तुरङ्गमे ॥ १५ ॥
 कोष्ठजा च शिरा वेध्या तेन तस्य सुखं भवेत् ।
 दाडिमं चिफला व्योषं गुडञ्च समभाविकम् ॥ १६ ॥
 पिण्डमेतत् प्रदातव्यमश्वानां काशनाशनम् ।
 प्रियङ्गुलोध्रमधुभिः पिवेद्दृषरसं हृद्यः ॥ १७ ॥
 शीरं वा पञ्चकोलाद्यं काशनाह्नि प्रमुच्यते ।
 प्रस्तम्भेषु च सर्वेषु श्रेय आदौ विशीघ्रणम् ॥ १८ ॥
 अभ्यङ्गीद्वर्त्तनैः स्नेहं नस्यवर्त्तिक्रमः स्मृतः ।
 ज्वरितानां तुरङ्गाणां पयसैव क्रियाक्रमः ॥ १९ ॥
 लोध्रकन्धरयोर्मूलं मातुलाङ्गाम्बिनागराः ।

१ रात्रीतुरङ्गमा वनेति च० ।

२ हृतमिति च० ।

कुष्ठहिङ्गुवचारास्त्रालीपीयं शोधनाशनः ॥ २० ॥
 मञ्जिष्ठा मधुकं द्राक्षाटहृत्यो रक्तचन्दनम् ।
 त्रपुषीवीजमूलानि शृङ्गाटककशेरुकम् ॥ २१ ॥
 अजापयःशृतमिदं सुशीतं शर्करान्वितं ।
 पीत्वा नीरशनो वाजी रक्तमेहात् प्रमुच्यते ॥ २२ ॥
 मन्याहनुनिगालस्थशिराशीथो गलग्रहः ।
 अभ्यङ्गः कटुतैलेन(१) तत्र तेष्वेव ग्रस्यते ॥ २३ ॥
 गलग्रहगदो शीथः प्रायशी गलदेशके ।
 प्रत्यक्पुष्पी तथा वङ्गः सैन्धवं सौरसो रसः ॥ २४ ॥
 कृष्णाहिङ्गुयुतैरेभिः कृत्वा नस्यं न सीदति ।
 निशे ज्योतिष्मती पाठा कृष्णा कुष्ठं वचा मधु ॥ २५ ॥
 जिह्वास्तम्भे च लेपोऽयं गुडमूत्रयुतो हितः ।
 तिलैर्यष्ट्या रजन्या च निम्बपत्रैश्च योजिता ॥ २६ ॥
 चोद्रेण शोधनी पिण्डी सर्पिषा व्रणरोपणी ।
 अभिघातेन खञ्जन्ति ये ह्यश्वास्तीव्रवेदनाः ॥ २७ ॥
 परिषेकक्रिया तेषां तैलेनाशु रुजापहा ।
 दीषकोपाभिघाताभ्यां पक्वभिन्ने व्रणक्रमः ॥ २८ ॥
 अश्वतथोडुम्बरप्लक्षमधूकवटकल्कनैः ॥ २९ ॥
 प्रभूतसलिलः काथः सुखोष्णः व्रणशोधनः ।
 शताङ्गा नागरं रास्त्रा मञ्जिष्ठाकुष्ठसैन्धवैः ॥ ३० ॥
 देवदारुवचायुग्मरजनौरक्तचन्दनैः ।
 तैलसिद्धं कषायेण गुडूच्याः पयसा सह ॥ ३१ ॥

१ तिलतैलेनेति च० ।

अक्षणे वस्तिमश्वे च योज्यं सर्वत्र लिङ्गिने ।
 रक्तस्त्रावो जलोकाभिर्नैत्रान्ते नेत्ररोगिनः ॥ ३२ ॥
 खादिरोडुम्बराश्वत्थकषायेण च साधनम् ।
 धात्रीदुरालभातिक्ताप्रियङ्गुकुङ्कुमैः समैः ॥ ३३ ॥
 गुडूच्या च क्षतः कल्को हितो युक्तावलम्बिने ।
 उत्पाते च शिले आव्ये शुष्कशिफे तथैव च ॥ ३४ ॥
 क्षिप्रकारिणि दीषे च सद्यो विदलमिष्यते(१) ।
 गोशङ्कन्मष्णिकाकुष्ठरजनीतिलसर्षपैः ॥ ३५ ॥
 गवां मूत्रेण पिष्टैश्च मर्दनं कण्डूनाशनम् ।
 शीतो मधुयुतः कायो नाशिकायां सशर्करः ॥ ३६ ॥
 रक्तपित्तहरः पानादश्वकर्णैस्तथैव च ।
 सप्तमे सप्तमे देयमश्वानां लवणं दिने ॥ ३७ ॥
 तथा भुक्तवतान्देया अतिपाने तु वारुणी ।
 जीवनीयैः समधुरैर्भृङ्गीकाशर्करायुतैः ॥ ३८ ॥
 सपिप्पलीकैः शरदि प्रतिपानं सपद्मकैः ।
 विडङ्गापिप्पलीधान्यशताह्वालीघ्नसैन्धवैः ॥ ३९ ॥
 सचित्रकैस्तुरङ्गाणां प्रतिपानं हिमागमे ।
 लोघ्नं प्रियङ्गुकामुस्तापिप्पलीविश्वभेषजैः ॥ ४० ॥
 सद्यौद्रैः प्रतिपानं स्यादसन्ते कफनाशनम् ।
 प्रियङ्गुपिप्पलीलोघ्नयष्ट्याच्चैः समहौषधैः ॥ ४१ ॥
 निदाघे सगुडा देया मदिरा प्रतिपानके ।

१ वेधनमिष्यत इति ज०, अ० च ।

लोभ्रकाष्ठं सलवणं पिप्पल्यो विश्वभेषजम् ॥ ४२ ॥
 भवेत्तैलयुतैरेभिः प्रतिपानं घनागमे ।
 निदाघोद्धृतपित्तार्त्ताः शरत्सु पुष्टशीणिताः ॥ ४३ ॥
 प्राहृद्भिन्नपुरीषाश्च पिवेयुर्वाजिनो घृतम् ।
 पिवेयुर्वाजिनस्तैलं कफवायुधिकास्तु ये ॥ ४४ ॥
 स्नेहव्यापन्नवी येषां कार्यं तेषां विरूक्षणम् ।
 त्र्यहं यवागूरून्ना स्याद् भोजनं तक्रसंयुतम् ॥ ४५ ॥
 शरन्निदाघयोः सर्पिस्तैलं शीतवसन्तयोः ।
 वर्षासु शिशिरे चैव वस्तौ यमकमिष्यते ॥ ४६ ॥
 गुर्वभिष्यन्दिभक्तानि व्यायामं ज्ञानमातपम् ।
 वायुवर्जश्च वाहस्य स्नेहपीतस्य वर्जितम् ॥ ४७ ॥
 ज्ञानं पानं शक्तत्क्रूष्टमश्वानां सलिलागमे ।
 अत्यर्थं दुर्दिने काले पानमेकं प्रशस्यते ॥ ४८ ॥
 युक्तशीतातपे काले द्विःपानं ज्ञपनं सकृत् ।
 ग्रीष्मे त्रिजानपानं स्याच्चिरं तस्यावगाहनम् ॥ ४९ ॥
 निस्तूषाणां प्रदातव्या यवानां चतुराटकी ।
 चणकत्रीहिमौद्गानि कलायं वापि दापयेत् ॥ ५० ॥
 अहोरात्रेण चार्द्धस्य यवसस्य तुला दश ।
 अष्टौ शुष्कस्य दातव्याश्चतस्त्रोऽथ वुषस्य वा ॥ ५१ ॥
 दूर्वा पित्तं यवः कासं वुषश्च श्लेष्मसञ्चयम् ।
 नाशयत्यर्जुनः श्वासं तथा मानो बलञ्चयम् ॥ ५२ ॥
 वातिकाः पैत्तिकाश्चैव श्लेष्मजाः सान्निपातिकाः ।
 न रोगाः पीडयिष्यन्ति दूर्वाहारन्तुरङ्गमम ॥ ५३ ॥

द्वौ रज्जुबन्धौ दुष्टानां पक्षयोर्द्वयोरपि ।
 पञ्चाक्षनुष कर्त्तव्यी दूरकौलव्यपात्रयः ॥ ५४ ॥
 वासेयुस्त्वास्तृते स्थाने कृतधूपनभूमयः ।
 यत्नोपन्यस्तयवसाः सप्रदीपाः सुरक्षिताः ।
 कृकवाकृजकपयो धार्याश्चाश्वगृहे नृगाः ॥ ५५ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अश्वयुर्वेदो नामाष्टाशीत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

अश्वशान्तिः ।

शालिहोत्र उवाच । अश्वशान्तिं प्रवक्ष्यामि वाजिरीगविमर्द्दनीं ।
 नित्यां नैमित्तिकीं काम्यां त्रिविधां शृणु सुश्रुत ॥ १ ॥
 शुभे दिने त्रीधरश्च त्रियमुच्चैः उवाच तं ।
 हयराजं समभ्यर्थ सावित्रैर्जुहुयाद्दृतं ॥ २ ॥
 द्विजेभ्यो दक्षिणान्दद्यादश्वहद्विस्तथा भवेत् ।
 अश्वयुक् शुकपक्षस्य पञ्चदश्याश्च शान्तिकं ॥ ३ ॥
 बहिः कुर्याद्विशेषेण नासत्पौ वरुणं यजेत् ।
 समुल्लिख्य ततो देवीं शाखाभिः परिवारयेत् ॥ ४ ॥
 घटान्सर्व्वरसैः पूर्णान् दिक्षु दद्यात्सवस्त्रकान् ।
 यवाग्न्यं जुहुयात् प्रार्थ्यं यजेदश्वान् साश्विनान् ॥ ५ ॥

विप्रेभ्यो दक्षिणान्दद्यान्नैमित्तिकमतः शृणु ।
 मकरादौ हयानाञ्च पञ्चैर्विष्णुं त्रियं यजेत् ॥ ६ ॥
 ब्रह्माणं शङ्करं सोममादित्यञ्च तथाश्विनौ ।
 रेवन्तमुच्चैःश्रवसन्दिक्पालांश्च दलेष्वपि ॥ ७ ॥
 प्रत्येकं पूर्णकुम्भैश्च वेद्यान्तत्सोम्यतः स्थले ।
 तिलाक्षताज्यसिद्धार्थान् देवतानां शतं शतं ।
 उपोषितेन कर्त्तव्यं कर्म चाश्वरुजापहं ॥ ८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अश्वशान्तिर्नामीनवत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—000—

गजशान्तिः ।

शालिह्वी च उवाच । गजशान्तिं प्रवक्ष्यामि गजरोगविमर्हनीम् ।
 विष्णुं त्रियञ्च पञ्चम्यां नागमैरावतं यजेत् ॥ १ ॥
 ब्रह्माणं शङ्करं विष्णुं शक्रं वैश्रवणं यमं ।
 चद्राकौ वरुणं वायुमग्निं पृथ्वीं तथा च खं ॥ २ ॥
 शेषं शैलान् कुञ्जरांश्च ये तेऽष्टौ देवयो नयः ।
 विरुपाक्षं महापद्मं भद्रं सुमनसन्तथा । ३ ॥
 कुमुदैरावणः पद्मः पुष्पदन्तोऽथ वामनः ।
 सुप्रतीकोञ्जनो नागा अष्टौ ह्योमोऽथ दक्षिणां ॥ ४ ॥

गजाः श्वान्युदकासिता वृद्धौ नैमित्तिकं शृणु ।
 गजानाम्करादौ च ऐशान्यां नगराहहिः ॥ ५ ॥
 स्थण्डिले कमले मध्ये विष्णुं लक्ष्मीञ्च केशरे ।
 ब्रह्माणं भास्करं पृथ्वीं यजेत् स्कन्दं ह्यनन्तकं ॥ ६ ॥
 खं शिवं सीमामिन्द्रादींस्तदस्त्राणि दले क्रमात् ।
 वज्रं शक्तिञ्च दण्डञ्च तोमरं पाशकं गदां ॥ ७ ॥
 शूलं पद्मम्बहिर्वृन्ते चक्रं सूर्यन्तथाश्विनौ ।
 वसूनष्टौ तथा साध्यान् याम्येऽथ नैर्ऋते दले ॥ ८ ॥
 देवानाङ्गिरसश्चाश्विभृगवो मरुतोऽनिले(१) ।
 विश्वेदेवांस्तथा दक्षे रुद्रा रौद्रेऽथ मण्डले ॥ ९ ॥
 ततो वृत्तया रेखया तु देवान् वै वाह्यतो यजेत् ।
 स्रतकारानृषीन् वाणीं पूर्वादौ सरितो गिरीन् ॥ १० ॥
 महाभूतानि कोणेषु ऐशान्यादिषु संयजेत् ।
 पद्मं चक्रं गदां शङ्खं चतुरश्रन्तु मण्डलं ॥ ११ ॥
 चतुर्द्वारं ततः कुम्भाः(२) अग्न्यादौ च पताकिकाः(३) ।
 चत्वारस्तोरणा द्वारि नागानैरवतादिकान् ॥ १२ ॥
 पूर्वादौ चौषधीभिश्च देवानां भाजनं पृथक् ।
 पृथक्शताहुतीश्चाज्यैर्गजानर्थं प्रदक्षिणं ॥ १३ ॥
 नागं वज्रं देवतादीन् वाह्यैर्जग्मः स्वकं गृहम् ।
 द्विजेभ्यो दिक्षिणां दद्यात् हयवैद्यादिकस्तथा ॥ १४ ॥
 करिणीन्तु समारुह्य वदेत् कर्णन्तु कालवित् ।

१ मरुतोऽनिल इति अ० ।

२ पताकिन इति अ० ।

३ चतुःकुम्भा इति अ० ।

नागराजेऽमृते शान्तिं कृत्वाऽमुस्मिन्(१) जपेन्ननुम् ॥ १५ ॥
 श्रीगजस्त्रं कृतो राज्ञा भवानस्य गजाग्रणीः ।
 प्रभूर्मात्स्याग्रभक्तैस्त्वां पूजयिष्यति पार्थिवः ॥ १६ ॥
 लोकस्तदाज्ञया पूजां करिष्यति तदा तव ।
 पालनीयस्त्वया राजा युद्धेऽध्वनि तथा गृहे ॥ १७ ॥
 तिर्यग्भावं समुत्सृज्य दिव्यं भावमनुस्मर ।
 देवासुरे पुरा युद्धे श्रीगजस्त्रिदशैः कृतः ॥ १८ ॥
 ऐरावणक्षतः श्रीमानरिष्टो नाम वारणः ।
 श्रीगजानान्मु तत् तेजः सर्व्वमेवोपतिष्ठते ॥ १९ ॥
 तत्तेजस्तव नागेन्द्र दिव्यभावसमन्वितं ।
 उपतिष्ठतु भद्रन्ते रक्ष राजानमाहवे ॥ २० ॥
 इत्येवमभिषिक्तैर्नमारोहेत शुभे नृपः ।
 तस्यानुगमनं कुर्युः सशस्त्रनवसहजाः ॥ २१ ॥
 शालास्त्रसो स्थण्डिलेऽञ्जे दिक्पालादीन् यजेद्बुद्धिः ।
 केशरेषु बलं नागं भुवश्चैव सरस्वतीं ॥ २२ ॥
 मध्येषु छिण्डिमं प्रार्थ्य गन्धमाल्यानुलेपनैः ।
 हुत्वा देयस्तु कलसो रसपूर्णो द्विजाय च ॥ २३ ॥
 गजाध्यक्षं हस्तिपञ्च गणितञ्च पूजयेत् ।
 गजाध्यक्षाय तन्दद्यात् छिण्डिमं सोपि वादयेत् ।
 शुभगम्भीरशब्दैः स्याज्जघनस्थोऽभिवादयेत् ॥ २४ ॥
 इत्याम्नेये महापुराणे गजशान्तिर्नाम नवत्यधिकद्विंश-
 ततमोऽध्यायः ॥

१ कृतान्व्यस्मिन् इति ख०, ज०, अ० च ।

अथैकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— 000 —

शाक्यायुर्वदः !

धन्वन्तरिरुवाच । गोविप्रपालनं कार्यं राज्ञा गोशान्तिमावदे ।

गावः पवित्रा माङ्गल्या गीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ १ ॥

शक्तन्मूत्रं परं तासामलक्ष्मीनाशनं परं ।

गवां कण्डूयनं वारि शृङ्गस्याघौघमर्दनम् ॥ २ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिश्च रोचना ।

षडङ्गं परमं पाने दुःखप्राद्यादिवारणं ॥ ३ ॥

रोचना विषरक्षोष्ठी ग्रासदः स्वर्गगो गवां ।

यद्दृष्टे दुःखिता गावः स याति नरकन्नरः ॥ ४ ॥

परगोग्रासदः स्वर्गी गोहितो ब्रह्मलोकभाक् ।

गोदानात्कीर्त्तनाद्रक्षां कृत्वा चोद्धरते कुलम् ॥ ५ ॥

गवां श्वासात् पवित्रा भूः स्पर्शनात्किल्बिषक्षयः ।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ॥ ६ ॥

एकरान्नोपवासश्च श्लेष्माकमपि शोधयेत् ।

सर्वाशुभविनाशाय पुराचरितमीश्वरैः ॥ ७ ॥

प्रत्येकश्च चाहाभ्यस्तं महासान्त्वनं स्मृतं ।

सर्वकामप्रदञ्चैतत् सर्वाशुभविमर्दनम् ॥ ८ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रं पयसा दिवसानेकविंशतिं ।

निर्मलाः सर्वकामाप्त्या स्युर्गमाः सुर्नरोत्तमाः ॥ ९ ॥

त्रहमुष्णं पिवेन्मूत्रं त्रहमुष्णं घृतं पिवेत् ।
 त्रहमुष्णं पयः पीत्वा वायुमक्षः परं त्रहम् ॥ १० ॥
 तप्तकृच्छ्रव्रतं सर्वपापघ्नं ब्रह्मलोकदं ।
 शीतैस्तु शीतकृच्छ्रं स्याद्ब्रह्मोक्तं ब्रह्मलोकदं ॥ ११ ॥
 गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं वृत्तिं कुर्याच्च गोरसैः ।
 गोभिर्ब्रजेच्च भुक्तासु भुञ्जीताथ च गोव्रती ॥ १२ ॥
 मासेनैकेन निष्पापो गोलोकी स्वर्गगो भवेत् ।
 विद्याश्च गोमतीं जघ्ना गोलोकं परमं व्रजेत् ॥ १३ ॥
 गीतैर्बृहृत्परिष्परोभिर्विमाने तत्र मोदते ।
 गावः सुरभयो नित्यं गावो गुग्गुलगन्धिकाः ॥ १४ ॥
 गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्थयनं परं ।
 अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमम् ॥ १५ ॥
 पावनं सर्वभूतानां चरन्ति च वदन्ति च ।
 हविषा मन्त्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान्दिवि ॥ १६ ॥
 ऋषीणामग्निहोत्रेषु गावो होमेषु योजिताः ।
 सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमं ॥ १७ ॥
 गावः पवित्रं परमं गावो माङ्गल्यमुत्तमं ।
 गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः ॥ १८ ॥
 नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
 नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥ १९ ॥
 ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम् ।
 एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति ॥ २० ॥

(११)

देवब्राह्मणगोसाधुसाध्वीभिः सकलं जगत् ।
 धार्यते वै सदा तस्मात् सर्वं पूज्यतमा मताः ॥ २१ ॥
 पिबन्ति यत्र तत्तीर्थं गङ्गाद्या गाव एव हि ।
 गवां माहात्म्यमुक्तं हि चिकित्साञ्च तथा शृणु ॥ २२ ॥
 शृङ्गामयेषु धेनूनां तैलं दद्यात् ससैन्धवं ।
 शृङ्गवेरबलामांसकल्कसिद्धं समाश्लिकं ॥ २३ ॥
 कर्णशूलेषु सर्वेषु मष्णिष्ठाद्दिङ्गुसैन्धवैः ।
 सिंहं तैलं प्रदातव्यं रसोनेनाथ वा पुनः ॥ २४ ॥
 विष्वमूलमपामार्गन्धातकी च सपाटला ।
 कुटजन्दन्तमूलेषु लेपात्तच्छूलनाशनं ॥ २५ ॥
 दन्तशूलहरैर्द्रव्यैर्घृतं राम विपाचितं ।
 मुखरोगहरं त्र्यं जिह्वारोगेषु सैन्धवं ॥ २६ ॥
 शृङ्गवेरं हरिद्रे हे त्रिफला च गलग्रहे ।
 हृच्छूले वस्तिशूले च वातरोगे क्षये तथा ॥ २७ ॥
 त्रिफला घृतमित्रा च गवां पाने प्रशस्यते ।
 अतीसारे हरिद्रे हे पाठाञ्चैव प्रदापयेत् ॥ २८ ॥
 सर्वेषु कोष्ठरोगेषु तथा शाखागदेषु च ।
 शृङ्गवेरञ्च भार्गीञ्च कासे श्वासे प्रदापयेत् ॥ २९ ॥
 दातव्या भग्नसन्धाने प्रियङ्गुर्लंबणान्विता ।
 तैलं वातहरं पित्ते मधुयष्टीविपाचितं ॥ ३० ॥
 कफे व्योषञ्च समधु सपुष्टकरजोऽस्त्रजे ।
 तैलाज्यं हरितालञ्च भग्नक्षतिशृतन्ददेत् ॥ ३१ ॥
 मासास्तिलाः सगोधूमाः पशुक्षीरं घृतं तथा ।

एषां पिण्डी सलवणा वल्गानां पुष्टिदात्वियं ॥ ३२ ॥
 बलप्रदा विषाणां स्याद्ग्रहनाशाय धूपकः ।
 देवदारु वचा मांसी गुग्गुलुर्हिङ्गु सर्षपाः ॥ ३३ ॥
 ग्रहादिगदनाशाय एष धूपो गवां हितः ।
 घण्टा चैव गवां कार्या धूपेनानेन भूपिता ॥ ३४ ॥
 अश्वगन्धातिलैः शुक्लं तेन गौः क्षीरिणौ भवेत् ।
 रसायनञ्च पिण्याकं मत्तो यो धार्यते गृहे ॥ ३५ ॥
 गवां पुरीषे पञ्चम्यां नित्यं शान्त्यै त्रियं यजेत् ।
 वासुदेवञ्च गन्धाद्यैरपरा शान्तिरुच्यते ॥ ३६ ॥
 अश्वयुक्शुक्लपक्षस्य पञ्चदश्यां यजेद्धरिं ।
 हरिरद्रमजं सूर्यं त्रियमग्निं घृतेन च ॥ ३७ ॥
 दधि सम्प्राश्य गाः पूज्य कार्यां वह्निप्रदक्षिणं ।
 वृषाणां योजेयेद् युद्धं गीतवाद्यरवैर्वहिः ॥ ३८ ॥
 गवान्तु लवणन्देयं ब्राह्मणानाञ्च दक्षिणा ।
 नैमित्तिके माकरादौ यजेद्विष्णुं सह त्रिया ॥ ३९ ॥
 स्यण्डिलेजे मध्यगते दिक्षु केशरगान् सुरान् ।
 सुभद्राजो रविः पूज्यो बहुरूपो बलिर्वहिः ॥ ४० ॥
 ख विश्वरूपा सिद्धिश्च ऋद्धिः शान्तिश्च रोहिणी ।
 दिग्धेनवो हि पूर्वाद्याः कशरैश्चन्द्र ईश्वरः ॥ ४१ ॥
 दिक्पालाः पद्मपत्रेषु कुम्भेष्वग्नौ च होमयेत् ।
 क्षीरवृक्षस्य समिधः सर्षपाक्षततण्डुलान् ॥ ४२ ॥
 शतं शतं सुवर्णञ्च कांस्यादिकं द्विजे ददेत् ।
 गावः पूज्या विमोक्तव्याः शान्त्यै क्षीरादिसंयुताः ॥ ४३ ॥

अग्निरुवाच । शालिहोत्रः सुश्रुताय हव्यायुर्वेदमुक्तवान् ।

पालकाप्योऽङ्गराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत् ॥ ४४ ॥

इत्यान्वये महापुराणे शाब्द्यायुर्वेदो नामैकनवत्यधिक-
द्विंशततमोऽध्यायः ।

अथ द्विनवत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

—:०:—

मन्त्रपरिभाषा ।

अग्निरुवाच । मन्त्रविद्याहरिं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदं शृणु ।

विंशत्यर्थाधिका मन्त्रा मालामन्त्राः स्मृता द्विज ॥ १ ॥

दशाक्षराधिका मन्त्रास्तदर्वाग्वीजसंज्ञिताः ।

वार्षके सिद्धिदा ह्ये ते मालामन्त्रास्तु यौवने ॥ २ ॥

पञ्चाक्षराधिका मन्त्राः सिद्धिदाः सर्वदापरे ।

स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिधाः स्युर्मन्त्रजातयः ॥ ३ ॥

स्त्रीमन्त्रा वज्रिजायान्ता नमोन्ताश्च नपुंसकाः ।

शेषाः पुमांसस्ते शस्ता वश्योच्चाटविषेषु च(१) ॥ ४ ॥

क्षुद्रक्रियामयध्वंसे स्त्रियोऽन्यत्र(२) नपुंसकाः ।

मन्त्रावाग्नेयसौम्यास्थी ताराद्यन्तार्हयोजपेत् ॥ ५ ॥

तारान्याग्निवियत्प्रायो मन्त्र आग्नेय इत्यते ।

शिष्टः सौम्यः प्रशस्तौ तौ कर्मणोः क्रूरसौम्ययोः ॥ ६ ॥

१ वज्रोच्चाटवशेषु चेति ज० ।

२ क्षिणो नाचेति ख० ।

आग्नेयमन्त्रः सौम्यः स्यात्प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः ।
 सौम्यमन्त्रस्तथाग्नेयः फट्कारेणान्ततो युतः ॥ ७ ॥
 सुमः प्रबुद्धमात्रो वा मन्त्रः सिद्धिं न यच्छति ।
 श्रापकालो महाबाहो जागरो दक्षिणावहः ॥ ८ ॥
 आग्नेयस्य मनोः सौम्यमन्त्रस्यैतद्विपर्ययात् ।
 प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयोरहः ॥ ९ ॥
 दुष्टर्चराशिविद्वेषिवर्णादीन् वर्जयेन्मनून् ।
 राज्यलाभोपकाराय प्रारभ्यारिः स्वरः कुरुन् ॥ १० ॥
 गोपालककुटीं प्रायात् पूर्णामित्युदिता लिपिः ।
 नक्षत्रेक्षक्रमाद्योच्चा स्वरात्स्थी रेवतीयुजौ ॥ ११ ॥
 वेला गुरुः स्वराः शोणः कर्मणैवेतिभेदिताः ।
 लिप्यर्णा वशिषु ज्ञेया षष्ठेशादींश्च योजयेत् ॥ १२ ॥
 लिपौ चतुष्पद्यस्थायामाख्यवर्णपदान्तराः ।
 सिद्धाः साध्या द्वितीयस्थाः सुसिद्धा वैरिणः परे ॥ १३ ॥
 सिद्धादीन् कल्पयेदेवं सिद्धात्यन्तगुणैरपि(१) ।
 सिद्धे सिद्धो जपात् साध्यो जपपूजाहुतादिना(२) ॥ १४ ॥
 सुसिद्धो ध्यानमात्रेण साधकं नाशयेदरिः ।
 दुष्टार्णप्रचुरो यः स्यान्मन्त्रः सर्व्वविनिन्दितः ॥ १५ ॥
 प्रविश्य विधिवद्दीक्षामभिषेकावसानिकाम् ।
 शुत्वा तन्त्रं गुरोर्हृत्सं साधयेदीप्सितं मनुम् ॥ १६ ॥
 धीरो दक्षः शुचिर्भक्तो जपध्यानादितत्परः ।

१ सिद्धाद्यन्तलैरपीति ज० ।

२ जपपूर्णाहुतादिनेति ख० ।

सिद्धस्तपस्वी कुशलस्तन्त्रज्ञः सत्यभाषणः ॥ १७ ॥
 निग्रहानुग्रहे शक्ती गुरुरित्यभिधीयते ।
 शान्तो दान्तः पटुश्चीर्णब्रह्मचर्यो हविष्यभुक् ॥ १८ ॥
 कुर्वन्नाचार्यशुश्रूषां सिद्धोत्साही स शिष्यकः ।
 स तूपदेश्यः पुत्रश्च विनयी वसुदस्तथा ॥ १९ ॥
 मन्त्रन्दयात् सुसिद्धौ तु सहस्रं देशिकं जपेत् ।
 यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं छलेनाथ बलेन वा ॥ २० ॥
 पत्रे स्थितञ्च गाथाञ्च जनयेद्यद्यनर्थकम् ।
 मन्त्रं यः साधयेदेकं जपहीमार्च्चनादिभिः ॥ २१ ॥
 क्रियाभिर्भूरिभिस्तस्य सिध्यन्ते स्वल्पसाधनात् ।
 सम्यक्सिद्धैकमन्त्रस्य नासाध्यमिह किञ्चन ॥ २२ ॥
 बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा शिव एव सः ।
 दशलक्षजपादेक वर्षी मन्त्रः प्रसिध्यति ॥ २३ ॥
 वर्षहृदया जपङ्गासस्तेनान्येषां समूहयेत् ।
 वीजाद्विगुणान्मन्त्रान्मालामन्त्रे जपक्रिया ॥ २४ ॥
 सङ्ग्रानुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादेषु ।
 जपाद्दशांशं सर्वत्र साभिषेकं हुतं विदुः ॥ २५ ॥
 द्रव्यानुक्तौ घृतं होमे जपोऽशक्तस्य सर्वतः ।
 मूलमन्त्राद्दशांशः स्यादङ्गादीनां जपादिकम् ॥ २६ ॥
 जपात्प्रशक्तिमन्त्रस्य कामदा मन्त्रदेवतः ।
 साधकस्य भवेत् तस्मा ध्यानहीमार्च्चनादिना ॥ २७ ॥
 उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्यादु पांशुर्दशभिर्गुणैः ।
 जिह्वाजपे शतगुणः सहस्री मानसः स्मृतः ॥ २८ ॥

प्राप्नुखोऽवाप्नुखो वापि मन्त्रऋषे समारभेत् ।
 प्रणवाद्याः सर्व्वमन्त्रा वाग्यतो विहिताशनः ॥ २६ ॥
 आसीनस्तु जपेन्मन्त्रान्देवताचार्य्यतुल्यदृक् ।
 कुटीविविक्ता देशाः स्युर्देवालयनदीऋदाः ॥ २७ ॥
 सिद्धौ यवागूपूर्व्वी पयो भक्ष्यं हविष्यकम् ।
 मन्त्रस्य देवता तावत्(?) तिथिवारेषु वै जपेत् ॥ २८ ॥
 कृष्णाष्टमीचतुर्दश्योर्ग्रहणादौ च साधकः ।
 दस्रो यमोऽनलो धाता शशी रुद्रो गुरुर्दितिः ॥ २९ ॥
 सर्पाः पितरोऽथ भगोऽर्यमा श्रोतितरद्युतिः ।
 त्वष्टा मरुत इन्द्राग्नी मित्रेन्द्रौ निर्ऋतिर्ऋलम् ॥ ३० ॥
 विश्वेदेवा ऋषीकेशो वायवः सलिलाधिपः ।
 अजैकपादह्रिर्ब्रह्मः पूषाश्विन्यादिदेवताः ॥ ३१ ॥
 अग्निदस्त्रावुमा निघ्नो नागसन्द्रो दिवाकरः ।
 मातृदुर्गा दिशामीशः कृष्णो वैवस्वतः शिवः ॥ ३२ ॥
 पञ्चदश्याः शशाङ्कस्तु पितरस्तिथिदेवताः ।
 हरो दुर्गा गुरुर्विष्णुर्ब्रह्मा लक्ष्मीर्धनेश्वरः ॥ ३३ ॥
 एते सूर्यादिवारेणा लिपिन्यासोऽथ कथ्यते ।
 केशान्तेषु च वृत्तेषु चक्षुषीः श्रवणद्वये ॥ ३४ ॥
 नासागण्डौष्ठदन्तानां ह्रि ह्रि मूर्द्धास्थयोः क्रमात् ।
 वर्णान् पञ्चसुवर्गानां(?) बाहुचरणसन्धिषु ॥ ३५ ॥
 पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ हृदये च क्रमान्प्रयेत् ।

१ तारेति ख० ।

२ पञ्चसरवर्गानामिति ख० ।

यादींश्च हृदये न्यस्येदेषां स्युः समधातवः ॥ ३६ ॥
त्वगस्रक्लांसकस्त्रायुमेदोमज्जाशुक्राणि धातवः ।
वसाः पयो वासको लिख्यन्ते चैव लिपीश्वराः ॥ ४० ॥
श्रीकण्ठीऽनन्तसूक्ष्मी च त्रिमूर्तिरमरेश्वरः ।
अग्नीशो भावभूतिश्च तिथीशः स्थानुको हरः ॥ ४१ ॥
दण्डीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः ।
अक्रूरश्च महासेनः शरण्या देवता अमूः ॥ ४२ ॥
ततः क्रोधीशचण्डी च पञ्चान्तकशिवोत्तमौ ।
तथैव रुद्रकूर्मौ च त्रिनेत्रौ चतुराननः ॥ ४३ ॥
अजेशः शर्मसोमेशौ तथा लाङ्गलिदारुकौ ।
अर्धनारीश्वरश्चोमा कान्तश्चाषाढिदण्डिनौ ॥ ४४ ॥
अत्रिर्श्मीनश्च मेषश्च लोहितश्च शिखी तथा ।
छगलण्डहिरण्डी द्वौ समहाकालवालिनौ ॥ ४५ ॥
भुजङ्गश्च पिनाकी च खड्गीशश्च वक्रः पुनः ।
श्वेतो भृगुर्लगुडीशाचश्च सम्बर्त्तकः स्मृतः ॥ ४६ ॥
रुद्रात्मशक्तान् लिख्यादीन् नमोन्तान् विन्यसेत् क्रमात् ।
अङ्गानि विन्यसेत्सर्व्वे मन्त्राः साङ्गास्तु सिद्धिदाः ॥ ४७ ॥
ह्रस्वेखाव्योमसपूर्व्वस्थेतान्यङ्गानि विन्यसेत् ।
हृदादीन्यङ्गमन्त्रान्तर्यो जपेष्टृदये नमः ॥ ४८ ॥
स्वाहा शिरस्यथ वषट्शिखायां कवचे च ह्रं ।
वौषट् नेत्रेऽस्त्राय फटस्यात् पञ्चाङ्गं नेत्रवर्जितम् ॥ ४९ ॥
निरङ्गस्यात्मना चाङ्गं न्यस्येमान्नियुतं जपेत् ।
क्रमाभ्यां देवीं वागीशीं यथोक्तांस्तु तिलान् हुनेत् ॥ ५० ॥

लिपिदेवी साक्षसूत्रकुम्भपुस्तकपद्मष्टक ।

कवित्वादि प्रयच्छेत कर्मादौ सिद्धये न्यसेत् ।

निष्कविर्निर्मलः सर्वे मन्त्राः सिध्यन्ति मातृभिः ॥५१॥

इत्याग्नेये महापुराणे मन्त्रपरिभाषा नाम द्विनवत्यधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— 000 —

नागलक्षणानि ।

अग्निर्वाच । नागादयोऽथ भावादिदशस्थानानि कर्म च ।

सूतकं दष्टचेष्टेति समलक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

शेषवासुकितक्षाख्याः कर्कटोऽजी महाशुभ्रजः ।

शङ्खपालश्च कुलिक इत्यष्टौ नागवर्षकाः ॥ २ ॥

दशाष्टपञ्चत्रिगुणशतमूर्धान्वितौ क्रमात् ।

विप्रौ नृपो विशो शूद्रौ ह्यौ ह्यौ नागेषु कीर्त्तितौ ॥ ३ ॥

तदन्वयाः पञ्चशतं तेभ्यो जाता असंख्यकाः ।

फणिमण्डलिराजीलवातपित्तकफात्मकाः ॥ ४ ॥

व्यन्तरा दोषमित्रास्ते सर्पा दूर्वाकराः स्मृताः ।

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्त्रिकाङ्कुशधारिणः (१) ॥ ५ ॥

गोनसा मन्दगा दीर्घा मण्डलैर्विविधैश्चिताः (२) ।

१ रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रमुष्टिकाङ्कुशधारिण इति ख० ।

२ श्विता इति ख० ।

राजिलाश्चित्रिताः स्निग्धास्तिर्यगूर्द्धञ्च वाजिभिः ॥ ६ ॥
 व्यन्तरा मिश्रचिह्नाश्च भूवर्षाग्नेयवायवः ।
 चतुर्विधास्ते षड्विंशभेदाः षोडश गीनसाः ॥ ७ ॥
 त्रयोदश च राजीला व्यन्तरा एकविंशतिः ।
 येऽनुक्तकाले जायन्ते सर्पास्ते व्यन्तराः स्मृताः ॥ ८ ॥
 आषाढादित्रिमासैः स्याद्गर्भी माषचतुष्टये ।
 अण्डकानां शते हे च चत्वारिंशत् प्रसूयते ॥ ९ ॥
 सर्पा ग्रसन्ति सूतौघान् विना स्त्रीपुत्रपुंसकान् ।
 उन्मीलतेऽपि सप्ताहात् कृष्णो मासाद्गवेदहिः ॥ १० ॥
 द्वादशाहात् सुबोधः स्यात् दन्ताः स्युः सूर्यदर्शनात् ।
 द्वात्रिंशद्दिनविंशत्या चतस्रस्तेषु दंष्ट्रिकाः ॥ ११ ॥
 कराली मकरौ कालरात्री च यमदूतिका ।
 एतास्ताः सविषा दंष्ट्रा वामदक्षिणपार्श्वगाः ॥ १२ ॥
 घन्मासान्मुच्यते कृत्तिं जीवेत्सष्टिसमाह्वयं ।
 नागाः सूर्यादिवारेणाः सप्त उक्ता दिवा निशि ॥ १३ ॥
 खेषां षट् प्रतिवारेषु कुलिकः सर्व्वसन्धिषु ।
 शङ्गेन वा महाजेन सह तस्योदयोऽथवा ॥ १४ ॥
 हयोर्व्वा नाडिकामन्त्रमन्त्रकं(१) कुलिकोदयः ।
 दुष्टः स कालः सर्व्वत्र सर्पदंष्ट्रे विशेषतः(२) ॥ १५ ॥
 कृत्तिका भरणी स्वाती मूलं पूर्व्वत्रयाश्विनी ।
 विशाखाद्रा मघाश्लेषा चित्रा श्रवणरोहिणी ॥ १६ ॥
 हस्ता मन्दकुजौ वारो पञ्चमी चाष्टमी तिथिः ।

१ नाडिकामान्त्रकमिति अ० । २ विनिर्दिशेदिति क०, ख०, ज०, ट० च ।

षष्ठी रिक्ता शिवा निन्द्या पञ्चमी च चतुर्दशी ॥ १७ ॥
 सन्ध्याचतुष्टयं दुष्टं दग्धयोगाश्च राशयः ।
 एकद्विवह्वो दंशा दष्टविद्वच्च खण्डितम् ॥ १८ ॥
 अदंशमवगुप्तं(१) स्यादंशमेवं चतुर्विधम् ।
 चयो द्वेकक्षता दंशा वेदना रुधिरौल्वणा ॥ १९ ॥
 नक्तन्वेकाङ्घ्रिकूर्माभा दंशाश्च यमचोदिताः ।
 दीहीपिपीलिकास्पर्शी कण्ठशोथरुजान्वितः(२) ॥ २० ॥
 सतीदो ग्रन्थितो दंशः सविषो न्यस्तनिर्व्विषः ।
 देवालये शून्यगृहे वस्त्रीकोद्यानकोटरे ॥ २१ ॥
 रथ्यासन्धौ श्मशाने च नद्याञ्च सिन्धुसङ्गमे ।
 हीपे चतुष्पथे सौधे गृहेऽजे पर्व्वताग्रतः ॥ २२ ॥
 विलहारे जीर्णकूपे जीर्णवेश्मनि कुण्डके ।
 शिशुस्नेषातकाक्षेषु जम्बू दुम्बरणेषु च ॥ २३ ॥
 वटे च जीर्णप्राकारे खास्यहृत्क्षत्रजत्रुणि ।
 ताली शङ्के गले मूर्द्ध्नि चिवुके नाभिपादयोः ॥ २४ ॥
 दंशोऽशुभः शुभो दूतः पुष्पहस्तः सुवाक् सुधीः ।
 लिङ्गवर्णसमानश्च शुक्लवस्त्रोऽमलः शुचिः ॥ २५ ॥
 अपहारगतः शस्त्री प्रमादी भूगतेक्षणः ।
 विवर्णवासाः पाशादिहस्ती गद्गदवर्णभाक् ॥ २६ ॥
 शुष्ककाष्ठान्वितः खिन्नस्तिलाक्तककरांशुकः ॥ २७ ॥
 आर्द्रवासाः कृष्णरक्तपुष्पयुक्तशिरोरुहः ।
 कुचमर्दी नखच्छेदी गुदसृक् पादलेखकः ।

१ अदंशमवगुप्तमिति अ० ।

२ कण्ठशोथरुजान्वित इति अ० ।

केशमुष्ठी तृणच्छेदी दुष्टा दूतास्तथैकशः ॥ २८ ॥
 इद्रान्या वा वह्नेद्देधा यदि दूतस्य चात्मनः ।
 आभ्यां हाभ्यां पुष्टयास्मान् विद्यास्त्रीपुत्रपुंसकान् ॥ २९ ॥
 दूतः स्पृशति यद्वात्रं तस्मिन् दंशमुदाहरेत् ।
 दूताङ्घ्रिचलनं दुष्टमुत्थितिर्निषला शुभा ॥ ३० ॥
 जीवपार्श्वं शुभो दूतो दुष्टोऽन्यत्र समागतः ।
 जीवो गतागतैर्दुष्टः शुभो दूतनिवेदने ॥ ३१ ॥
 दूतस्य वाक् प्रदुष्टा सा पूर्वामजाङ्घ्रिनिन्दिता ।
 विभक्तैस्तस्य वाक्यान्तैर्विघर्निर्विषकालता ॥ ३२ ॥
 आद्यैः स्वरैश्च काद्यैश्च वर्गैर्भिन्नलिपिर्हिधा ।
 स्वरजो वसुमान्वर्गी इतिक्षेपा च माटका ॥ ३३ ॥
 वाताग्नीन्द्रजलात्मानो वर्गेषु च चतुष्टयम् ।
 नपुंसकाः पञ्चमाः स्युः स्वराः शक्राम्बुयोनयः ॥ ३४ ॥
 दुष्टो दूतस्य वाक्पादौ वाताग्नी मध्यमो हरिः ।
 प्रशस्ता वारुणा वर्णा अतिदुष्टा नपुंसकाः ॥ ३५ ॥
 प्रस्थाने मङ्गलं वाक्यं गर्जितं मेघहस्तिनोः ।
 प्रदक्षिणं फले वृक्षे वामस्य च रुतं जितं ॥ ३६ ॥
 शुभा गीतादिशब्दाः स्युरोद्देशं स्यादसिद्धये ।
 अनर्थगौरथाक्रन्दो दक्षिणे विरुतं क्षुतम् ॥ ३७ ॥
 वेश्या क्षुतो नृपः कन्या गीर्हन्ती मुरजध्वजौ ।
 क्षीराज्यदधिशङ्खाम्बु छत्रं भेरी फलं सुराः ॥ ३८ ॥
 तण्डुला हेम रुप्यश्च सिद्धयेऽभिमुखा अमी ।
 सकाष्ठः सानलः कार्कशलिनाम्बरभावभृत् ॥ ३९ ॥

गलस्थटङ्को गोमायुगृध्रीलूककपट्टिकाः ।

तैलं कपालकार्पासा निषेधे भस्म नष्टये ॥ ४० ॥

विषरोगाश्च सप्त स्युर्धातोर्धात्वन्तरास्त्रितः ।

विषदंशो ललाटं यात्यतोनेत्रं ततो मुखम् ।

आस्याच्च वचनीनाड्यो धातून् प्राप्नोति हि क्रमात् ॥ ४१ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे नागलक्षणादिर्नाम त्रिनवत्यधिक
द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

दृष्टचिकित्सा ।

अग्निरुवाच । मन्त्रध्यानौषधैर्दृष्टचिकित्सां प्रवदामि ते ।

ॐ नमो भगवते नीलकण्ठायैति ।

जपनादिष्वहानिः स्यादौषधं जीवरक्षणं ॥ १ ॥

साज्यं सकृद्रसं पेयं द्विविधं विषमुच्यते ।

जङ्गमं सर्पमूषादि शृङ्गादि स्यावंरं विषं ॥ २ ॥

ग्राम्मस्तरान्वितो ब्रह्मा लोहितं तारकं(१) शिवः ।

वियतेर्नाममन्त्रीऽयं तार्क्ष्यः शब्दमयः स्मृतः ॥ ३ ॥

ॐ ज्वल महामते हृदयाय गरुडविरासशिरसे(२) गरुडशि-
खायै गरुड विषभञ्जन प्रभेदन प्रभेदन विनासय विनासय विम-

१ तारकः इति च० ।

२ गरुडविरासशिरसे इति च० ।

ईय विमर्हय कवचाय अप्रतिहतशामनं वं ह्रं फट् अस्त्राय उग्र-
रुपवारक सर्वभयङ्कर भीषय सर्वं दह दह भस्मीकुरु कुरु
स्वाहा नेत्राय ।

सप्तवर्गान्तयुग्माष्टदिग्दक्षस्वर केशरादिवर्णबद्धं वङ्गिराभूत-
कर्णिकं मातृकाम्बुजं ।

कृत्वा हृदिस्थं तन्मन्त्री वामहस्ततले स्मरेत् ।

अङ्गुष्ठादौ न्यसेद्वर्णान्वियतेर्भेदिताः कलाः(१) ॥ ४ ॥

पीतं वज्रचतुष्कोणं पार्थिवं शक्रदैवतं ।

वृत्ताहंमाप्यपद्मार्धं शक्रं वरुणदैवतं ॥ ५ ॥

तत्रस्त्रं स्वस्तिकयुक्तञ्च तेजसं वङ्गिदैवतं ।

वृत्तं विन्दुवृत्तं वायुदैवतं कृष्णमालिनम् ॥ ६ ॥

अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीमध्ये पर्यस्तेषु स्ववेश्मसु ।

सुवर्णनागवाहेन वेष्टितेषु न्यसेत् क्रमात् ॥ ७ ॥

वियतेषुतुरी वर्णान् सुमण्डलसमत्विषः ।

अरूपे रवतन्मात्रे(२) आकाशेशिवदेवते ॥ ८ ॥

कनिष्ठामध्यपर्वस्थे न्यसेत्तस्याद्यमक्षरम् ।

नागानामादिवर्णांश्च स्वमण्डलगताश्चसेत् ॥ ९ ॥

भूतादिवर्णान् विन्यसेदङ्गुष्ठाद्यन्तपर्वसु ।

तन्मात्रादिगुणाभ्यर्णानङ्गुलीषु न्यसेद्वुधः ॥ १० ॥

सर्शनादेवतार्चणं हस्ते हन्याद्विषहयं ।

मण्डलादिषु तान् वर्णान् वियतेः कवयो जितान् । ११ ॥

श्रेष्ठहृत्पङ्कलिभिर्हृत्तनाभिस्थानेषु पर्वसु ।

१ भेदिकास्येति च० ।

२ वरतन्मात्रे इति च० ।

आजातुतः सुवर्णाभमानाभेस्तुहिनप्रभम् ॥ १२ ॥
 कुङ्कुमारुणमाकण्ठादाकेशान्तात् सितेतरं ।
 ब्रह्माण्डव्यापिनं तार्क्ष्यचन्द्राख्यं नागभूषणम् ॥ १३ ॥
 नीलोद्यनाशमात्मानं महापद्मं स्मरेद्बुधः ।
 एवन्तार्क्ष्यात्मनो वाक्यान्मन्त्रः स्यान्मन्त्रिणो विषे ॥ १४ ॥
 मुष्टिस्तार्क्ष्यकरस्यान्तःस्थिताङ्गुष्ठविषापहा ।
 तार्क्ष्यं हस्तं समुद्यम्य तत्पञ्चाङ्गुलिचालनात् ॥ १५ ॥
 कुर्व्याद्द्विषस्य स्तम्भादींस्तदुक्तमद्वीषया ।
 आकाशादेव भूवीजः पञ्चार्णाधिपतिर्भूतः ॥ १६ ॥
 संस्तम्भयेतिविषतो भाषया स्तम्भयेद्द्विषम् ।
 व्यत्यस्तभूषया वीजो मन्त्रीऽयं साधुसाधितः ॥ १७ ॥
 संप्रवः प्रावय यमः(१) शब्दाद्यः संहरेद्द्विषं ।
 दण्डमुत्थापयेदेष सुजप्तान्भोऽभिषेकतः ॥ १८ ॥
 सुजप्तशङ्खभेर्यादिनिस्वनश्रवणेन वा ।
 संदहत्येव संयुक्तो भूतेजोव्यत्ययात् स्थितः ॥ १९ ॥
 भूवायुव्यत्ययान्मन्त्रो विषं संक्रामयत्यसौ ।
 अन्तस्थो निजवेश्मस्थो वीजान्मौन्दुजलात्मभिः ॥ २० ॥
 एतत् कर्म नयेन्मन्त्री गरुडाकृतिविग्रहः ।
 तार्क्ष्यवरुणगेहस्यस्तज्जपान्नाशयेद्द्विषम् ॥ २१ ॥
 जानुदण्डीदमुदितं स्वघात्रीवीजलाञ्छितं ।
 स्नानपानात्मर्ष्वविषं ज्वरारोगापमृत्युजित् ॥ २२ ॥
 पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि विधि स्वाहा ।

पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि चि चि स्वाहा ।

हावेतौ पक्षिराड्मन्त्रौ विषप्लावभिमन्त्रणात् ।

पक्षिराजाय विषभहे पक्षिदेवाय धीमहि तन्नो गरुड प्रचोदयात् ।

वङ्गिस्थौ पार्श्वतत्पूर्वो दन्तश्रीकौ च दण्डिनौ ॥ २३ ॥

सकालो लाङ्गली चेति नीलकण्ठायमीरितं ।

वचःकण्ठशिखाश्वेतं न्यसेत्स्तम्भे सुसंस्कृतौ ॥ २४ ॥

हर हर हृदयाय नमः कपर्दिने च शिरसे नीलकण्ठाय

वै शिखां कालकूटविषभक्षणाय स्वाहा ।

अथ वर्ध्म च कण्ठे नेत्रं कृत्तिवासास्त्रिनेत्रं पूर्वार्धैराननैर्युक्तं
श्वेतपीतारुणासितैः ।

अभयं वरदं चापं वासुकिञ्च दधद्भुजैः ।

यस्योपरीतपार्श्वस्थगौरीरुद्रोऽस्य देवता ॥ २५ ॥

पादजानुगुहानाभिहृत्कण्ठाननमूर्धसु ।

मन्मार्णाश्रयस्य करयोरङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु च ॥ २६ ॥

तर्ज्जन्यादितदन्तासु सर्वमङ्गुष्ठयोर्ग्रसेत् ।

ध्यात्वैवं संहरेत् क्षिप्रं वक्ष्या शूलमुद्रया ॥ २७ ॥

कनिष्ठा ज्येष्ठया वद्धा तिश्रोऽन्याः प्रसृतेर्ज्जवाः ।

विषनाशि वामहस्तमन्यस्मिन् दक्षिणं करं ॥ २८ ॥

ॐ नमो भगवते नीलकण्ठाय चिः अमलकण्ठाय चिः ।

सर्वज्ञकण्ठाय चिः क्षिप ॐ स्वाहा ।

अमलनीलकण्ठाय नैकसर्वविषापहाय ।

नमस्ते रुद्रमन्यव इतिसर्माज्जनाद्विषं विनश्यति न सन्देहः

कर्णजाप्या उपानहावा ।

यजेद्द्रुद्रविधानेन नीलग्रीवं महेश्वरम् ।

विषव्याधिविनाशः स्यात् कृत्वा रुद्रविधानकं ॥ २८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे दृष्टचिकित्सा नाम चतुर्थवत्य-
धिकद्विंशततमोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चनवत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

—000—

पञ्चाङ्गरुद्रविधानं ।

अग्निरुवाच । वक्ष्ये रुद्रविधानन्तु पञ्चाङ्गं सर्व्वदं परं ।

हृदयं शिवसङ्कल्पः शिवः सूक्तान्तु पौरुषम् ॥ १ ॥

शिखाभ्यः सम्भृतं सूक्तमाशुः कवचमेव च ।

शतरुद्रियमस्त्रञ्च रुद्रस्याङ्गानि पञ्च हि ॥ २ ॥

अङ्गान्यस्य तं ध्यात्वा जपेद्द्रुद्रास्ततः क्रमात् ।

यज्जाग्रत इति सूक्तं यदृचं मानसं विदुः ॥ ३ ॥

ऋषिः स्याच्छिवसङ्कल्पश्छन्दस्त्रिष्टुबुदाहृतं ।

शिवः सहस्रशीर्षेति तस्य नारायणोऽप्यृषिः ॥ ४ ॥

देवता पुरुषोऽनुष्टुप्छन्दो ज्ञेयञ्च त्रैष्टुभम् ।

अभ्यञ्जसम्भृतं सूक्तमृषिरुत्तरगीनरः (१) ॥ ५ ॥

आद्यानान्तिष्ठणां त्रिष्टुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दयोरपि ।

१ उत्तरगीनस इति ज०, ट० च ।

छन्दस्त्रैष्टुभमन्यायाः पुरुषोऽस्यापि देवता ॥ ६ ॥
 आशुरिन्द्रो दादशानां छन्दस्त्रिष्टुवुदाहृतं ।
 ऋषिः प्रोक्तः प्रतिरघः सूक्ते सप्तदशार्चके ॥ ७ ॥
 पृथक् पृथक् देवताः स्युः पुरुविदङ्गदेवता ।
 अवशिष्टदेवतेषु छन्दोऽनुष्टुवुदाहृतं ॥ ८ ॥
 असौ यमो भवित्रीन्द्रः पुरलिङ्गीक्तदेवताः(१) ।
 पङ्क्तिच्छन्दोऽथ मन्मार्षि त्वपलिङ्गीक्तदेवताः ॥ ९ ॥
 रौद्राध्याये च सर्वस्मिन्नार्धं स्यात् परमेष्वपि ।
 प्रजापतिर्वा देवानां कुलस्य तिस्रणां पुनः ॥ १० ॥
 मनोहयोऋमैका स्याद्गुद्री रुद्राश्च देवताः ।
 आद्योऽनुवाकोऽथ पूर्वं एक रुद्राख्यदेवतः ॥ ११ ॥
 छन्दो गायत्रमाद्याया अनुष्टुप् तिस्रणाश्चाम् ।
 तिस्रणाश्च तथा पङ्क्तिरनुष्टुवथ संस्मृतम् ॥ १२ ॥
 हयोश्च जगतीछन्दो रुद्राणामप्यशीतयः ।
 हिरण्यवाहवस्त्रिस्तो नमो वः किरिकाय च ॥ १३ ॥
 पञ्चर्षी रुद्रदेवाः स्युर्मन्त्रे रुद्रानुवाककः(२) ।
 विंशके रुद्रदेवास्ताः प्रथमा वृहती स्मृता ॥ १४ ॥
 ऋग्द्वितीया त्रिजगती तृतीया त्रिष्टुवेव च ।
 अनुष्टुभो यजुस्त्रिस्त आर्यादिभ्यः सुसिद्धिभाक् ॥ १५ ॥
 त्रैलोक्यमोहनेनापि विषव्याध्यरिमर्दनं(३) ।

१ भविवीति त्रिष्टुप् त्रिङ्गीक्तदेवतेति ख० ।

२ रुद्राण्यवाचक इति ज०, ट० च ।

३ विषव्याधि विमर्दनमिति ज० ।

इँ श्रीं ह्रीं क्लीं ह्रँ(१) त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः ।
 अनुष्टुभं वृसिंहेन विषव्याधिविनाशनं ॥ १६ ॥
 ॐ इँ इँ(२) उग्रवीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतीमुखं ।
 वृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युन्नमाम्यहं ॥ १७ ॥
 अयमेव तु पञ्चाङ्गो मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
 द्वादशाष्टाक्षरो मन्त्रो विषव्याधिविमर्दनो ॥ १८ ॥
 कुम्भिका त्रिपुरा गौरी चन्द्रिका(३) विषहारिणी ।
 प्रसादमन्त्रो विषह्वदायुरारोग्यवर्धनः ।
 सौरो विनायकस्तद्वद्रमन्त्राः सदाखिलाः ॥ १९ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे पञ्चाङ्गरुद्रविधानं नाम पञ्च-
 नवत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ॥

अथ षन्ननवत्यधिकद्विंशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

विषह्वन्मन्त्रौषधं ।

अग्निरुवाच । श्रीं नमो भगवते रुद्राय छिन्द २ विषं
 ज्वलितपरशुपाणये च । नमो भगवते पञ्चिरुद्राय दृष्टकं उत्था-
 पय २ दृष्टकं कम्पय २ जल्पय २ सर्पदृष्टमुत्थापय लल २ बन्ध २
 मोचय २ वररुद्र गच्छ २ बध २ वृष्ट २ वुक २ भीषय २ सु-
 ष्टिना संहर विषं ठ ठ ।

१ ॐ ह्रीं श्रीं श्रूमिति ज० ।

२ ॐ ह्रीं चँ इति ज० ।

३ षष्टिका इति ज० ।

पक्षिरुद्धे ण ह विषं नाशमायाति मन्त्रेणात् ।

ॐ नमो भगवते रुद्र नाशय विषं स्थावरजङ्गमं क्षत्रिमा-
 क्त्रिमविषमुपविषं नाशय नानाविषं दृष्टकविषं नाशय धम २
 दम २ वम २ मेघान्धकारधाराकर्षनिर्विषयीभव संहार २ गच्छ २
 आवेशय २ विषोत्थापनरूपं मन्त्रान्ताद्विषधारणं ॐ क्षिप ॐ
 क्षिप स्वाहा ।

ॐ क्राँ क्रीँ खीँ सः ठन्द्रौँ क्रीँ ठः ।

जपादिना साधितस्तु सर्पान् बध्नाति नित्यशः ॥ १ ॥

एकद्वित्रिचतुर्वीजः कृष्णचक्राङ्गपञ्चकः ।

गोपीजनवल्लभाय स्वाहा सर्वार्थसाधकः ॥ २ ॥

ओं नमो भगवते रुद्राय प्रेताधिपतये गुच्च २(१) गर्ज २
 आमय २ मुच्च २ मुच्च २ कट २ आविश २ सुवर्णपतङ्ग रुद्रो
 ज्ञापयति ठ २ ।

पातालक्षीभमन्त्रोयं मन्त्रेणाद्विषनाशनः ।

दंशकाद्दिदंशे सद्यो दष्टः काष्ठशिलादिना ॥ ३ ॥

विषशाम्यै दहेद्दंशं ज्वालकोकनदादिना(२) ।

शिरौषवीजपुष्पार्कक्षीरवीजकटुत्रयं ॥ ४ ॥

विषं विनाशयेत् पानलेपनेनास्त्रनादिना ।

शिरौषपुष्पस्य रसभावितं मरिचं सितं ॥ ५ ॥

पाननस्यास्त्रनाद्यैश्च विषं हन्यान्न संशयः ।

कोषातकीवचाद्विष्णु शिरौषार्कपयोयुतं ॥ ६ ॥

१ गुच्छु १ इति ञ० ।

२ ज्वालको कस्तुरास्त्रिनेति ञ० ।

कुटुत्रयं समेषाम्भो हरेन्नस्यादिना विषं ।
 रामठेष्वाकुसर्वाङ्गचूर्णं नस्याद्विषापहं ॥ ७ ॥
 इन्द्रबलाम्निकन्द्रीणं तुलसी देविका सहा ।
 तद्रसात्तं त्रिकटुकं चूर्णंश्चैवविषापहं ।
 पञ्चाङ्गं कृष्णपद्म्यां शिरीषस्य विषापहं ॥ ८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे विषहृत्तन्मौषधं नाम षन्नवत्यधिक-
 द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ षन्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

गोनसादिचिकित्सा ।

अग्निह्वाच । गोनसादिचिकित्साञ्च वशिष्ठ शृणु वच्मि ते ।

ऋीं ऋीं अमलपक्षि स्वाहा ।

ताम्बूलखादनाम्ब्वी हरेन्नखण्डलिनी विषं ॥ १ ॥
 लशुनं रामठफलं कुष्ठाग्निव्योषकं विषे ।
 स्नुहीक्षीरं गव्यघृतं पक्षं पीत्वाऽह्विजे विषे ॥ २ ॥
 अथ राजिलदष्टे च पेया कृष्णा ससैन्धवा ।
 आज्यक्षौद्रशक्तोर्यं पुरीतत्या विषापहं ॥ ३ ॥
 सकृष्णाखण्डदुग्धाज्यं पातव्यन्तेन मात्तिकं ।
 व्योषं पिच्छं विडालास्थि नकुलाङ्गरुहैः समैः ॥ ४ ॥
 चूर्णितैर्गोषदुग्धाक्तैर्धूपः सर्वविषापहः ।

रोमनिर्गुण्डिकाकीलवर्षैर्वा लशुनं समं ॥ ५ ॥
 मुनिपत्रैः कृतस्त्रेदं दष्टं काष्ठीकपाचितैः ।
 मूषिकाः षोडश प्रोक्ता रसङ्कार्पासजम्बिवेत् ॥ ६ ॥
 सतैलं मूषिकार्त्तिन्नं फलिनीकुसुमन्तथा ।
 सनागरगुडश्मथ्यं तद्विषारोचकापहं ॥ ७ ॥
 चिकित्सा विंशतिर्भूता लूताविषहरो गणः ।
 पद्मकं पाटली कुष्ठं नतमूशीरचन्दनं ॥ ८ ॥
 निर्गुण्डी शारिवा शेलु लूतार्त्तं सेचयेज्जलैः ।
 गुप्फानिर्गुण्डिकङ्गोलपर्णं शुण्ठी निशाद्वयं ॥ ९ ॥
 करञ्जास्थि च तत्पङ्कैः (१) वृश्चिकार्त्तिहरं गृणु ।
 मञ्चिष्ठा चन्दनं व्योषपुष्यं शिरीषकोमुदं ॥ १० ॥
 संयोज्याश्चतुरो योगा लेपादौ वृश्चिकापहाः ।

ॐ नमो भगवते रुद्राय चिवि २(२) छिन्द २ किरि २
 भिन्द २ खड्गे न केदय २ शूलेन भेदय २ चक्रेण दारय २ ॐ ह्रूं
 फट् ।

मन्त्रेण मन्त्रितो देयो गर्हभादीन्निहन्ति ॥ ११ ॥
 त्रिफलीशीरमुस्ताम्बुमांसीपद्मकचन्दनं ।
 अजाक्षीरेण पानादेर्गर्हभादेर्विषं हरेत् ॥ १२ ॥
 हरेत् शिरीषपञ्चाङ्गं व्योषं शतपदीविषं ।
 सकन्धरं शिरीषास्थि हरेदुन्दूरजं विषं ॥ १३ ॥
 व्योषं ससर्पिः पिण्डीतमूलमस्य विषं हरेत् ।

१ तत्पङ्कैरिति ज०, ज०, ट० च ।

२ चिरि २ इति ज० ।

चारव्योषवचाडिङ्गु विडङ्गं सैम्बवन्नतं ॥ १४ ॥

अम्बुष्ठातिबलाकुष्ठं सर्वकौटविषं हरेत् ।

यष्टिव्योषगुडक्षीरयोगः (१) शूनो विषापहः ॥ १५ ॥

ॐ सुभद्रायै नमः ॐ सुप्रभायै नमः ।

यान्यौषधानि गृह्यन्ते विधानेन विना जनैः ॥ १६ ॥

तेषां बीजन्वया ग्राह्यमिति ब्रह्माऽन्नवीच ताम् ।

ताम्रणम्योषधीम्पश्चात् यवान् प्रक्षिप्य मुष्टिना । ॥ १७ ॥

दश जम्बा मन्त्रमिदं नमस्कृत्यात्तदौषधं ।

त्वामुद्धराम्यूर्ध्वनेत्रामनेनैव च भक्षयेत् ॥ १८ ॥

नमः पुरुषसिंहाय नमो गोपालकाय च ।

आत्मनैवाभिजानाति रणे कृष्णपराजयं ॥ १९ ॥

एतेन सत्यवाक्येन अगदी मेऽस्तु सिध्यतु ।

नमो वैदूर्यमाते तन्न २ रक्ष मां सर्वविषेभ्यो गौरि गाम्भारि

चाण्डालि मातङ्गिनि स्वाहा हरिमाये ।

औषधादौ प्रयोक्तव्यो मन्त्रोऽयं स्थावरे विषे ॥ २० ॥

भुक्तमात्रे स्थिते ज्वाले पद्मं शीताम्बुसेवितं ।

पाययेत्सृष्टं क्षौद्रं विषक्षेत्तदनन्तरं ॥ २१ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे गोनसादिचिकित्सा नाम सप्तनव-

त्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथाष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

—000—

बालग्रहहरबालतन्त्रम् ।

अग्नित्वाच । बालतन्त्रं प्रवक्ष्यामि बालादिग्रहमर्दनं ।

अथ जातदिने वक्षं ग्रही गृह्णाति पापिनी ॥ १ ॥

गात्रोद्देशो निराहारो नानाश्रीवाविवर्त्तनं ।

तच्चेष्टितमिदं तस्यान्मातृणाञ्च बलं हरेत् ॥ २ ॥

मत्स्यमांससुरामर्च्यगन्धस्त्रग्धूपदीपकैः ।

लिम्पेच्च धातकीलीध्रमञ्जिष्ठातालचन्दनैः ॥ ३ ॥

महिषाक्षेण धूपश्च द्विरात्रे भौषणी ग्रही ।

तच्चेष्टा कासनिश्वासौ गात्रसङ्कीचनं मुहुः ॥ ४ ॥

आजमूत्रैर्लिपेत् कृष्णासेव्यापामार्गचन्दनैः ।

गोमृङ्गदन्तकेशैश्च धूपयेत् पूर्ववद्वलिः ॥ ५ ॥

ग्रही त्रिरात्रे घण्टाली तच्चेष्टा क्रन्दनं मुहुः ।

जृम्भणं खनितन्त्रासौ गात्रोद्देशप्ररोचनं ॥ ६ ॥

केशराञ्जनगोहस्तिदन्तं साजपयो लिपेत् ।

नखराजीविस्वदलैर्धूपयेच्च बलिं हरेत् ॥ ७ ॥

ग्रही चतुर्थीं काकोली गात्रोद्देशप्ररोचनं ।

फेनोद्धारो दिशो दृष्टिः कुल्माषैः सासवैर्बलिः ॥ ८ ॥

गजदन्ताहिनिर्झीकवाजिमूत्रप्रलेपनं ।

सराजीनिम्बपत्रेण धूतकेशेन धूपयेत् ॥ ९ ॥

हंसाधिका पञ्चमी स्याज्जृम्भाश्वासोर्धधारिणी ।

मुष्टिवन्धश्च तच्चेष्टा बलिं मत्स्यादिना हरेत् ॥ १० ॥
 मेषशृङ्गबलालीभ्रशिलातालैः शिशुं लिपेत् ।
 फट्कारौ तु ग्रही षष्ठी भयमोहप्ररोदनं ॥ ११ ॥
 निराहारोऽङ्गविक्षेपो हरेन्मत्स्यादिना बलिं ।
 राजीगुग्गुलुकुष्ठेभदन्ताद्यैर्धूपलेपनैः ॥ १२ ॥
 सममे मुक्तकेश्यार्त्तः पूतिगन्धो विजृम्भणं ।
 सादः प्ररोदनङ्कासो धूपो व्याघ्रनखैर्लिपेत् ॥ १३ ॥
 वचागोमयगोमूत्रैः श्रीदण्डी चाष्टमे ग्रही ।
 दिशो निरीक्षणं जिह्वाचालनङ्कासरोदनं ॥ १४ ॥
 बलिः पूर्वैव मत्स्याद्यैर्धूपलेपे च(१) हिङ्गुला ।
 वचासिद्धार्यलशुनैश्चोर्ध्वग्राही महाग्रही ॥ १५ ॥
 उद्देजनीर्दनिःश्वासः स्वमुष्टिद्वयखादनं ।
 रक्तचन्दनकुष्ठायैर्धूपयेल्लेपयेच्छिशुं ॥ १६ ॥
 कपिरोमनखैर्धूपो दशमी रोदनी ग्रही ।
 तच्चेष्टा रोदनं शश्वत् सुगन्धो नीलवर्णता ॥ १७ ॥
 धूपो निम्बेन भूतोयराजीसर्जरसैर्लिपेत् ।
 बलिं वहिर्हरेत्त्वाजकुल्लाषकवकीदनम्(२) ॥ १८ ॥
 यावन्नयोदशाहं स्यादेवं धूपादिका क्रिया ।
 गृह्णाति मासिकं वक्षं पूतनासङ्कुली ग्रही ॥ १९ ॥
 काकवद्रोदनं श्वासो मूत्रगन्धोऽक्षिमीलनं ।
 गोमूत्रस्त्रपनं तस्य गोदन्तेन च धूपनम् ॥ २० ॥

१ धूपदीपे चेति ठ० ।

२ करकीदनमिति ख० ।

पीतवस्त्रं ददेद्रक्तस्त्रगन्धै तैलदीपकः ।
 त्रिविधं पायसम्भयं तिलमासञ्चतुर्विधम् ॥ ११ ॥
 करञ्जाधी यमदिशि समाहं तैर्बलिं हरेत् ।
 द्विमासिकञ्च मुकुटा वपुः शीतञ्च शीतलं ॥ २२ ॥
 ऋद्धिः स्यान्मुखशोषादिपुष्पगन्धांशुकानि च ।
 अपूपमोदनं दीपः कृष्णं नीरादि धूपकम् ॥ २३ ॥
 हृतीये गोमुखी निद्रा सविन्मूत्रप्ररोदनम् ।
 यवाः प्रियङ्गुः पलनं कुल्माषं शाकमोदनम् ॥ २४ ॥
 क्षीरं पूर्वं ददेन्मध्ये ऽहनि धूपश्च सर्पिषा ।
 पञ्चभङ्गेन तत् स्नानं चतुर्थे पिङ्गुलार्त्तिहृत् ॥ २५ ॥
 तनुः शीता पूतिगन्धः शोषः स न्निघते ध्रुवम् ।
 पञ्चमी ललना गात्रसादः स्यान्मुखशोषणं ॥ २६ ॥
 अपानः पीतवर्णश्च मत्स्याद्यैर्द्दक्षिणे बलिः ।
 पश्मासे पङ्कजा चेष्टा रोदनं विष्कतः स्वरः ॥ २७ ॥
 मत्स्यमांससुराभक्तपुष्पगन्धादिभिर्बलिः ।
 सममे तु निराहारा पूतिगन्धादिदन्तरुक् ॥ २८ ॥
 पिष्टमांससुरामांसैर्बलिः स्याद्यमुनाष्टमे ।
 विस्फोटशोषणायं स्यात् तच्चिकित्सान्न कारयेत् ॥ २९ ॥
 नवमे कुम्भकर्णांतीं ज्वरी ष्छर्दति पालकम् ।
 रोदनं मांसकुल्माषमयाद्यैर्वैश्वके बलिः ॥ ३० ॥
 दशमे तापस्यी चेष्टा निराहारोत्थिमीलनम् ।
 घण्टा पताका पिष्टोक्ता सुरामांसबलिः समे ॥ ३१ ॥
 राक्षस्यैकादशी पीडा नेत्राद्यं न चिकित्सनम् ।

चञ्चला द्वादशे श्वासः चासादिकविचेष्टितम् ॥ ३२ ॥
 बलिः पूर्वेषु मध्याह्ने कुल्माषाद्यैस्त्रिलादिभिः ।
 यातना तु द्वितीयेऽब्दे यातनं रोदनादिकम् ॥ ३३ ॥
 तिलमांसमद्यमांसैर्बलिः स्नानादि पूर्ववत् ।
 तृतीये रोदनी कम्पो रोदनं रक्तमूत्रकं ॥ ३४ ॥
 गुडोदनं तिलापूपः प्रतिमा तिलपिष्टजा ।
 तिलस्नानं पञ्चपत्रैर्धूपो राजफलत्वचा ॥ ३५ ॥
 चतुर्थे चटकाशोफो ज्वरः सर्वाङ्गसादनम् ।
 मत्स्यमांसतिलाद्यैश्च बलिः स्नानञ्च धूपनम् ॥ ३६ ॥
 चञ्चला पञ्चमेऽब्दे तु ज्वरस्त्रासोऽङ्गसादनम् ।
 मांसोदनाद्यैश्च बलिर्मेषशृङ्गेण धूपनम् ॥ ३७ ॥
 पलाशीदुम्बराश्चतस्रवटविल्वदलाम्बुधुक् ।
 षष्ठेऽब्दे धावनीशीघो वैरस्यं(१) गात्रसादनम् ॥ ३८ ॥
 सप्ताहोभिर्बलिः पूर्वेषुपस्नानञ्च भङ्गकैः(२) ।
 अष्टमे यमुनाच्छर्दिर्वचोहासरोदनम् ॥ ३९ ॥
 मांसपायसमद्याद्यैर्बलिः स्नानञ्च धूपनम् ।
 अष्टमे वा जातवेदा निराहारं प्ररोदनम् ॥ ४० ॥
 कशरापूपदध्याद्यैर्बलिः स्नानञ्च धूपनम् ।
 कालाब्दे नवमे वाह्वीरास्फोटो गजनं भयम् ॥ ४१ ॥
 बलिः स्यात् कशरापूपशक्तुकुल्मासपायसैः ।
 दशमेऽब्दे कालहंसी दाहोऽङ्गकशता ज्वरः ॥ ४२ ॥

१ वैवर्ण्यमिति ड० ।

२ भागकैरिति ष० ।

पौलिकापूपदध्यन्त्रैः पञ्चरात्रं बलिं हरेत् ।
 निम्बधूपकुष्ठलेप एकादशमके ग्रही ॥ ४३ ॥
 देवदूती निष्ठुरवाक् बलिर्लेपादि पूर्ववत् ।
 बलिका द्वादशे श्वासी बलिर्लेपादि पूर्ववत् ॥ ४४ ॥
 त्रयोदशे वायवी च मुखवाह्याङ्गसादनम् ।
 रक्तान्नगन्धमाख्याद्यैर्बलिः पञ्चदशैः क्षपेत् ॥ ४५ ॥
 राजीनिस्वदलैर्धूपो यक्षिणी च चतुर्दशे ।
 चेष्टा शूलं ज्वरो दाहो मांसभक्षादिकैर्बलिः ॥ ४६ ॥
 स्नानादि पूर्ववच्छान्त्यै मुण्डिकार्त्तिस्त्रिपञ्चके ।
 तच्चेष्टासृक्श्रवः शश्वत्कुर्व्यान्मातृचिकित्सनम् ॥ ४७ ॥
 वानरी षोडशी भूमौ पतेन्निद्रा सदा ज्वरः ।
 पायसाद्यैस्त्रिरात्रञ्च बलिः स्नानादि पूर्ववत् ॥ ४८ ॥
 गन्धवती सप्तदशे गान्धोद्देगः प्ररोदनम् ।
 कुल्माषाद्यैर्बलिः स्नानधूपलेपादि पूर्ववत् ॥ ४९ ॥
 दिनेशाः पूतना नाम वर्षेशाः सुकुमारिकाः ।

श्रीं नमः सर्वमादृभ्यो बालपीडासंयोगं भुञ्ज भुञ्ज चुट चुट
 स्फोटय स्फोटय स्फुर स्फुर गृह्ण गृह्ण आकट्टय आकट्टय एवं
 सिद्धरूपी प्रापयति । हर हर निर्दीपं कुरु कुरु बालिकां बालं
 स्त्रियम् पुरुषं वा सर्वग्रहाणामुपक्रमात् ।

चामुण्डे नमो देव्यै ह्रूं ह्रूं ह्रीं अपसर अपसर दुष्टग्रहान्
 ह्रूं तद्यथा गच्छन्तु गृह्णकाः अन्यत्र पत्यानं रुद्री प्रापयति ।

सर्वबालग्रहेषु स्यान्मन्त्रोऽयं सर्वकामिकः ॥ ५० ॥

श्रीं नमो भगवति चामुण्डे मुञ्च मुञ्च बलिं बालिकां वा ।

बलिं गृह्ण गृह्ण जय जय वस वस ।
 सर्वत्र बलिदानेऽयं रक्षाकृत् पठते मनुः ।
 ब्रह्मा विष्णुः शिवः स्कन्दी गौरी लक्ष्मीर्गणादयः ।
 रक्षन्तु च ज्वराभ्यान्तं मुञ्चन्तु च कुमारकम् ॥ ५१ ॥
 इत्याग्नये महापुराणे बालग्रहहरं बालतन्त्रं नाम
 अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

ग्रहहृन्मन्त्रादिकम् ।

अग्निरुवाच । ग्रहापहारमन्त्रादीन् वक्ष्ये ग्रहविमर्दनान् ।
 हर्षच्छाभयश्रीकादिविरुद्धाशुचिभोजनात् ॥ १ ॥
 गुरुदेवादिक्रीपाञ्च पञ्चोन्मादा भवन्त्यऽथ ।
 त्रिदोषजाः सन्निपाता आगन्तुरिति ते स्मृताः ॥ २ ॥
 देवादयो ग्रहा जाता रुद्रक्रीधादनेकधा ।
 सरित्सरस्तङ्गागादौ शैलोपवनसेतुषु ॥ ३ ॥
 नदीसङ्गे शून्यगृहे विलहार्थ्यैकवृक्षके ।
 ग्रहा गृह्णन्ति पुंसश्च त्रियः(१) सुप्ताश्च गर्भिणीम् ॥ ४ ॥
 आसन्नपुष्यात्रमन्त्राञ्च ऋतुज्ञानं करोति या ।
 अवमानं नृणां वैरं विभ्रं भाग्यविपर्ययः ॥ ५ ॥
 देवतागुरुधर्मादिसदाचारादिलङ्घनम् ।

१ क्षिय रति ज०, ट० च ।

पतनं शैलवृक्षादेर्विधुन्वन्मूर्धजं सुहुः ॥ ६ ॥
 रुदनृत्यति रक्ताक्षी हं रूपोऽनुग्रही नरः ।
 उद्विग्नः शूलदाहार्त्तः क्षुत्तृष्णार्त्तः शिरोर्त्तिमान् ॥ ७ ॥
 देहि दहीति याचेत बलिकामग्रही नरः ।
 स्त्रीमालाभोगस्त्रानेच्छूरतिकामग्रही नरः ॥ ८ ॥
 महासुदर्शनो व्योमव्यापी विटपनासिकः(१) ।
 पातालनारसिंहाद्या चण्डीमन्वा ग्रहार्दनाः ॥ ९ ॥
 पृथ्वीहिङ्गुवचाचक्रशिरीषदयितम्परम् ।
 पाशाङ्कुशधरं देवमक्षमालाकपालिनम् ॥ १० ॥
 खट्वाङ्गाजादिशक्तिश्च दधानं चतुराननम् ।
 अन्तर्वाह्यादिखट्वाङ्गपद्मस्थं रविमण्डले ॥ ११ ॥
 आदित्यादियुतं प्राच्यं उदितेर्केऽर्घाकं ददेत् ।
 श्वासविषाग्निविप्रकुण्डीहृल्लेखासकली भृगुः ॥ १२ ॥
 अर्काय भूर्भुवःस्रश्च ज्वालिनीं कुलमुद्गरम् ।
 पद्मासनोऽरुणो रक्तवस्त्रसद्युतिविश्वकः ॥ १३ ॥
 उदारः पद्मधृग्दीर्घ्यां सौम्यः सर्वाङ्गभूषितः ।
 रक्ता हृदादयः सौम्या वरदाः पद्मधारिणः ॥ १४ ॥
 विद्युत्पुञ्जनिभं वस्त्रं श्वेतः सौम्योऽरुणः कुजः ।
 बुधस्तहद्गुरुः पीतः शुक्लः शुक्रः शनैश्वरः ॥ १५ ॥
 कृष्णाङ्गारनिभो राहुर्धूम्रः केतुरदाहृतः ।
 वामीरुवामहस्तान्ते दक्षहस्ताभयप्रदा ॥ १६ ॥
 खनामाद्यन्तु वीजास्ते हस्तौ संशोध्य चास्त्रतः ।

१ चिपिटनासिक इति अ० ।

अङ्गुष्ठादौ तले नेत्रे हृदाद्यं व्यापकं न्यसेत् ॥ १७ ॥
 मूलवीजैस्त्रिभिः प्राणधायकं न्यस्य साङ्गकम् ।
 प्रक्षाल्य पात्रमस्त्रेण मूलेनापूर्य वारिणा ॥ १८ ॥
 गन्धपुष्पाक्षतं न्यस्य दूर्वामर्घ्याञ्च मन्त्रयेत् ।
 आत्मानं तेन सम्प्रोक्ष्य पूजाद्रव्यञ्च वै ध्रुवम् ॥ १९ ॥
 प्रभूतं विमलं सारमाराध्यं परमं सुखम् ।
 पीठाद्यान् कल्पयेदेतान् हृदा मध्ये विदिक्षु च ॥ २० ॥
 पीठोपरि हृदा मध्ये दिक्षु चैव विदिक्षु च ।
 पीठोपरि हृदाजञ्च केशवेष्वष्टशक्तयः ॥ २१ ॥
 वां दीप्तां वीं तथा सूक्ष्मां वृक्ष्यां वृक्ष्णं भद्रिकां ।
 वै विभूर्तीं वै विमलां वोमसिघातविद्युताम् ॥ २२ ॥
 वीं सर्वतोमुखीं वं पीठं वः प्रार्थ्य रविं यजेत् ।
 आवाह्य दद्यात् पाद्यादि हृत्षडङ्गेन सुव्रत ॥ २३ ॥
 खकारौ दण्डिनौ चण्डौ मज्जा दशनसंयुता ।
 मांसदीर्घा जरहायुहृदैतत् सर्वदं रवेः ॥ २४ ॥
 वङ्गीशरत्नी मरुता दिक्षु पूज्या हृदादयः ।
 स्त्रमन्त्रैः कर्णिकान्तस्था दिक्ष्वस्त्रं पुरतः सदृक् ॥ २५ ॥
 पूर्व्वदिदिक्षु सम्पूज्याश्चन्द्रगुरुभार्गवाः ।
 नस्याञ्जनादि कुर्वीत साजमूत्रैर्ग्रहापहैः ॥ २६ ॥
 पाठापथ्यावचाशिशुसिन्धुव्योषैः पृथक् फलैः ।
 अजाक्षीराढके पक्षसर्पिः सर्वग्रहान् हरेत् ॥ २७ ॥
 वृश्चिकालीफलीकुष्ठं लवणानि च शार्ङ्गकम् ।
 अपस्मारविनाशाय तज्जलं त्वभिभीजयेत् ॥ २८ ॥

विदारौकुशकाशित्तुक्काथजं पाययेत् पयः ।

द्रोणे सयष्टिकुष्माण्डरसे सर्पिश्च संस्कृतौ ॥ २८ ॥

पञ्चगव्यं घृतं तद्वद्योगं ज्वरहरं शृणु ।

ओं भस्मास्त्राय विघ्नहे एकदंष्ट्राय

धीमहि तन्नो ज्वरः प्रचोदयात् ।

कृष्णोषणनिशाराम्नाद्राक्षातैलं गुडं लिहेत् ॥ ३० ॥

श्लासवानथ वा भार्गी सयष्टिमधुसर्पिषा ।

पाठा तिक्ता कणा भार्गी अथवा मधुना लिहेत् ॥ ३१ ॥

धात्री विश्वसिता कृष्णा मुस्ता खर्जूरमागधी ।

पिवरश्चेति द्विकान्नं तत् त्रयं मधुना लिहेत् ॥ ३२ ॥

कामली जीरमाण्डूकीनिशाधात्रीरसं पिवेत् ।

व्योषपद्मकत्रिफलाकिङ्कदेवदारवः ।

राम्नाचूर्णं समं खण्डैर्जग्ध्वा कासहरं ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे ग्रहहन्मन्त्रादिकं नाम

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ त्रिशततमोऽध्यायः ।



सूर्याश्चनम् ।

अग्निरुवाच । शय्या तु दण्डिसाजिशपावकश्चतुराननः ।

सर्वार्थसाधकमिदं वीजं पिण्डार्थमुच्यते ॥ १ ॥

स्वयं दीर्घस्वराद्यश्च वीजेष्वङ्गानि सर्वशः ।

खातं साधु विषञ्चैव सविन्दुं सकलं तथा ॥ २ ॥

गणस्य पञ्च बीजानि पृथग्दृष्टफलं महत् ।
 गणं जयाय नमः एकदंष्ट्राय अचल-
 कर्णिने गजवक्त्राय महोदरहस्ताय ।
 पञ्चाङ्गं सर्वसामान्यं सिद्धिः स्यात्तत्रजाप्यतः ॥ ३ ॥
 गणाधिपतये गणेश्वराय गणनायकाय गणक्रीडाय ।
 दिग्दले पूजयेन्मूर्त्तिः पुरावच्चाङ्गपञ्चकम् ।
 वक्रतुण्डाय एकदंष्ट्राय महोदराय गजवक्त्राय ।
 विकटाय विघ्नराजाय धूम्रवर्णाय ।
 दिग्विदिक्षु यजेदेतास्त्रिकांशांश्चैव मुद्रया ॥ ४ ॥
 मध्यमातर्जनीमध्यगताङ्गुष्ठी समुष्टिकौ ।
 चतुर्भुजो मोदकाढ्यो दण्डपाशाङ्गुशान्वितः ॥ ५ ॥
 दन्तभक्षधरं रक्तं सङ्गं पाशाङ्गुशैर्वृतम् ।
 पूजयेत्तं चतुर्थ्यांश्च विशेषेनाथ नित्यशः ॥ ६ ॥
 श्वेतार्कमूलेन कृतं सर्वाग्निः स्यात्तिलैर्घृतैः ।
 तण्डुलैर्दधिमध्वाज्यैः सौभाग्यं वश्यता भवेत् ॥ ७ ॥
 घोषास्रक्प्राणधाल्वर्दी दण्डी मार्त्तण्डभैरवः ।
 धर्मार्थकाममोक्षाणां कर्त्ता विम्बपुटावृतः ॥ ८ ॥
 ऋक्षाः स्युर्मूर्त्तर्यः पञ्च दीर्घा अङ्गानि तस्य च ।
 सिन्दूरारुणमीशाने वामार्धदयितं रविं ॥ ९ ॥
 आग्नेयादिषु कोणेषु कुजमन्दाहिकेतवः ।
 स्नात्वा विधिवदादित्यमाराध्यार्घ्यपुरःसरं ॥ १० ॥
 कतान्तमैशे निर्माल्यं तेजश्चण्डाय दीपितं ।
 रोचना कुङ्कुमं वारि रक्तगन्धाच्चताङ्गुराः ॥ ११ ॥

(१५)

वेणुवीजयवाः शालिश्यामाकतिलराजिकाः ।
 जवापुष्पान्वितां दत्त्वा पात्रैः शिरसि धार्यं तत्(१) ॥ १२ ॥
 जानुभ्यामवनीकृत्वा सूर्यायार्घ्यं निवेदयेत् ।
 स्वविद्यामन्त्रितैः कुम्भैर्नवभिः प्रार्थ्यं वै ग्रहान् ॥ १३ ॥
 ग्रहादिशान्तये स्नानं जघ्नाकं सर्वमाप्नुयात् ।
 संग्रामविजयं सग्निं वीजदीपं सविन्दुकं ॥ १४ ॥
 न्यस्य मूर्धादिपादान्तं मूलं पूज्य तु सुद्रया ।
 स्वाङ्गानि च यथान्यासमात्मानं भावयेद्भुवि ॥ १५ ॥
 ध्यानञ्च मारणस्तन्त्रे पीतमाप्यायने सितम् ।
 रिपुघातविधौ(२) कृष्णं मोहयेत्कृक्वापवत् ॥ १६ ॥
 योऽभिषेकजपध्यानपूजाहोमपरः सदा ।
 तेजस्वी ह्यजयः श्रीमान् समुद्रादौ जयं लभेत् ॥ १७ ॥
 ताम्बूलादाविदं न्यस्य जघ्ना दद्यादुशीरकं ।
 न्यस्तवीजेन हस्तेन स्पर्शनं तद्दशै स्मृतं ॥ २८ ॥
 इत्त्वान्नेये महापुराणे सूर्यार्घ्यं नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथैकाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

मानामन्त्राः ।

अग्निरवाच । वाक्कर्म्मपार्श्वयुक्शुक्रतोक्कते मतो ब्रह्मः ।

इतान्ता देशवर्णयं विद्या सुख्या सरस्वती ॥ १ ॥

१ धार्यं चेति ७० ।

२ विद्युत्पातविधाविति घ०, ज०, ञ०, ट० च ।

अक्षाराशी वर्णलक्षं जपेत् स मतिमान् भवेत् ।
 अग्निः सवक्त्रिर्वामाच्चिविन्दुरिन्द्राय हृत्परः ॥ २ ॥
 वज्रपद्मधरं शक्रं पीतमावाह्य पूजयेत् ।
 नियुतं होमयेदान्यतिलांस्तेनाभिषेचयेत् ॥ ३ ॥
 नृपादिर्भ्रष्टरज्यादीनाञ्चपुत्रादिमाप्नुयात् ।
 ह्रस्वेखा शक्तिदेवाख्या दीषान्निर्हण्डिदण्डवान् ॥ ४ ॥
 शिवमिद्धा जपेच्छक्तिमष्टम्यादिचतुर्हशीं ।
 चक्रपाशाङ्कुशधरां साभयां वरदायिकां ॥ ५ ॥
 होमादिना च सौभाग्यं कवित्वं पुत्रवान् भवेत् ।
 श्रीं श्रीं श्रीं नमः कामाय सर्व्वजनहिताय सर्व्वजनमोह-
 नाय प्रज्वलिताय सर्व्वजनहृदयं ममात्मगतं कुरु ॥ श्रीं ।
 एतज्जपादिना मन्त्रो वश्ययेत् सकलं जगत् ॥ ६ ॥
 श्रीं श्रीं चामुण्डे अमुकन्दहश् पचश् मम वशमानयश् ठश् ।
 वशीकरणकृत्स्नश्चामुण्डायाः प्रकीर्तितः ।
 फलत्रयकषायेण वराङ्गं चालयेद्वशे ॥ ७ ॥
 अश्वगन्धायत्रैः स्त्री तु निशाकपूर्वकादिना ।
 पिप्पलीतण्डुलान्यष्टौ मरिचानि च विंशतिः ॥ ८ ॥
 बृहतीरसलेपस्य वशे स्यान्मरणान्तिकं ।
 काटीरमूलत्रिकटुचौद्रलेपस्तथा भवेत् ॥ ९ ॥
 हिमं कपित्थकरभं मागधी मधुकं मधु ।
 तेषां लेपः प्रयुक्तस्तु दम्पत्योः स्वस्तिमावहेत् ॥ १० ॥
 सशर्करयोनिलेपात् कदम्बरसको मधु ।
 सहदेवी महालक्ष्मीः पुत्रजीवी कृताञ्जलिः ॥ ११ ॥

एतच्चूर्णं शिरःक्षिप्तं लोकस्य वशमुत्तमम् ।
 त्रिफलाचन्दनकाथप्रस्था द्विकुङ्कुवम् पृथक् ॥ १२ ॥
 भृङ्गहेमरसन्दीषातावती चुच्चुकं मधु ।
 घृतैः पक्वा निशा ह्याया शुष्का लोप्या तु रजनी ॥ १३ ॥
 विदारिणीं सोश्चटामाषचूर्णीभूतां सशर्करां ।
 मथितां यः पिवेत् क्षीरैर्नित्यं क्षीयतकं व्रजेत् ॥ १४ ॥
 गुल्ममाषतिलत्रीङ्घ्रिचूर्णं क्षीरसितान्वितं ।
 अश्वत्थवंशदर्भाणां मूलं वै वैष्णवीत्रियोः ॥ १५ ॥
 मूलं दूर्वाश्वगन्धोत्थं पिवेत् क्षीरैः सुतार्थिनी ।
 कौन्तीलक्ष्मणाः शिफा धानी वषं लोभ्रं वटाङ्गुरम् ॥ १६ ॥
 आग्न्यक्षीरमृती पेयं पुत्रार्थं त्रिदिवं स्त्रिया ।
 पुत्रार्थिनी पिवेत् क्षीरं श्रीमूलं सवटाङ्गुरम् ॥ १७ ॥
 श्रीवटाङ्गुरदेवीनां रसं नस्ये पिवेच्च सा ।
 श्रीपद्ममूलसुत्क्षीरमश्वत्थोत्तरमूलयुक् ॥ १८ ॥
 तरलं पयसा युक्तं कार्पासफलपङ्कवं ।
 अपामार्गस्य पुष्याद्यं नवं समहिषीपयः ॥ १९ ॥
 पुत्रार्थंश्चाक्षैषट्शकैर्योगासत्वार ईरिताः ।
 शर्करोत्पलपुष्याक्षलोभ्रचन्दनसारिवाः ॥ २० ॥
 स्रवमाणे स्त्रिया गर्भे दातव्यास्तण्डुलाश्रया ।
 लाजा यष्टिसिताद्राक्षाचौद्रसर्पीषि वा लिहेत् ॥ २१ ॥
 अट्ठकलाङ्गुल्यः काकमाथाः शिफा पृथक् ।
 नाभेरधः समालिप्य प्रसृते प्रमदा सुखम् ॥ २२ ॥
 रक्तं शुक्लं जावापुष्यं रक्तशुक्लस्रुती पिवेत् ।

केशरं वृहतीमूलं गोपीयष्टिदणोत्पलम् ॥ २३ ॥

साजक्षीरं सतैलं तद्भक्षणं रोमजम्बकम् ।

शीर्षमाणेषु केशेषु स्थापनञ्च भवेदिदम् ॥ २४ ॥

धानीभृङ्गरसप्रस्थतैलञ्च क्षीरमाढकम् ।

श्रीं नमो भगवते त्र्यम्बकाय उपशमयश्च तुलुर मिलिर
भिदर गोमानिनि चक्रिणि क्रूँ फट् ॥

अस्मिन् ग्रामे गोकुलस्य रक्षां कुरुश्च ग्रान्तिं कुरुश्च ।

घण्टाकर्षी महासेनो वीरः प्रोक्तो महाबलः ॥ २५ ॥

मारोनिर्नाशनकारः स मां पातु जगत्पतिः ।

श्लोकौ चैव न्यसेदतो मन्त्रौ गोरक्षकौ पृथक् ॥ २६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे नानामन्त्रा नामैकाधिक-
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ द्व्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

अङ्गाक्षराक्षनम् ।

अग्निह्वाच । यदा जम्बकगन्धन्धो भानुः सप्तमराशिगः ।

पौष्णः कालः स विज्ञेयस्तदा आसं परीक्षयेत् ॥ १ ॥

कण्टोष्ठौ चलतः स्थानाद्यस्य वक्रा च नासिका ।

कृष्णा च जिह्वा सप्ताहं जीवितं तस्य वै भवेत् ॥ २ ॥

तारो मेघो विषं दन्ती नरो दीर्घा घणा रसः ।

क्रुद्धोल्काय महील्काय वीरोल्काय शिखा भवेत् ॥ ३ ॥

ह्यस्काय सहसोस्काय वैष्णवोष्ठाक्षरो मनुः ।
 कनिष्ठादितदष्टानामङ्गुलीनाञ्च पर्वसु ॥ ४ ॥
 ज्येष्ठाग्रेण क्रमात्तावन्मूर्धन्योष्ठाक्षरं न्यसेत् ।
 तर्ज्जन्यान्तारमङ्गुल्ले लग्ने मध्यमया च तत् ॥ ५ ॥
 तलेङ्गुल्ले तदुत्तारं वीजोत्तारं ततो न्यसेत् ।
 रक्तगौरधूम्रहरिज्जातरूपाः सितास्त्रयः ॥ ६ ॥
 एवं रूपानिमान् वर्णान् भाववुद्ध्याभ्यसेत् क्रमात् ।
 हृदास्यनेत्रमूर्धाङ्घ्रिजालुगुह्यकरादिषु(१) ॥ ७ ॥
 अङ्गानि च न्यसेद्बीजाभ्यस्याथ करदेहयोः ।
 यथात्मनि तथा देवे न्यासः कार्य्यः करं विना ॥ ८ ॥
 हृदादिस्थानगान् वर्णान् गन्धपुष्पैः समर्चयेत् ।
 धर्माद्यग्न्याद्यधर्मादि गात्रे पीठेऽम्बुजे न्यसेत् ॥ ९ ॥
 यत्र केसरकिञ्चल्लक्व्यापिसुर्य्येन्दुदाहिनां ।
 मण्डलन्वितयन्तावद् भेदैस्तत्र न्यसेत् क्रमात् ॥ १० ॥
 गुणाश्च तन्त्रसत्त्वाद्याः केसरस्थाश्च शक्तयः ।
 विमलोत्कर्षणीज्ञानक्रियायोगाश्च वै क्रमात् ॥ ११ ॥
 प्रह्वी सत्या तथेशानानुग्रहा मध्यतस्ततः ।
 योगपीठं समभ्यर्च्य समावाह्य हरिं यजेत् ॥ १२ ॥
 पाद्यार्घ्याचमनीयञ्च पीतवस्त्रविभूषणं ।
 एतत् पञ्चोपचारञ्च सर्व्वं मूलेन दीयते ॥ १३ ॥
 वासुदेवादयः पूज्याश्चत्वारो दिक्षु मूर्त्तयः ।
 विदिक्षु श्रीसरस्वत्यै रतिशान्त्यै च पूजयेत् ॥ १४ ॥

१ हृदास्यनेत्रमूर्धाङ्घ्रिजालुगुह्यकरादिष्विति ख० ।

शङ्खं चक्रं गदां पद्मं सुषलं खड्गशार्ङ्गिके ।
 वनमालान्वितं दिक्षु विदिक्षु च यजेत् क्रमात् ॥ १५ ॥
 अभ्यर्च्य च वह्निस्तार्क्ष्यं देवस्य पुरतोऽर्चयेत् ।
 विश्वक्सेनञ्च सीमेशं मध्ये आवरणाद्दहिः(१) ।
 इन्द्रादिपरिचारेण पूज्य सर्वमवाप्नुयात् ॥ १६ ॥
 इत्याभ्ये महापुराणे अङ्गाक्षरार्चनं नाम द्वादश-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ त्र्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

पञ्चाक्षरादिपूजामन्त्राः ।

अग्निर्वाच । मेघः संज्ञा विषं साज्यमस्ति दीर्घोदकं रसः ।
 एतत् पञ्चाक्षरं मन्त्रं शिवदञ्च शिवात्मकं ॥ १ ॥
 तारकादि समभ्यर्च्य देवत्वादि समाप्नुयात् ।
 ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म परं बुद्धिः शिवो हृदि ॥ २ ॥
 तच्छक्तिभूतः सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादिमूर्तिभिः ।
 मन्त्रार्थाः पञ्च भूतानि तन्मन्त्रा विषयास्तथा ॥ ३ ॥
 प्राणादिवायवः पञ्च ज्ञानकर्म्मन्द्रियाणि च ।
 सर्वं पञ्चाक्षरं ब्रह्म तद्दृष्टाक्षरान्तकः ॥ ४ ॥
 गव्येन प्रचयेद्दीक्षास्थानं मन्त्रेण चोदितं ।
 तन्मन्त्रसम्भूतसम्भावः शिवमिष्टा विधानतः ॥ ५ ॥

१ मध्येषु गौरषाद्दक्षिरिति ख०, झ०, ञ० च ।

मूलमूर्त्यङ्गविद्याभिस्तण्डुलक्षेपणादिकम् ।
 कृत्वा चरुञ्च यत् क्षीरं पुनस्तद्विभजेत् त्रिधा ॥ ६ ॥
 निवेद्यैकं परं हुत्वा सशिथीऽन्यद्भजेद्भुक् ।
 आचम्य सकलीकृत्य दद्याच्छिष्याय देशिकः ॥ ७ ॥
 दन्तकाष्ठं हृदा जप्तं क्षीरवृक्षादिसम्भवम् ।
 संशोध्य दन्तान् संक्षिप्त्वा प्रक्षाल्यैतत् क्षिपेद्भुवि ॥ ८ ॥
 पूर्व्वेण सौम्यवारीशगतं शुभमतौ शुभम् ।
 पुनस्तं शिष्यमायान्तं(१) शिश्नाबन्धादिरक्षितं ॥ ९ ॥
 कृत्वा वेद्यां सहानेन स्वपेद्दर्भास्तरे बुधः ।
 सुषुप्तं वीक्ष्य तं शिष्यः प्रभाते आवयेद्भुक् ॥ १० ॥
 शुभैः सिद्धिपदैर्भक्तिस्तैः पुनर्भण्डलार्चनम् ।
 मण्डलं भद्रकाद्युक्तं पूजयेत्सर्व्वसिद्धिदं ॥ ११ ॥
 स्नात्वाचम्य मृदा देहं मन्त्रैरालिप्य कल्पते ।
 शिवतीर्थे नरः स्नायादघमर्षणपूर्व्वकम् ॥ १२ ॥
 हस्ताभिषेकं कृत्वाथ प्रायात् पूजादिकं बुधः ।
 मूलेनाञ्जासनं कुर्यात्तेन पूरककुम्भकान् ॥ १३ ॥
 आत्मानं योजयित्वा शिखान्ते हादशाङ्गुले ।
 संशोष्य दग्ध्वा स्तनुं प्रावयेदमृतेन च ॥ १४ ॥
 ध्यात्वा दिव्यं वपुस्तस्मिन्नात्मानञ्च पुनर्नयेत् ।
 कृत्वैवं चात्मशुद्धिः स्यादित्यस्यार्चनमारभेत् ॥ १५ ॥
 क्रमात् कृष्णसितश्यामरक्तपीता नगादयः ।
 मन्त्रार्णां दण्डिनाङ्गानि तेषु सर्वास्तु मूर्त्तयः ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं विन्यस्याङ्गानि सर्व्वतः ।
 न्यसेन्नन्वाक्षरं पादगुह्यहृदक्लमूर्धसु ॥ १७ ॥
 व्यापकं न्यस्य मूर्ध्नादि मूलमङ्गानि विन्यसेत् ।
 रक्तपीतश्यामसितान् पीठपादान् स्वकालजान् ॥ १८ ॥
 स्वाङ्गान्मन्त्रैर्न्यसेद्वाचाख्यधर्मादीनि दिक्षु च ।
 तत्र पद्मञ्च सूर्यादिमण्डले त्रितयं गुणान् ॥ १९ ॥
 पूर्व्वोदिपत्रे कामाद्या नवकं कर्णिकोपरि ।
 वामा ज्येष्ठा क्रमाद्रीद्री काली कलविकारिणी ॥ २० ॥
 बलविकारिणी चाथ बलप्रमथनी तथा ।
 सर्व्वभूतदमनी च नवमी च मनोन्मनी ॥ २१ ॥
 खेता रक्ता सिता पीता श्यामा वङ्गिनिभाषिता ।
 कृष्णारुणाश्च ताः शक्तीर्ज्वालारूपाः स्मरेत् क्रमात् ॥ २२ ॥
 अनन्तयोगपीठाय आवाह्याथ हृदयतः ।
 स्फटिकाभं चतुर्व्विधुं फलशूलधरं शिवम् ॥ २३ ॥
 साभयं वरदं पञ्चवदनञ्च त्रिलोचनम् ।
 पत्रेषु मुर्त्तयः पञ्च स्थाप्यास्तत्पुरुषादयः ॥ २४ ॥
 पूर्व्वं तत्पुरुषः खेती अघोरोऽष्टभुजोऽसितः ।
 चतुर्व्विधुमुखः पीतः सद्योजातश्च पश्चिमे ॥ २५ ॥
 वामदेवः स्त्रीविलासी चतुर्वक्त्रभुजोऽरुणः ।
 सौम्ये पञ्चास्य ईशाने ईशानः सर्व्वदः सितः ॥ २६ ॥
 इष्टाङ्गानि यथान्यायमनन्तं सत्त्वमर्चयेत् ।
 सिद्धेश्वरं त्वेकनेत्रं पूर्व्वोदौ दिशि पूजयेत् ॥ २७ ॥
 एकरुद्रं त्रिनेत्रञ्च श्रीकण्ठञ्च शिखण्डिनम् ।

ऐशान्यादिविदिक्ष्वेते विद्येयाः कमलासनाः(१) ॥ २८ ॥
 श्वेतः पीतः सितो रक्तो धूम्रो रक्तोऽरुणः शितः ।
 शूलाग्निशरेश्वासवाहवस्यतुराननाः ॥ २९ ॥
 उमा चण्डेश्वरन्दीशौ महाकालो गणेश्वरः ।
 हृषी भृङ्गरिटस्कन्दानुत्तरादौ प्रपूजयेत् ॥ ३० ॥
 कुलिशं शक्तिदण्डौ च खड्गपाशध्वजौ गदां ।
 शूलं चक्रं यजेत् पद्मं पूर्व्वर्वादी देवमर्थ्यं च ॥ ३१ ॥
 ततोऽधिवासितं शिष्यं पाययेद्भव्यपञ्चकम् ।
 आचान्तं प्रोच्य नेत्रान्तैर्नेत्रे नेत्रेण बन्धयेत् ॥ ३२ ॥
 द्वारं प्रवेशयेच्छिष्यं मण्डपस्याथ दक्षिणे ।
 सासनादिकुशासीनं तत्र संशोधयेद्गुरुः ॥ ३३ ॥
 आदितत्त्वानि संहृत्य परमार्थं लयः क्रमात् ।
 पुनरुत्पादयेच्छिष्यं सृष्टिमार्गेण देशिकः ॥ ३४ ॥
 न्यासं शिष्ये ततः कृत्वा तं प्रदक्षिणमानयेत् ।
 पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत् कुसुमाञ्जलिम् ॥ ३५ ॥
 यस्मिन् पतन्ति पुष्पाणि तन्नामाद्यं विनिर्दिशेत् ।
 पार्श्वे यागभुवः खाते कुण्डे सन्नाभिमे खले(२) ॥ ३६ ॥
 शिवाग्निं जनयित्वेष्टा पुनः शिष्येण चार्चयेत् ।
 ध्यानेत्रान्मनिभं शिष्यं संहृत्य प्रलयः क्रमात् ॥ ३७ ॥
 पुनरुत्पाद्य तत्पाणी दद्याद्दर्भांश्च मन्त्रितान् ।
 पृथिव्यादीनि तत्त्वानि जुहुयाद्दद्यादिभिः ॥ ३८ ॥

१ कमलाननारति उ० ।

२ सन्नादिमेखले इति उ० ।

एकैकस्य शतं हुत्वा व्योममूलेन होमयेत् ।
हुत्वा पूर्णाहुतिं कुर्यादस्त्रेणाष्टाहुतीर्हुनेत् ॥ ३८ ॥
प्रायश्चित्तं विशुद्धार्थं ततः शेषं समापयेत् ।
कुम्भं समन्वितं प्रार्थ्य शिशुं पीठेऽभिषेचयेत् ॥ ४० ॥
शिष्ये तु समयं दत्वा स्वर्गाद्यैः स्वगुरुं यजेत् ।
दीक्षा पञ्चाक्षरस्योक्ता विष्णुादेरेवमेव हि ॥ ४१ ॥
इत्याग्नेये महापुराणे पञ्चाक्षरादिपूजामन्त्रा नाम
त्रयधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ चतुरधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामानि ।

अग्निरुवाच । जपन् वै पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामानि यो नरः ।
मन्त्रजप्यादिफलभाक् तीर्थेष्वर्चादि चाक्षयम् ॥ १ ॥
पुष्करे पुण्डरीकाक्षं गयायाञ्च गदाधरम् ।
राघवश्चित्रकूटे तु प्रभासे दैत्यसूदनम् ॥ २ ॥
जयं जयन्त्यां तद्वच्च जयन्तं हस्तिनापुरे ।
वाराहं वर्धमाने च काश्मीरे चक्रपाणिनम् ॥ ३ ॥
जनार्दनञ्च कुलाम्ने मथुरायाञ्च केशवम् ।
कुलाम्नेके हृषीकेशं गङ्गाहारे जटाधरम् ॥ ४ ॥
शालग्रामे महायोगं हरिं गोवर्धनाचले ।

पिण्डारके चतुर्वाहुं शङ्खीहारे च शङ्खिनम् ॥ ५ ॥
 वामनश्च कुरुक्षेत्रे यमुनायां त्रिविक्रमम् ।
 विश्वेश्वरं तथा शोणे कपिलं पूर्वसागरे ॥ ६ ॥
 विष्णुं महोदधौ विद्याङ्गङ्गासागरसङ्गमे ।
 वनमालश्च किष्किन्ध्यां देवं रैवतकं विदुः ॥ ७ ॥
 काशीतटे महायोगं विरजायां रिपुञ्जयम् ।
 विशाखयूपे ह्यजितन्ने पाले लोकभावनम् ॥ ८ ॥
 द्वारकायां विद्धि कृष्णं मन्दरे मधुसूदनम् ।
 लोकाकुले रिपुहरं शालग्रामे हरिं स्मरेत् ॥ ९ ॥
 पुरुषं पूरुषवटे विमले च जगत्प्रभुं ।
 अनन्तं सैन्धवारण्ये दण्डके शार्ङ्गधारिणम् ॥ १० ॥
 उत्पलावर्त्तके शौरिं नर्मदायां त्रियः पतिं ।
 दामोदरं रैवतके नन्दायां जलशायिनं ॥ ११ ॥
 गोपीश्वरश्च सिन्धुधौ माहेन्द्रे चाण्डुतं विदुः ।
 सञ्जाद्री देवदेवेशं वैकुण्ठं मागधे वने ॥ १२ ॥
 सर्वपापहरं विन्ध्ये श्रीङ्गे तु पुरुषोत्तमम् ।
 आत्मानं हृदये विद्धि जपतां भुक्तिमुक्तिदम् ॥ १३ ॥
 वटे वटे वैश्रवणं चत्वरे चत्वरे शिवम् ।
 पर्वते पर्वते रामं सर्वत्र मधुसूदनं ॥ १४ ॥
 नरं भूमौ तथा व्योम्नि वशिष्ठे गरुडध्वजम् ।
 वासुदेवश्च सर्वत्र संस्मरन् भुक्तिमुक्तिभाक् ॥ १५ ॥
 नामान्येतानि विष्णोश्च जज्ञा सर्वमवाप्नुयात् ।
 क्षेत्रेष्वेतेषु यत् श्राद्धं दानं जप्यञ्च तर्पणम् ॥ १६ ॥

तत्सर्व्वं कीटिगुणितं सृतो ब्रह्ममयी भवेत् ।

यः पठेत् शृणुयाद्वापि निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

इत्यान्वेये महापुराणे पञ्चपञ्चाशद्विष्णुनामानि नाम
चतुरधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।



नारसिंहादिमन्त्राः ।

अग्निरुवाच । स्वप्नो विद्वेषणोच्चांठ उत्सादी भ्रममारणे ।

व्याधिञ्चेति स्मृतं क्षुद्रं तन्मोक्षी वक्ष्यते शृणु ॥ १ ॥

श्रीं नमो भगवते उष्णत्तरुद्राय भ्रम २ भ्रामय २ अमुकं
विचासय उद्भ्रामय २ रौद्रेण रूपेण ह्रं फट् ठ २ ।

भ्रमशाने निशि जप्तेन त्रिलक्षं मधुना हुनेत् ।

चिताम्नो धूर्त्तं समिद्धिभिर्भ्राम्यते सततं रिपुः ॥ २ ॥

हेमगैरिकया कृष्णा प्रतिमा हैमसूचिभिः ।

जम्बा विध्येच्च तत्कण्ठे हृदि वा भियते रिपुः ॥ ३ ॥

खरबालचिताभक्ष ब्रह्मदण्डी च मर्कटी ।

गृहे वा मूर्ध्नि तच्चूर्णं जप्तमुत्सादकत् क्षिपेत् ॥ ४ ॥

भृग्वाकाशौ सदीप्तान्निर्भृत्तुर्वक्त्रिश्च वर्त्म फट् ।

एवं सहस्रारे ह्रं फट् आचक्राय स्वाहा हृदयं विचक्राय शिवः ।

शिखाचक्रायथ कवचं विचक्रायथ नेत्रकम् ॥ ५ ॥

सञ्चक्रायास्त्रमुद्दिष्टं ज्यालाचक्राय पूर्ववत् ।
 शार्ङ्गं सुदर्शनं सुद्रयहृत् सर्वसाधनम् ॥ ६ ॥
 मूर्ध्नास्त्रिमुखहृद्गुह्यपादे ह्यस्याक्षराश्रयेत् ।
 चक्राज्जासनमग्न्याभं दंष्ट्रिणश्च चतुर्भुजम् ॥ ७ ॥
 शङ्खचक्रगदापद्मशलाकाङ्कुशपाणिनम् ।
 चापिनं पिङ्गकेशाक्षमरव्यासत्रिपिष्टपं ॥ ८ ॥
 नाभिस्तेनाग्निना विद्धा नश्यन्ते व्याधयो ग्रहाः ।
 पीतञ्चक्रं गदा रक्ताः स्वराः श्याममवान्तरं ॥ ९ ॥
 नेमिः श्वेता वह्निः कृष्णवर्णरेखा च पार्थिवी ।
 मध्येतरेमरे वर्णानिवं चक्रद्वयं(१) लिखेत् ॥ १० ॥
 आदावानीय कुम्भोदं गोचरे सन्निधाय च ।
 दत्त्वा सुदर्शनं तत्र याम्ये चक्रे हुनेत् क्रमात् ॥ ११ ॥
 आज्यापामार्गसमिधी ह्यक्षतं तिलसर्षपी ।
 पायसं गव्यमाज्यञ्च सहस्राष्टकसंख्यया ॥ १२ ॥
 हुतशेषं क्षिपेत् कुम्भे प्रतिद्रव्यं विधानवित् ।
 प्रस्थानेन कृतं पिण्डं कुम्भे तस्मिन्निवेशयेत् ॥ १३ ॥
 विष्णादि सर्वं तत्रैव न्यसेत् तत्रैव दक्षिणे ।
 नमो विष्णुजनेभ्यः सर्वशान्तिकरेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु शान्तये नमः ।
 दद्यादनेन मन्त्रेण हुतशेषाभ्रसा बलिं ॥ १४ ॥
 फलके कल्पिते पात्रे पलाशं क्षीरशाखिनः ।
 गव्यपूर्णं निवेश्यैव दिक्ष्वैवं होमयेद् द्विजैः ॥ १५ ॥
 सर्दाक्षिणमिदं होमद्वयं भूतादिनाशनम् ।

१ वर्षद्वयमिति च० ।

गव्याक्तपत्रलिखितैर्निष्पन्नैः क्षुद्रसुवृतम् ॥ १६ ॥

दूर्वाभिरायुषे पद्मैः त्रिये पुत्रा उडुम्बरैः ।

गोसिद्धै र सर्पिषा गोष्ठे मेधायै सर्वशाखिना ॥ १७ ॥

ओं ह्रीं नमो भगवते नारसिंहाय ज्वालामालिने दीप्तदंष्ट्राया-
ग्निनेत्राय सर्वरक्षोघ्नाय सर्वभूतविनाशाय सर्वज्वरविनाशाय
दहर पचर रचर ह्र फट ।

मन्त्रोयं नारसिंहस्य सकलाघनिवारणः ।

जप्यादिनाहरेत् क्षुद्रग्रहमारौविषामयान् ।

चूर्णमण्डूकवयसा जलाग्निस्तम्भकृत्वेत् ॥ १८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे नारसिंहादिमन्त्रा नाम

पञ्चाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— 000 —

त्रैलोक्यमोहनमन्त्राः ।

अग्निहवाच । वक्ष्ये मन्त्रं चतुर्वर्गसिद्धौ त्रैलोक्यमोहनम् ।

ओं श्रीं ह्रीं क्लूं श्रीं नमः पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तमप्रतिरूप
लक्ष्मीनिवास सकलजगत्क्षोभण सर्वस्त्रीहृदयदारण त्रिभुवन-
महोन्मादकर सुरमनुजसुन्दरोजनमनांसि तापय र दीपय र
शोषय र मारय र स्तम्भय र द्रावय र आकर्षय र परमसुभग सर्व-
सौभाग्यकर कामप्रद अमुकं हनर चक्ष्णेण गदया खड्गेण सर्व-

वाणैर्भिदंर पाशेन हृदर अङ्गुशेन ताडयंर तुरुर किन्तिष्ठसि-
यावत्तावत् समीहितं मे सिद्धं भवति ह्रं फट् नमः ।

ॐ पुरुषोत्तम त्रिभुवनमदीश्वर ह्रं फट् हृदयाय नमः
कर्षय महाबल ह्रं फट् अस्त्राय त्रिभुवनेश्वर सर्वजनमनांसि
हनर दारय २ मम वशमानय २ ह्रं फट् नेत्राय त्रैलोक्यमोहन
हृषीकेशप्रतिरूप सर्वस्त्रीहृदयाकर्षण आगच्छ २ नमः ॥

सङ्गाच्चिस्थायकेन न्यासं मूलवदीरितं ॥ १ ॥

इष्ट्वा सञ्चप्य पञ्चाशत्सहस्रमभिषिच्य च ।

कुण्डेऽग्नौ देविके वज्री चरुं कृत्वा शतं हुनेत् ॥ २ ॥

पृथग्दधि घृतं चीरं चरुं साज्यं पयः शृतं ।

हादशाहुतिमूलेन सहस्रञ्चाक्षतांस्तिलान् ॥ ३ ॥

यवं मधुत्रयं पुष्यं फलं दधि समिच्छतं ।

हुत्वा पूर्णाहुतिं शिष्टं प्राशयेत्सघृतं चरुं ॥ ४ ॥

सञ्भोज्य विप्रानाचार्यं तीषयेद्विध्यते मनुः ।

स्नात्वा यथावदाचम्य वाग्यतो यागमन्दिरं ॥ ५ ॥

गत्वा पद्मासनं बद्ध्वा शीषयेद्विधिना वपुः ।

रक्षोघ्नविघ्नकृद्दिक्षु न्यसेदादौ सुदर्शनम् ॥ ६ ॥

पञ्चवीजं नाभिमध्यस्थं धूम्रं चण्डानिलात्मकम् ।

अशेषं कल्पसं देहात् विज्ञेयदनुष्मरेत् ॥ ७ ॥

रंवीजं हृदयात्म्यं स्मृत्वा ज्वालाभिरादहेत् ।

उर्ध्वाधस्तिर्यगाभिस्तु मूर्ध्नि संप्रावयेद्वपुः ॥ ८ ॥

ध्यात्वा मृतैर्वह्निश्चान्तःसुषुम्नामार्यगामिभिः ।

एवं शुद्धवपुः प्राणानायम्य मनुना त्रिधा ॥ ९ ॥

विन्ध्यसेनास्तहस्तान्तः शक्तिं मस्तकवक्त्रयोः ।

गुह्ये गले दिक्षु हृदि कुक्षौ देहे च सर्व्वतः ॥ १० ॥

आवाह्य ब्रह्मरन्ध्रेण हृत्पद्मे सूर्य्यमण्डलात् ।

तारेण सम्परात्मानं स्मरेत् सर्व्वलक्षणं ॥ ११ ॥

त्रैलोक्यमोहनाय विद्महे स्माराय

धौमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।

आत्मार्चनात् क्रतुद्रव्यं प्रोक्षयेच्छुद्धपात्रकं ।

कृत्वात्मपूजां विधिना स्थण्डिले तं समर्चयेत् ॥ १२ ॥

कर्मादिकल्पिते पोठे पद्मस्थं गरुडीपरि ।

मर्वाङ्गसुन्दरं प्राप्तवयोस्त्रावण्ययौवनं ॥ १३ ॥

मदाघूर्णितताम्राक्षमुदारं स्मरविह्वलं ।

दिव्यमाल्याम्बरलेपभूषितं सस्त्रिताननं ॥ १४ ॥

विष्णुं नामाविधानेकपरिवारपरिच्छदम् ।

लोकानुग्रहणं सौम्यं सहस्रादित्यतेजसं ॥ १५ ॥

पञ्चवाणधरं प्राप्तकामैशं द्विचतुर्भुजम् ।

देवस्त्रीभिर्हृतं देवीसुखासक्तेक्षणं जपेत् ॥ १६ ॥

चक्रं शङ्खं धनुः खड्गं गदां सुषलमङ्गुशं ।

पाशञ्च विभ्रतं चाङ्घ्रिं दावाहादिविसर्गतः ॥ १७ ॥

त्रियं वामोरुजङ्घास्थां श्लिथन्तीं पाणिना पतिं ।

साज्जामरकरां पीनां श्रीवत्सकौस्तुभान्वितां ॥ १८ ॥

मालिनं पीतवस्त्रञ्च चक्राद्याव्यं हरिं यजेत् ।

श्रीं सुदर्शन महाचक्रराज दुष्टभयङ्कर छिद्र २ छिन्द २
विदारय २ परममन्त्रान् यस २ भक्षय २ भूतानि चाशप २ हं

(१७)

फट् श्रीं जलचराय स्वाहा । खड्गतीक्ष्ण छिन्द २ खड्गाय नमः ।
 शारङ्गाय सशराय ह्रं फट् । भूतग्रामाय विघ्नहे चतुर्विधाय
 धीमहि तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात् । सम्बत्तं क खसन पोथय २ ह्रं
 फट् स्वाहा । पाश बन्ध २ आकर्षय २ ह्रं फट् । अङ्गुथेन
 कट्ट ह्रं फट् ।

क्रमाङ्गेषु मन्त्रैः खैरेभिरस्त्राणि पूजयेत् ॥ १९ ॥

श्रीं पश्चिराजाय ह्रूं फट् ।

तार्क्ष्यं यजेत् कर्णिकायामङ्गदेवान् यथाविधि ।

शक्तिरिन्द्रादियन्त्रेषु तार्क्ष्याद्या धृतचामराः ॥ २० ॥

शक्तयोऽन्ते प्रयोज्यादौ सुरेशाद्याश्च दण्डिना ।

पीते लक्ष्मीसरस्वत्यौ रतिप्रीतिजयाः सिताः ॥ २१ ॥

कीर्त्तिकाभ्यौ सिते श्यामे तुष्टिपुष्ट्यौ स्मरोदिते ।

लोकेशान्तं यजेद्देवं विष्णुमिष्टार्थसिद्धये ॥ २२ ॥

ध्यायेन्मन्त्रं जपित्वैनं जुहुयात्त्वभिषेचयेत् ।

श्रीं श्रीं क्लीं ह्रीं ह्रं त्रैलोक्यमोहनाय विष्णवे नमः ।

एतत्पूजादिना सर्वान् कामानाप्नोति पूर्व्ववत् ॥ २३ ॥

तोयैः सम्मोहनौ पुष्यैर्नित्यन्तेन च तर्पयेत् ।

ब्रह्मा सशक्रश्रीदण्डी बीजं त्रैलोक्यमोहनम् ॥ २४ ॥

जम्बा त्रिलचं हुत्वा च लक्षं विल्वैश्च साज्यकैः ।

तण्डुलैः फलगन्धाद्यैः (१) दूर्वाभिस्त्रायुराप्रुयात् ॥ २५ ॥

तथाभिषेकहोमादिक्रियातुष्टौ ह्यभीष्टदः ।

श्रीं नमो भगवते वराहाय भूर्भुवः स्वः पतये भूपतित्वं मे
देहि हृदयाय स्वाहा ।

पञ्चाङ्गं नित्यमयुतं जम्नायूराण्यमाप्नुयात् ॥ २६ ॥

इत्यान्ते महापुराणे त्रैलोक्यमोहनमन्त्रो नाम षष्ठाधिक-
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्ताधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

त्रैलोक्यमोहनीलक्ष्मादिपूजा ।

अग्निरुवाच । वक्षः सवज्जिर्वामाक्षी दण्डी श्रीः सर्वसिद्धिदा ।

महाश्रिये महासिद्धे महाविद्युत्प्रभे नमः ॥ १ ॥

श्रिये देवि विजये नमः । गौरि महाबले बन्ध २ नमः । ह्र
महाकाये पद्महस्ते ह्रं फट् श्रियै नमः । श्रियै फट् श्रियै नमः ।
श्रियै फट् श्रीं नमः । श्रिये श्रीद नमः स्वाहा श्रीफट् ॥

अस्वाङ्गानि नवीक्तानि तेष्वेकञ्च समाश्रयेत् ।

त्रिलक्षमेकलक्षं वा जम्नाद्याञ्चैव भूतिदः ॥ २ ॥

श्रीगेहे विष्णुगेहे वा श्रियं पूज्य धनं लभेत् ।

आज्याक्तैस्तण्डुलैर्लक्षं जुहुयात् खादिरानले ॥ ३ ॥

राजा वश्यो भवेद्विद्विः श्रीय स्यादुत्तरोत्तरं ।

सर्षपाशोभिषेकेण नश्यन्ते सकला ग्रहाः ॥ ४ ॥

विखलक्षहृता लक्ष्मीर्वित्तवृद्धिश्च जायते ।

शक्रवेश्म चतुर्द्वारं हृदये चिन्तयेदथ ॥ ५ ॥

बलाकां वामनां श्यामां श्वेतपङ्कजधारिणीम् ।
 जर्षवाहुहयं ध्यायेत्क्रीडन्तीं हारि पूर्ववत् ॥ ६ ॥
 उर्ध्वीकृतेन हस्तेन रक्तपङ्कजधारिणीं ।
 श्वेताङ्गीं दक्षिणे हारि चिन्तयेद्दहनमालिनीम् ॥ ७ ॥
 हरितां दोर्हयेनोर्ध्वमुदहन्तीं सिताम्बुजम् ।
 ध्यायेद्दिभीषिकां नाम श्रीदूतीं हारि पश्चिमे ॥ ८ ॥
 शङ्करीमुत्तरे हारि तन्मध्ये ऽष्टदलपङ्कजम् ।
 वासुदेवः सङ्कषणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः ॥ ९ ॥
 धियास्ते पद्मपत्रेषु शङ्खचक्रगदाधराः ।
 अञ्जनचौरकाश्मीरहेमाभास्ते सुवाससः ॥ १० ॥
 आग्नेयादिषु पत्रेषु गुग्गुलुश्च कुरुण्टकः ।
 दमकः सलिलश्रेति हस्तिनो रजतप्रभाः ॥ ११ ॥
 हेमकुम्भधराश्चैते कर्षिकायां त्रियं सरेत् ।
 चतुर्भुजां सुवर्णाभां सपद्मोर्ध्वभुजहयां ॥ १२ ॥
 दक्षिणाभयहस्ताभां वामहस्तावरप्रदां ।
 श्वेतगन्धांशुकामेकरौम्यमालास्त्रधारिणीं ॥ १३ ॥
 ध्यात्वा सपरिवारान्तामभ्यर्च्य सकलं लभेत् ।
 द्रोणाजपुष्यश्रीवृक्षपर्णं मूर्द्धि न धारयेत् ॥ १४ ॥
 लवणामलकं वर्ज्यं नागादित्यतिथौ क्रमात् ।
 पायसाग्नी जपेत् स्रक्तं त्रियस्तेनाभिषेचयेत् ॥ १५ ॥
 आवाहादिविसर्गान्तां मूर्द्धि ध्यात्वार्चयेत् त्रियम् ।
 विष्वाज्याजपयसेन पृथग् योगः त्रिये भवेत् ॥ १६ ॥
 विषं महिषकालाग्निरुद्रिज्योतिर्वक्त्रयम् ।

ओं ह्रीं महामहिषमर्दिनि ठ ठ मूलमन्त्रं महिषहिंसके
नमः । महिषशत्रुं भ्रामय २ ह्रं फट् ठ ठ महिषं हेषय २
ह्रं महिषं हन २ देवि ह्रं महिषनिघ्नदनि फट् ।

दुर्गाहृदयमित्युक्तं साङ्गं सर्वार्थसाधकम् ॥ १७ ॥

यजेद्यथोक्तं तां देवीं पीठञ्चैवाङ्गमध्यगम् ।

ओं ह्रीं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा चेति दुर्गायै नमः । वरवर्ण्यै
नमः । आर्यायै कनकप्रभायै कृत्तिकायै अभयप्रदायै कन्यकायै
सुरूपायै ॥

पत्रस्थाः पूजयेदेता मूर्त्तीराद्यैः स्वरैः क्रमात् ॥ १८ ॥

चक्राय शङ्खाय गदायै खड्गाय धनुषे वाणाय ॥

अष्टम्याद्यै रिमां दुर्गां लोकेशान्तां यजेदिति ।

दुर्गायोगः समायुःश्रीस्वामिरत्नाजयादिहृत् ॥ १९ ॥

ससाध्येशानमन्त्रेण तिलहोमो वशीकरः ।

जयः पद्मैस्तु दुर्वाभिः शान्तिः कामः पलाशजैः ॥ २० ॥

पुष्टिः स्यात् काकपक्षेण मृतिहेषदिकं भवेत् ।

ग्रहसुद्रभयापत्तिं सर्वमेव मनुर्हरेत् ॥ २१ ॥

ओं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहा ।

रक्षाकरौयमुदिता जयदुर्गाङ्गसंयुता ।

श्यामां त्रिलोचनां देवीं ध्यात्वात्मानं चतुर्भुजम् ॥ २२ ॥

शङ्खचक्राक्षशूलादित्रिशूलां रौद्ररूपिणीं ।

युद्धादौ सञ्जयेदेतां यजेत् खड्गादिके जये ॥ २३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे त्रैलोक्यमोहनीलक्ष्म्यादिपूजा नाम

सप्ताधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

त्वरितापूजा ।

अग्निर्वाच । त्वरिताङ्गान्समाख्यास्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकान् ।

ओं आधारशक्त्यै नमः । ओं ह्रीं पुत्र २ महासिंहाय नमः ।
ओं पद्माय नमः । ओं ह्रीं ह्रूं खेचछेचः । स्त्रीं ओं ह्रूं चैं ह्रूं
फट् त्वरितायै नमः । खे च हृदयाय नमः । चछे शिरसे नमः ।
छेचः शिखायै नमः । च्छ्री कवचाय नमः । स्त्रीं ह्रूं नेत्राय
नमः । ह्रूं खे अस्त्राय फट् नमः । ओं त्वरिताविद्यां विद्महे
तूर्णविद्याञ्च धीमहि तन्नो देवो प्रचोदयात् । श्रीप्रणितायै
नमः । ह्रूं कारायै नमः । ओं खेच हृदयाय नमः । खेचय्यै
नमः । ओं चण्डायै नमः । छेदन्यै नमः । चेष्यै नमः । स्त्रियै
ह्रूं कार्यै नमः । चेमङ्ग्यै जयायै किङ्कराय रक्ष । ओं त्वरिता-
ञ्जया स्थिरो भव वषट् ।

तोतला त्वरिता तूर्णेत्येवं विद्येयमीरिता ॥ १ ॥

शिरोभ्रुमस्तके कण्ठे हृदि नाभौ च गुह्यके ।

उर्वीष जानुजङ्घोरुहये चरणयोः क्रमात् ॥ २ ॥

न्यस्ताङ्गो न्यस्तमन्त्रस्तु समस्तं व्यापकं च सेत् ।

पार्वती श्रवरी चेशा वरदाभयहस्तिका ॥ ३ ॥

मयूरबलया पिच्छमौलिः किसलयशुका ।

सिंहासनस्था मायूरवह्निच्छत्रसमन्विता ॥ ४ ॥

त्रिनेत्रा श्यामला देवी वनमालाविभूषणा ।

विप्राह्निकर्णाभरणा चक्रकेयूरभूषणा ॥ ५ ॥
 वैश्यानागकटीबन्धा वृषलाह्निकतनूपुरा ।
 एवं रूपालिका भूत्वा तन्मन्त्रं नियुतं जपेत् ॥ ६ ॥
 ईशः किरातरूपोऽभूत् पुरा गौरी च तादृशी ।
 जपेद्वायेत् पूजयेत्तां सर्वसिद्धौ विषादिहृत् ॥ ७ ॥
 अष्टसिंहासने पूज्या दले पूर्वादिके क्रमात् ।
 अङ्गगायत्री प्रणीता ऋङ्गाराद्या दक्षाद्यके । ८ ॥
 फट्कारी चाग्रतो देव्याः श्रीबीजेनार्चयेदिमाः ।
 लोकेशायुधवर्णास्ताः फट्कारी तु धनुर्धरा ॥ ९ ॥
 जया च विजया हास्ये पूज्ये सौवर्ण्यष्टिके ।
 किङ्करा वर्वरो मुण्डी लगुड़ी च तयोर्वह्निः ॥ १० ॥
 इष्टैवं सिद्धयेद्द्रव्यैः कुण्डे योन्याकृतौ हुनेत् ।
 हेमलाभोऽर्जुनैर्द्वान्यैर्गोधूमैः पुष्टिसम्पदः ॥ ११ ॥
 यवैर्दान्यैस्त्रिलैः सर्वसिद्धिरीतिविनाशनम् ।
 अक्षैरन्मत्तता शचीः शाल्मलीभिश्च मारणम् ॥ १२ ॥
 जम्बुभिर्धनधान्यामिस्तुष्टिर्नीलोत्पलैरपि ।
 रक्तोत्पलैर्भ्रमहापुष्टिः कुन्दपुष्पैर्भ्रमहोदयः ॥ १३ ॥
 मल्लिकाभिः पुरक्षोभः कुसुदैर्जनवर्त्मभिः ।
 अशोकैः पुत्रलाभः स्यात् पाटलाभिः शुभाङ्गना ॥ १४ ॥
 आम्नैरायुस्त्रिलैर्ज्ञानोर्विल्वैः श्रीशम्भुकैर्धनम् ।
 इष्टं मधुकपुष्पैश्च विल्वैः सर्वज्ञतां लभेत् ॥ १५ ॥
 त्रिलक्षजप्यात्सर्व्वामिर्हीमाङ्गानात्तथेज्यया ।
 मण्डलेऽभ्यर्च्य गायत्र्या आहुतोः पञ्चविंशतिम् ॥ १६ ॥

दद्यात्तत्रयं मूलात् पक्षवैदीक्षितो भवेत् ।

पञ्चगव्यं पुरा पीत्वा चरुकां प्राशयेत्सदा ॥ १७ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे त्वरितापूजा नामाष्टाधिक-
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ नवाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

त्वरितामन्त्रादिः ।

अग्निरुवाच । अपरां त्वरिताविद्यां वक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्तिदां ।

पुरे वज्राकुले(१) देवीं रजोभिर्लिखिते यजेत् ॥ १ ॥

पद्मगर्भं दिग्विदिक्षु चाष्टौ वज्राणि वीथिकां ।

हारशोभोपशोभाश्च लिखेच्छीघ्रं अरेवरः ॥ २ ॥

अष्टादशभुजां सिंहे वामजङ्घा प्रतिष्ठिता ।

दक्षिणा द्विगुणा तस्याः पादपीठे समर्पिता ॥ ३ ॥

नागभूषां वज्रकुण्डे खड्गं चक्रं गदां क्रमात् ।

शूलं शरं तथा शक्तिं वरदं दक्षिणैः करैः ॥ ४ ॥

धनुः पाशं शरं घण्टां तर्जनीं शङ्खमङ्कुशम् ।

अभयश्च तथा वज्रं वामपार्श्वे धृतायुधम् ॥ ५ ॥

पूजनाच्छत्रुनाशः स्याद्द्राष्ट्रं जयति लीलया ।

दीर्घायूराष्ट्रभूतिः स्याद्दिव्यादिव्यादिसिद्धिभाक् ॥ ६ ॥

१ वज्रागले इति अ० ।

तलेतिसप्तपातालाः कालाम्निभुवनान्तकाः ।
 श्रीं कारादिस्वरारभ्यं यावद्ब्रह्माण्डवाचकम् ॥ ७ ॥
 श्रीं काराङ्गामयेत्तीयन्तोतला त्वरिता ततः ।
 प्रस्तावं सम्प्रवक्ष्यामि स्वरवर्गं लिखेद्भुवि ॥ ८ ॥
 तालुवर्गः कवर्गः स्यात्तृतीयो जिह्वातालुकः ।
 चतुर्थस्तालुजिह्वाग्रे जिह्वादन्तस्तु पञ्चमः ॥ ९ ॥
 षष्ठोऽष्टपुटसम्पन्नो मिश्रवर्गस्तु सप्तमः ।
 जषाणः स्याच्छ्ववर्गस्तु उद्धरेच्च मनुं ततः ॥ १० ॥
 षष्ठस्वरसमारूढं जषणान्तं सविन्दुकम् ।
 तालुवर्गद्वितीयन्तु स्वरैकादशयोजितम् ॥ ११ ॥
 जिह्वातालुसमायोगः प्रथमं केवलं भवेत् ।
 तदेव च द्वितीयन्तु अधस्ताद्विनियोजयेत् ॥ १२ ॥
 एकादशस्वरैर्युक्तं प्रथमं तालुवर्गतः ।
 जषाणस्य(१) द्वितीयन्तु अधस्ताद् दृश्यं योजयेत् ॥ १३ ॥
 षोडशस्वरसंयुक्तमूषाणस्य द्वितीयकम् ।
 जिह्वादन्तसमायोगे प्रथमं योजयेद्धः ॥ १४ ॥
 मिश्रवर्गाद् द्वितीयन्तु अधस्तात् पुनरेव तु ।
 चतुर्थस्वरसम्भिन्नं तालुवर्गादिसंयुतम् ॥ १५ ॥
 जषणस्य द्वितीयन्तु अधस्ताद्विनियोजयेत् ।
 स्वरैकादशभिन्नन्तु जषणान्तं सविन्दुकम् ॥ १६ ॥
 पञ्चस्वरसमारूढं षोडशस्मृटयोगतः ।
 द्वितीयमक्षरान्यज्जिह्वाग्रे तालुयोगतः ॥ १७ ॥

१ जषाणस्येत्यर्थं पाठो न साधुः ।

प्रथमं पञ्चमे योज्यं स्वराङ्गेनोद्धृता इमे ।

ओंकाराद्या नमोन्ताद्य जपेत् स्वाहाग्निकार्यके ॥ १८ ॥

ओं ह्रीं क्लूं क्लः हृदयं हां हृषेति शिरः । ह्रीं ज्वल ज्वल-
शिखा स्यात् कवचं हनुद्वयम् । ह्रीं श्रीं चूनेत्रयाय विद्यानेत्रं
प्रकीर्तितम् ह्रीं हः खीं क्लूं फडस्त्राय गुह्याङ्गानि पुरा न्यसेत् ।

त्वरिताङ्गानि वक्ष्यामि विद्याङ्गानि शृणुष्व मे ।

आद्विहृदयं प्रोक्तं त्रिचतुःशिर इष्यते ॥ १९ ॥

पञ्चषष्ठः शिखा प्रोक्ता कवचं सप्तमाष्टमम् ।

तारकन्तु भवेत्त्रेत्रं नवार्धाक्षरलक्षणं ॥ २० ॥

तोतलेति समाख्याता वज्रतुण्डे ततो भवेत् ।

ख ख क्लं दशबीजा स्याद्वज्रतुण्डेन्द्रदूतिका ॥ २१ ॥

खेचरि ज्वालिनीज्वाले खखेति ज्वालिनीदश ।

वच्चं शरविभौषणि खखेति च शवर्यपि ॥ २२ ॥

क्ले क्लेदनि करालिनि खखेति च काराल्यपि ।

वच्चःश्रवद्रवप्रवनी ख ख(१) दूतीप्रवं ख्यपि ॥ २३ ॥

स्त्रीबालकारे धुननि शास्त्री वसनवेगिका ।

क्षे पक्षे कपिले हस हस कपिला नाम दूतिका ॥ २४ ॥

क्लूं तेजोवति रौद्री च मातङ्गरौद्रिदूतिका ।

पुटे पुटे ख ख खङ्गे फट् ब्रह्मकदूतिका ॥ २५ ॥

वैतालिनि दशार्णाः स्युस्त्यजान्यद्विपलालवत् ।

हृदादिकन्यासादौ स्यान् मध्ये नेत्रे न्यसेत्सुधीः ॥ २६ ॥

पादादारभ्य मूर्धान्तं शिर आरभ्य पादयोः ।

१ वच्चःश्रवद्रवप्रवनीष्येति ख०, इ० च ।

अङ्घ्रिजानूरुगुच्छे च नाभिहृत्कण्ठदेशतः ॥ २७ ॥
 वज्रमण्डलमूर्ध्वं च अधोर्ध्वं चादिवीजतः ।
 सोमरूपं ततो गात्रं धारामृतसुवर्षिणम् ॥ २८ ॥
 विशन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण साधकस्तु विचिन्तयेत् ।
 मूर्ध्वास्यकण्ठहृत्नाभौ गुच्छोरुजानुपादयोः ॥ २९ ॥
 आदिवीजं न्यसेन्नग्नौ तर्ज्ज्ज्यादि पुनः पुनः ।
 ऊर्ध्वं सोममधः पद्मं शरीरं बीजविग्रहं ॥ ३० ॥
 यो जानाति न मृत्युः स्यात्तस्य न व्याधयो ज्वरा ।
 यजेत्क्षपेत्तां विन्यस्य ध्यायेद्देवीं शताष्टकम् ॥ ३१ ॥
 मुद्रा वक्ष्ये प्रणीताद्याः प्रणीताः पञ्चधा स्मृताः ।
 यधितौ तु करौ कृत्वा मध्ये ङ्गुष्ठौ निपातयेत् ॥ ३२ ॥
 तर्ज्ज्जनीं मूर्ध्नि संलग्नां विन्यसेत्तां शिरोपरि ।
 प्रणीतेयं समाख्याता हृद्देशे तां समानयेत् ॥ ३३ ॥
 ऊर्ध्वन्तु कन्यसामध्ये सवीजान्तां विदुर्हिजाः ।
 नियोज्य तर्ज्ज्जनीमध्येऽनेकलग्नां परस्पराम् ॥ ३४ ॥
 ज्येष्ठाग्रं निक्षिपेत्मध्ये भेदनी सा प्रकीर्त्तिता ।
 नाभिदेशे तु तां बद्ध्वा अङ्गुष्ठावुत्क्षिपेत्ततः ॥ ३५ ॥
 करालौ तु महामुद्रा हृद्देशे योज्य मन्त्रिणः ।
 पुनस्तु पूर्ववद् बहलग्न्यां ज्येष्ठां समुत्क्षिपेत् ॥ ३६ ॥
 वज्रतुण्डा समाख्याता वज्रदेशे तु बन्धयेत् ।
 उभाभ्याश्चैव हस्ताभ्यां मणिवन्धन्तु बन्धयेत् ॥ ३७ ॥
 त्रीणि त्रीणि प्रसार्येति(१) वज्रमुद्रा प्रकीर्त्तिता ।

१ प्रसाख्यां चेति ८० ।

दण्डः खड्गञ्जकगदा मुद्रा चाकारतः स्मृता ॥ ३८ ॥

चक्रुष्टेनाक्रमेत् त्रीणि त्रिशूलञ्चीर्षती भवेत् ।

एका तु मध्यमोर्द्धा तु शक्तिरेव विधीयते ॥ ३९ ॥

शरञ्च वरदञ्चापं पाशं भारञ्च घण्टया ।

शङ्खमङ्कुशमभयं पद्ममष्ट च विंशतिः ॥ ४० ॥

मोहणी मोक्षणी चैव ज्वालिनी चाऽसृताभया ।

प्रणीताः पञ्चमुद्रास्तु पूजाहोमे च योजयेत् ॥ ४१ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे त्वरितामन्त्रादिर्नाम नवाधिक-
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ दशाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ०००@००० —

त्वरितामूलमन्त्रादिः ।

अग्निहोत्रे । दीक्षादि वक्ष्ये विन्यस्य सिंहवज्राकुलेऽजके ।

द्वे २ इति वक्ष्यदन्त पुरु २ लुलुर गज्ज २ इह सिंहासनाय नमः ।

तिर्य्यगूर्ध्वगता रेखाश्चत्वारश्चतुरो भवेत् ॥ १ ॥

नवभागविभागेन कोष्ठकान् कारयेद्बुधः ।

आद्या दिशागताः कोष्ठा विदिशासु विनाशयेत् ॥ २ ॥

वाद्ये वै कोष्ठकोणेषु वाद्यरेखाष्टकं स्मृतम् ।

वाद्यकोष्ठस्य वाद्ये तु मध्ये यावत् समानयेत् ॥ ३ ॥

वक्ष्यस्य मध्यमं शृङ्गं वाद्यरेखा त्रिधाहृतः ।

वाद्यरेखा भवेद्दत्ता द्विभङ्गा कारयेद्बुधः ॥ ४ ॥

मध्यकोष्ठं भवेत्पद्मं पीतकर्णिकमुज्ज्वलम् ।
 कृष्णेन रजसा लिख्य कुलिशासिगिरोर्धता ॥ ५ ॥
 वाद्यतश्चतुरस्रन्तु वज्रसम्पुटलाञ्छितम् ।
 द्वारे प्रदापयेन्मन्त्री चतुरो वज्रसम्पुटान् ॥ ६ ॥
 पद्मनाम भवेद्दामवीथी चैव समा भवेत् ।
 गर्भं रक्तं केशराणि मण्डले दीक्षिताः स्त्रियः ॥ ७ ॥
 जयेच्च परराष्ट्राणि क्षिप्रं राज्यमवाप्नुयात् ।
 मूर्त्तिं प्रणवसन्दीप्तं ह्रंकारेण नियोजयेत् ॥ ८ ॥
 मूलविद्यां समुच्चार्य मरुद्गोमगतां द्विज ।
 प्रथमेन पुनश्चैव कर्णिकायां प्रपूजयेत् ॥ ९ ॥
 एवं प्रदक्षिणं पूज्य एकैकं वीजमादितः ।
 दलमध्ये तु विद्याङ्गा आग्नेयां पञ्च नैर्ऋतम्(१) ॥ १० ॥
 मध्ये नेत्रं दिशास्त्रञ्च गुह्यकाङ्गे तु रक्षणम् ।
 इतयः केशरस्थास्तु वामदक्षिणपार्श्वतः ॥ ११ ॥
 पञ्च पञ्च प्रपूज्यास्तु स्त्रैः स्त्रैर्गन्तैः प्रपूजयेत् ।
 लोकपालान्प्रवेदष्टौ वाद्यतो गर्भमण्डले ॥ १२ ॥
 वर्णान्तमग्निमारुटं षष्ठस्वरविभेदितं(२) ।
 पञ्चदशेन चाक्रान्तं स्त्रैः स्त्रैर्नामभि योजयेत्(३) ॥ १३ ॥
 शीघ्रं(४) सिंहे कर्णिकायां यजेद् गन्धादिभिः त्रिवे(५) ।

१ आग्नेयावर्णान्तमिति अ० ।

२ षष्ठस्वरविभूषितमिति अ०, इ० च ।

३ नामभिर्वैजयेदित्यर्थं पाठः सनीचीनी भवितुमर्हति ।

४ नीलेति अ० । ५ त्रिविमिति अ० ।

अष्टाभिर्वेष्टयेत् कुम्भैश्चन्नाष्टशतमन्त्रितैः ॥ १४ ॥
 मन्त्रमष्टसहस्रन्तु जघ्नाङ्गानां दशांशकम् ।
 होमं कुर्यादग्निकुण्डे वक्रिमन्त्रेण चालयेत् ॥ १५ ॥
 निक्षिपेद् हृदयेनाग्निं शक्तिं मध्येऽग्निगां स्मरेत् ।
 गर्भाधानं पुंसवनं जातकर्म च होसयेत् ॥ १६ ॥
 हृदयेन शतं ह्येकं गुह्याङ्गे जनयेच्छिखिम् ।
 पूर्णाहुत्या तु विद्यायाः शिवाग्निर्व्वलितो भवेत् ॥ १७ ॥
 होमयेन्मूलमन्त्रेण शतञ्चाङ्गं दशांशतः ।
 निवेदयेत्ततो देव्यास्ततः शिष्यं प्रवेशयेत् ॥ १८ ॥
 अस्त्रेण ताडनं कृत्वा गुह्याङ्गानि ततो न्यसेत् ।
 विद्याङ्गैश्चैव सन्नद्धं विद्याङ्गेषु नियोजयेत् ॥ १९ ॥
 पुष्पं क्षिपाययेच्छिष्यमानयेदग्निकुण्डकम् ।
 यवैर्दान्यैस्त्रिलैराज्यैर्मूलविद्याशतं हुनेत् ॥ २० ॥
 स्थावरत्वं पुरा होमं सरीसृपमतः परं ।
 पक्षिमृगपशुत्वञ्च मानुषं ब्राह्ममेव च ॥ २१ ॥
 विष्णुत्वञ्चैव रुद्रत्वमन्ते पूर्णाहुतिर्भवेत् ।
 एकया चैव ह्याहुत्या शिष्यः स्याद्दीक्षितो भवेत् ॥ २२ ॥
 अधिकारो भवेदेवं शृणु मीक्षमतः परम् ।
 सुमेरुस्थो यदा मन्त्री सदाशिवपदे स्थितः ॥ २३ ॥
 परे च होमयेत् स्वस्थोऽकर्म्मकर्म्मशतान् दश ।
 पूर्णाहुत्या तु तद्योगी धर्माधर्मैर्न लिप्यते ॥ २४ ॥
 मीक्षं याति परंस्थानं यत्नत्वा न निवर्त्तते ।
 यथा जले जलं क्षिप्तं जलं देही शिरस्तथा ॥ २५ ॥

कुम्भैः कुर्याच्चभिषेकं जयराज्यादिसर्वभाक् ।
 कुमारी ब्राह्मणी पूज्या गुर्वादेर्दक्षिणां ददेत् ॥ २६ ॥
 यजेत् सहस्रमेकन्तु पूजां कृत्वा दिने दिने ।
 तिलाज्यपुरहोमेन(१) देवी श्रीः कामदा भवेत् ॥ २७ ॥
 ददाति विपुलान् भोगान् यदन्यच्च समीहते ।
 जम्बा अक्षरस्रक्षन्तु निधानाधिपतिर्भवेत् ॥ २८ ॥
 द्विगुणेन भवेद्राज्यं त्रिगुणेन च यक्षिणी ।
 चतुर्गुणेन ब्रह्मत्वं ततो विष्णुपदं भवेत् ॥ २९ ॥
 षड्गुणेन महासिद्धिर्लक्ष्मणैकेन पापहा ।
 दश जम्बा देहशुद्धौ तीर्थस्नानफलं शतात् ॥ ३० ॥
 पटे वा प्रतिमायां वा शीघ्रां वै स्थण्डिले यजेत् ।
 शतं सहस्रमयुतं जपे होमे प्रकीर्तितम् ॥ ३१ ॥
 एवं विधानतो जम्बा स्रक्षमेकन्तु होमयेत् ।
 महिषाजमेघमांसेन नरजेन पुरेण(२) वा ॥ ३२ ॥
 तिलैर्यवैस्तथा साजैर्त्रीर्हिगोधूमकाम्बुकैः ।
 श्रीफलैराज्यसंयुक्तैर्हीमयित्वा व्रतश्चरेत् ॥ ३३ ॥
 अर्चरात्रेषु सन्नद्धः खड्गचापशरादिमान् ।
 एकवासा विचित्रेण रक्तपीतासितेन वा ॥ ३४ ॥
 नीलेन वाथ वस्त्रेण देवीं तैरेव चार्चयेत् ।
 ब्रजेद्वक्षिणदिग्भागं हारे दद्याद्बलिं बुधः ॥ ३५ ॥

१ तिलाज्यपुरहोमेनेति ख०, ह० च ।

२ हवेनेति ख०, ह० च ।

दूतीमन्त्रेण हारादौ एकवृत्ते श्मशानके ।

एवञ्च सर्वकामाभिर्भुङ्क्ते सर्वा महीं नृपः ॥ ३६ ॥

इत्यान्वेये महापुराणे त्वरितामूलमन्त्रो नाम दशाधिक-
६३ त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथैकादशाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—०००@०००—

त्वरिताविद्या ।

अग्निर्वाच । विद्याप्रस्तावमाख्यास्ये धर्मकामादिसिद्धिदम् ।

नवकोष्ठविभागेन विद्याभेदश्च विन्दति ॥ १ ॥

अनुसोमविलोमेन समस्तव्यस्तयोगतः ।

कर्णाविकर्षयोगेन अत ऊर्ध्वं विभागशः ॥ २ ॥

त्रिभिक्शेषे च योगेन देव्या सन्नद्धविग्रहः ।

जानाति सिद्धिदान्मन्त्रान् प्रस्तावान्निर्गतान् बहून् ॥ ३ ॥

शास्त्रे शास्त्रे स्मृता मन्त्राः प्रयोगास्तत्र दुर्लभाः ।

गुरुः स्यात् प्रथमो वर्षः पूर्व्वेद्युर्न च वर्षंरते ॥ ४ ॥

प्रस्तावे तत्र चैकार्णा इर्णार्ण्यर्णादयो ऽभवन् ।

तिर्थगूर्ङगता रेखाश्चतुरशतुरो भजेत् ॥ ५ ॥

नव कोष्ठा भवन्त्येवं मध्यदेशे तथा इमान् ।

प्रदक्षिणेन संख्याप्य प्रस्तावं भेदयेत्ततः ॥ ६ ॥

प्रस्तावक्रमयोगेन प्रस्तावं यस्तु विन्दति ।

करमुष्टिस्थितास्तस्य साधकस्य हि सिद्धयः ॥ ७ ॥

त्रैलोक्यं पादमूले स्यान्नवखण्डां भुवं लभेत् ।
 कपाले तु समालिख्य शिवतत्त्वं समन्ततः ॥ ८ ॥
 श्मशानकर्पटे वाथ वाद्यं निष्कम्य मन्त्रवित् ।
 तस्य मध्ये लिखेन्नाम कर्णिकोपरि संस्थितम् ॥ ९ ॥
 तापयेत्खादिराङ्गारैर्भूर्जमाक्रम्य पादयोः ।
 सप्ताहादानयेत् सर्व्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १० ॥
 वज्रसम्पुटगर्भे तु हादगारे तु लेखयेत् ।
 मध्ये गर्भगतं नाम सदाशिवविदर्भितम् ॥ ११ ॥
 कुण्डे (१) फलकके वाथ शिलापट्टे हरिद्रया ।
 मुखस्तम्भं गतिस्तम्भं सैन्यस्तम्भन्तु जायते ॥ १२ ॥
 विषरक्तेन संलिख्य श्मशाने कर्परे बुधः ।
 षट्शोणं दण्डमाक्रान्तं समन्ताच्छक्तियोजितम् ॥ १३ ॥
 मारयेदचिरादेष श्मशाने निहृतं रिपुं ।
 छेदं करोति राष्ट्रस्य चक्रमध्ये न्यसेद्विपुं ॥ १४ ॥
 चक्रधाराङ्गतां शक्तिं रिपुनाम्ना रिपुं हरेत् ।
 तार्क्ष्यैव तु वीजेन खड्गमध्ये तु लेखयेत् ॥ १५ ॥
 विदर्भरिपुनामाथ श्मशानाङ्गारलेखितम् ।
 सप्ताहात्प्राधयेद्देशं ताडयेत् प्रेतभस्मना ॥ १६ ॥
 भेदने छेदने चैव मारणेषु शिवी भवेत् ।
 तारकं नेत्रमुद्दिष्टं शान्तिपुष्टौ नियोजयेत् ॥ १७ ॥
 दहनादिप्रयोगोयं शाकिनीञ्चैव कर्षयेत् ।
 मध्यादिवाक्यीं यावद्दक्षतुण्डसमन्वितः (२) ॥ १८ ॥

१ कुण्ड इति क० ।

२ वज्रतुण्डसमन्वित इति ड० ।

कुष्ठाद्या व्याधयो ये तु नाशयेत्तान् संशयः ।
 मध्यादिउत्तरान्तन्तु करालीबन्धनाज्जपेत् ॥ १९ ॥
 रक्षयेदात्मनो विद्यां प्रतिवादी यदा शिवः ।
 वारुण्यादि ततो न्यस्य ज्वरकाशविनाशनम् ॥ २० ॥
 सौम्यादि मध्यमान्तन्तु गुरुत्वं जायते षटे ।
 पूर्वादि मध्यमान्तन्तु लघुत्वं कुरुते क्षणात् ॥ २१ ॥
 भूर्जो रोचनया लिख्य एतद्वज्राकुलं पुरम् ।
 क्रमस्यैर्धन्ववीजैस्तु रक्षां देहेषु कारयेत् ॥ २२ ॥
 वेष्टिता भावहेन्ना च(१) रक्षेयं मृत्युनाशिनी ।
 विघ्नपापारिदमनौ सौभाग्यायुःप्रदा धृता ॥ २३ ॥
 द्यूते रेणे च जयदा शक्रसैन्ये न संशयः ।
 बन्धानां पुषदा ह्येषा चिन्तामणिरिवापरा ॥ २४ ॥
 साधयेत् परराष्ट्राणि राज्यञ्च पृथिवीं जयेत् ।
 फट् स्त्रीं च हँ लक्षजप्याद्यक्षादिर्वशगो भवेत् ॥ २५ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे त्वरिताविद्या नामैकादशाधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ द्वादशाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

नानामन्त्राः ।

अग्निहवाच । श्रीं विनायकार्चनं वक्ष्ये यजेदाधारशक्तिकम् ।

धर्माद्यष्टककन्दञ्च नालं पद्मञ्च कर्णिकाम् ॥ १ ॥

केसरं त्रिगुणं पद्मं तीव्रञ्च ज्वलिनीं यजेत् ।
 नन्दाश्च सुयशास्त्रीयां तेजोवतीं विन्ध्यवासिनीं(१) ॥ २ ॥
 गणमूर्त्तिं गणपतिं हृदयं स्याद्गणं जयः ।
 एकदन्तोत्कटशिरःशिखायाचलकर्षिणे ॥ ३ ॥
 गजवक्त्राय कवचं ह्रँ फडन्तं तथाष्टकं ।
 महोदरो दण्डहस्तः पूर्वाद्दी मध्यतो यजेत् ॥ ४ ॥
 जयो गणाधिपो गणनायकोऽथ गणेश्वरः ।
 वक्रतुण्ड एकदन्तोत्कटलम्बोदरो गज ॥ ५ ॥
 वक्रो विकटाननोऽथ ह्रँपूर्वीं विघ्ननाशनः ।
 धूम्रवर्णी महेंद्रायो वाञ्छे विघ्ने शपूजनम् ॥ ६ ॥
 त्रिपुरापूजनं(२) वञ्छे असिताङ्गो हरुस्तथा ।
 चण्डः क्रोधस्तथोन्मत्तः कपाली भीषणः क्रमात् ॥ ७ ॥
 संहारो भैरवो ब्राह्मीमुख्या ऋत्वास्तु भैरवाः ।
 ब्रह्माणीषणमुखा दीर्घा भ्रम्यादौ वटुकाः क्रमात् ॥ ८ ॥
 समयपुत्रो वटुको योगिनीपुत्रकस्तथा ।
 सिद्धपुत्रश्च वटुकः कुलपुत्रश्चतुर्थकः ॥ ९ ॥
 हेतुकः क्षेत्रपालश्च त्रिपुरान्तो द्वितीयकः ।
 अग्निवेतालोऽग्निजिह्वः कराली काललीचनः ॥ १० ॥
 एकपादश्च भीमाश्च ऐं चं प्रेतस्तथासनं ।
 ऐं ह्रीं ह्रीं त्रिपुरा पद्मासनसमास्थिता ॥ ११ ॥
 विभ्रत्यभयपुस्तश्च वामे वरदमालिकाम् ।

१ विवासिनीमिति च० ।

२ त्रिपुरायजनमिति च०, इ०, ज०, ज०, ट० च ।

मूलेन हृदयादि स्याज्जालपूर्णञ्च कामकम् ॥ १२ ॥

गोमध्मे नाम संलिख्य चाष्टपत्रे च मध्यतः ।

श्मशानादिपटे श्मशानाङ्गारेण विलिखयेत् ॥ १३ ॥

चिताङ्गारपिष्टकेन मूर्त्तिं ध्यात्वा तु तस्य च ।

क्षिप्तोदरे नीलसूत्रैर्वेष्ट्य चोच्चाठनं भवेत् ॥ १४ ॥

ओं नमो भगवति ज्वालामानिनि गृध्रगणपरिवृते स्वाहा ।

युद्धे गच्छन् जपन्मन्त्रं पुमान् साक्षाज्जयी भवेत् ।

ओं श्रीं क्लीं ह्रीं श्रीं त्रियै नमः ।

उत्तरादौ च वृष्णिनी सूर्या पूज्या चतुर्दले ॥ १५ ॥

आदित्या प्रभावती च हेमाद्रिमधुराश्रियः ।

ओं क्लीं गौर्यै नमः ।

गौरीमन्त्रः सर्व्वकरः होमाद्ग्रानाज्जपार्चनात् ॥ १६ ॥

रक्ता चतुर्भुजा पाशवरदा दक्षिणे करे ।

अङ्कुशाभययुक्तान्तां प्रार्थ्य सिद्धात्मना पुमान् ॥ १७ ॥

जीवेद्वर्षशतं धीमान्न चौरारिभयं भवेत् ।

क्रुद्धः प्रसादी भवति युधि मन्त्राम्बुपानतः ॥ १८ ॥

अञ्जनं तिलकं वश्ये जिह्वाये कविता भवेत् ।

तज्जपान्मथुनं वश्ये तज्जपाद्योनिवीक्षणम् ॥ १९ ॥

स्पर्शादशौ तिलहोमात्सर्व्वेष्वैव तु सिध्यति ।

सप्तागिमन्त्रितञ्चान्नं भुञ्जंस्तस्य श्रियः सदा ॥ २० ॥

अर्द्धनारीशरूपोऽयं लक्ष्म्यादिवैष्णवादिक् ।

अनङ्गरूपा शक्तिश्च द्वितीया मदनातुरा ॥ २१ ॥

पवनवेगा भुवनपाला वै सर्व्वसिद्धिदा ।

अनङ्गमदनानङ्गमेखलान्ताञ्जपेच्छिवे ॥ २२ ॥

पद्ममध्यदलेषु क्लीं स्वरान् कार्दींस्ततः स्त्रियाः ।

षट्कोणे वा घटे वाऽथ लिखित्वा स्यादशौकरं ॥ २३ ॥

ओं क्लीं ह्रं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं श्रीं ।

मूलमन्त्रः षडङ्गोयं रक्तवर्णे त्रिकोणके ।

द्रावणी ह्लादकारिणी क्षीभिणी गुरुशक्तिका ॥ २४ ॥

ईशानादौ च मध्ये तां नित्यां पाशाङ्गुशौ तथा ।

कपालकल्पकतर्हं वीणा रक्ता च तद्वती ॥ २५ ॥

नित्याभया मङ्गला च नववीरा च मङ्गला ।

दुर्भगा मनोन्मनी पूज्या द्रावा पूर्व्वदितः स्थिता ॥ २६ ॥

ओं क्लीं अनङ्गाय नमः ओं क्लीं क्लीं स्मराय नमः ।

मन्मथाय च माराय कामायैवञ्च पञ्चधा ।

कामाः पाशाङ्गुशौ चापवाणाः ध्येयाश्च विभ्रतः ॥ २७ ॥

रतिश्च विरतिः प्रीतिर्विप्रीतिश्च मतिर्धृतिः ।

विधृतिः पुष्टिरेभिश्च क्रमात् कामादिकैर्युताः ।

ओं ह्रं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ओं श्रीं । अ आ इ ई उ ऊ ऋ

ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः । क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट

ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह ळ ।

ओं ह्रं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा ।

आधारशक्तिं पद्मञ्च सिंहे देवीं हृदादिषु ॥ २८ ॥

ओं क्लीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि ह्रं फट् स्वाहा ।

इत्याग्नेये महापुराणे नानामन्त्रा नाम द्वादशाधिक-

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ त्रयोदशाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

त्वरितान्नानम् ।

अग्नित्वाच । श्रीं ह्रीं हं खे छे चः स्त्रीं कूं चे ह्रीं फट्
त्वरितायै नमः ।

त्वरितां पूजयेन्नस्य द्विभुजाश्चाष्टबाहुका ।
आधारशक्तिं पद्मञ्च सिंहे देवीं हृदादिकम् ॥ १ ॥
पूर्वादौ गायत्रीं यजेन्मण्डले वै प्रणीतया ।
हुंकारां खेचरीं चण्डां छेदनीं क्षेपणीं स्त्रियाः ॥ २ ॥
हुंकारां क्षेमकारीञ्च फट्कारीं मध्यतो यजेत् ।
जयाञ्च विजयां हारि किङ्करञ्च तदग्रतः ॥ ३ ॥
लिलैहोमैश्च सर्वास्त्रै नामव्याहृतिभिस्तथा ।

अनन्ताय नमः स्वाहा कुलिकाय नमः स्वधा ॥ ४ ॥

स्वाहा वासुकिराजाय शङ्खपात्राय वीषट् ।

तक्षकाय वषन्नित्यं महापद्माय वै नमः ॥ ५ ॥

स्वाहा कर्कोटनागाय फट् पद्माय च वै नमः ।

लिखेन्निग्रहचक्रन्तु एकाशीतिपदैर्नरः ॥ ६ ॥

वस्त्रे पटे तरो भूर्ज्जे शिलायां यष्टिकासु च ।

मध्येकोष्ठे साध्यनाम पूर्वादौ पट्टिकासु च ॥ ७ ॥

श्रीं ह्रीं कूं छन्द छन्द चतुरः कण्ठकान् कालरात्रिकां ।

ऐशादावम्बुपादौ च यमराज्यञ्च वाह्यतः ।

कालीनारवमाली कालीनामाक्षमालिनी ॥ ८ ॥

मामोदेतत्तदीमीमा रक्षत स्वस्व भक्षवा ।
 यमपाटटयामय मटमो टट मोटमा ॥ ९ ॥
 वामो भूरिविभूमेया टट रीश्व खरी टट ।
 यमराजाहाह्यतो वं तं तीयं मारणात्मकम् ॥ १० ॥
 कज्जलं निम्बनिर्थासमज्जासृग्विषसंयुतम् ।
 काकपक्षस्य लेखन्या श्मशाने वा चतुष्यथे ॥ ११ ॥
 निधापयेत् कुम्भाधस्ताद्वस्त्रौके वाथ निक्षिपेत् ।
 विभीतद्रुमशास्त्राधो यन्त्रं सर्वारिमर्दनम् ॥ १२ ॥
 लिखेच्चानुग्रहचक्रं शुक्लपत्रे ऽथ भूर्जके ।
 लाक्ष्या कुङ्कुमेनाथ स्फटिकाचन्दनेन वा ॥ १३ ॥
 भुवि भित्तौ पूर्वदले(१) नाम मध्यमकोष्ठके ।
 खण्डे तु वारिमध्यस्थं श्रीं हंसो वापि पट्टिशम् ॥ १४ ॥
 लक्ष्मीश्लोकं शिवादी च राक्षसादिक्रमास्त्रिखेत् ।
 श्रीःसाममोमा सा श्रीः सानो याज्ञे ज्ञेया नौसा ॥ १५ ॥
 माया लीला लाली यामा याज्ञे ज्ञेया नौसा माया ।
 यत्र ज्ञेया वह्निः श्रीघ्ना दिक्षुरं कलसं वह्निः ॥ १६ ॥
 पद्मस्थं पद्मचक्रञ्च भृत्यजित् स्वर्गगन्धृतिं ।
 शान्तीनां परमा शान्तिः सौभाग्यादिप्रदायकम् ॥ १७ ॥
 रुद्रे रुद्रसमाः कार्य्याः कोष्ठकास्तत्र ता लिखेत् ।
 श्रीमाद्याङ्गफडन्ता च आदिवर्णमथानुतः ॥ १८ ॥
 विद्यावर्णक्रमेनैव संज्ञाञ्च वषडन्तिकां ।

अधस्थात् प्रत्यङ्गिरैषा सर्व्वकामार्थसाधिका ॥ १९ ॥
 एकाशीतिपदे सर्व्वामादिवर्णक्रमेण तु ।
 आदिमं यावदन्तं स्याद्वषडन्तश्च नाम वै ॥ २० ॥
 एषा प्रत्यङ्गिरा चान्या सर्व्वकार्यादिसाधनी ।
 निग्रहानुग्रहश्चक्रश्चतुःषष्टिपदैर्लिखेत् ॥ २१ ॥
 अमृती सा च विद्या च क्रीं सः ह्रं नामाथ मध्यतः ।
 फट्काराद्यां पत्रगतां त्रिङ्गीकारेण वेष्टयेत् ॥ २२ ॥
 कुम्भवद्धारिता सर्व्वशत्रुहृत् सर्व्वदायिका ।
 विषमश्चेत् कर्णजपादक्षराद्यैश्च दण्डकैः ॥ २३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे त्वरिताज्ञानं नाम त्रयोदशाधिक-

त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ चतुर्दशाधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—:ॐ:—

स्तम्भनादिमन्त्राः ।

अग्निरुवाच । स्तम्भनं मोहनं वश्यं विद्वेषोच्चाटनं वदे ।
 विषव्याधिमरोगश्च मारणं शमनं पुनः ॥ १ ॥
 भूर्जं कूर्मं समालिख्य ताडनेन षडङ्गुलम् ।
 मुखपादचतुष्केषु ततो मन्त्रं न्यसेद्द्विजः ॥ २ ॥
 चतुष्पादेषु क्रींकारं क्लींकारं मुखमध्यतः ।
 गर्भे विद्यां ततो लिख्य साधकं पृष्ठतो लिखेत् ॥ ३ ॥

मालामन्त्रैस्तु संवेष्ट्य दृष्टकोपरि सञ्चसेत् ।

पिधाय कूर्मपृष्ठेन करालेनाभिसम्पठेत् ॥ ४ ॥

महाकूर्मं पूजयित्वा पादप्रोक्षन्तु निक्षिपेत् ।

ताडयेद्दामपादेन स्मृत्वा शत्रुञ्च सप्तधा ॥ ५ ॥

ततः सञ्जायते शत्रोस्तम्भनं मुखरागतः ।

कृत्वा तु भैरवं रूपं मालामन्त्रं समालिखेत् ॥ ६ ॥

ओं शत्रुमुखस्तम्भनी कामरूपा आलीढकरी

ह्रीं फे फेत्कारिणी मम शत्रूणां देवदत्तानां मुखं स्तम्भय

मम सर्वविद्वेषिणां मुखस्तम्भनं कुरु ॥ ओं ह्रं फे फेत्कारिणि

स्वाहा ।

फट् हेतुञ्च समालिख्य तज्जपान्तं महाबलं ।

वामेनैव नगं शूलं संलिखेद्दक्षिणे करे ॥ ७ ॥

लिखेत्तन्मघोरस्य संग्रामे स्तम्भयेदरीन् ।

ओं नमो भगवत्यै भगमालिनि विस्फुरर स्यन्दर नित्यक्लिन्ने

द्रवर ह्रं सः क्रीं काराचरे स्वाहा ॥

एतेन रोचनाद्यैस्तु तिलकान्मोहयेज्जगत् ॥ ८ ॥

ओं फे ह्रं फट् फेत्कारिणि ह्रीं ज्वलर

त्रै लीक्यं मोहयर गुह्यकालिके स्वाहा ।

अनेन तिलकं कृत्वा राजादीनां वशीकरं ।

गर्भस्य रजो गृह्य क्लृप्तं सुतकस्य च ॥ ९ ॥

नारीरजः क्षिपेद्रात्रौ शय्यादौ द्वेषकृद्भवेत् ।

गोखुरञ्च तथा शृङ्गमश्वस्य च खुरं तथा ॥ १० ॥

गिरः सर्पस्य संक्षिप्तं गृहेषूच्चाटनं भवेत् ।

(२०)

करवीरशिफा पीता ससिद्धार्था च मारणे ॥ ११ ॥

ब्यालक्षुच्छुन्दरीरक्तं करवीरं तदर्थकृतम् ।

सरटं षट्पदञ्चापि तथा कर्कटवृषिकम् ॥ १२ ॥

धूर्णीकृत्य क्षिपेत्तैले तदभ्यङ्गश्च कुष्ठकृतम् ।

ओं नवग्रहाय सर्वशत्रून् मम साधयन् मारयन्

आं सों मं वुं चूं ओं शं वां कें श्रीं स्वाहा ।

अनेनार्कशतैरर्च्यं श्मशाने तु निधापयेत् ॥ १३ ॥

भूर्जो वा प्रतिमायां वा मारणाय रिपोर्यहाः ।

ओं कुञ्जरी ब्रह्माणी । श्रीं मञ्जरी माहेश्वरी ।

ओं वेताली कौमारी श्रीं काली वैष्णवी ।

ओं अघोरा वाराही । श्रीं वेताली इन्द्राणी उर्वशी । श्रीं
जयानी यक्षिणी । नवमातरो हे मम शत्रुं गृह्णतम् ।

भूर्जो नाम रिपोर्लिख्यं श्मशाने पूजिते स्त्रियेत् ॥ १४ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे स्तम्भनादिमन्त्रा नाम चतुर्दशधिक-

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चदशधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

नानामन्त्राः ।

अग्निरुवाच । आदौ ह्रंकारसंयुक्ता खेचछे पदभूषिता ।

वर्गातीतविसर्गेण स्त्रीं ह्रंक्षेपफडन्तिका ॥ १ ॥

सर्वकर्म्मकरी विद्या विषसम्भ्रदिमर्द्दनी ।

श्रीं चेच्छेतिप्रयोगश्च कालदृष्टस्य जीवने ॥ २ ॥

श्रीं ह्रं केचः प्रयोगीयं विषयत्रु प्रमहं नः ।

स्त्रीं ह्रं फडितियोगीयं पापरीगादिकं जयेत् ॥ ३ ॥

खेच्छेति च प्रयोगोऽयं विघ्नदुष्टादि वारयेत्(१) ।

ह्रं स्त्रीं श्रीमितियोगोऽयं योषिदादिवशीकरः ॥ ४ ॥

खे स्त्रीं खे च प्रयोगोऽयं वशाय विजयाय च ।

एँ ह्रीं श्रीं स्फँ कैँ ह्रीं भगवति अम्बिके कुम्भिके स्फँ श्रीं
भं तं वशनमो अघोराय मुखे त्रां त्रीं किलि किलि विद्या स्फ्रीं
हे स्फ्रँ श्रीं ह्रीं एँ श्रीमिति कुम्भिकाविद्या सर्व्वकरा स्मृता ॥

भूयः स्कन्दाय यानाह मन्त्रानौशश्च तान् वदे ॥ ५ ॥

इत्याम्बेये महापुराणे नानामन्त्रा नाम पञ्चदशाधिक-
त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ षोडशाधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

सकलादिमन्त्रोद्धारः ।

ईश्वर उवाच । सकलं निष्कलं शून्यं कलाढ्यं स्वमलङ्कृतम् ।

क्षपणं क्षयमन्तस्थं कण्ठीष्ठं चाष्टमं शिवम् ॥ १ ॥

प्रासादस्य(२) पराख्यस्य स्मृतं रूपं(३) गुहाष्टधा ।

१ रिपुदुष्टादि वारयेदिति क०, उ० च ।

२ प्रसादस्येति क० ।

३ स्मृतिरूपमिति क० ।

सदाशिवस्य शब्दस्य रूपस्याखिलसिद्धये ॥ २ ॥
 अमृतसांशुभांशेन्दुशेखरशोभ जहकः ।
 एकपादेन श्रीजास्य श्रीषधसांशुमान् वशी ॥ ३ ॥
 अकारादेः क्षकारस्य ककारादेः क्रमादिमे ।
 कामदेवः शिखण्डी च मणेशः कालशङ्करो ॥ ४ ॥
 एकनेत्रो ह्रिनेत्रश्च त्रिशिखो दीर्घबाहुकः(१) ।
 एकपादूर्ध्वचन्द्रश्च बलपो योगिनीप्रियः ॥ ५ ॥
 शक्तीश्वरो महाअन्यस्पर्षकः स्थाणुदन्तुरौ ।
 निधीशो नन्दो पद्मश्च तथान्यः गाकिनीप्रियः ॥ ६ ॥
 मुखविम्बो भीषणश्च कृतान्तः प्राणसंज्ञकः ।
 तेजस्वी शक्र उदधिः श्रीकण्ठः सिंह एव च ॥ ७ ॥
 शशाङ्को विश्वरूपश्च चश्च स्यान्नरसिंहकः ।
 सूर्यमात्रासमाक्रान्तं विश्वरूपन्तु कारयेत् ॥ ८ ॥
 अंशुमत्संयुतं कृत्वा शशिवीजं विनायुतम् ।
 ईशानमोजसाक्रान्तं प्रथमन्तु समुदरेत् ॥ ९ ॥
 तृतीयं पुरुषं विद्धि दक्षिणं पञ्चमं तथा ।
 सप्तमं वामदेवन्तु सद्योजातन्ततःपरं ॥ १० ॥
 रसपुक्तन्तु नवमं ब्रह्मपञ्चकमीरितम् ।
 ओकाराद्याश्चतुर्थ्यन्ता नमोन्ताः सर्व्वमन्त्रकाः ॥ ११ ॥
 सद्योदेवा द्वितीयन्तु हृदयञ्चाङ्गसंयुतम् ।
 चतुर्थन्तु शिरो विद्धि ईश्वरन्नामनामतः ॥ १२ ॥
 जहकन्तु शिखा ज्ञेया विश्वरूपसमन्विता ।

१ त्रिशिखो दीर्घबाहुक इति ख०, इ० च ।

तन्मन्त्रमष्टमं ख्यातं नेत्रन्तु दशमं मतम् ॥ १३ ॥
 अस्त्रं शशी समाख्यातं शिवसंज्ञं शिखिध्वजः ।
 नमः स्याद्वा तथा वीषट् ह्रं च फट्कक्रमेण तु ॥ १४ ॥
 जातिफट्कं हृदादीनां प्रासादं मन्त्रमावटे(ः) ।
 ईशानाद्द्रुद्रसंख्यातं प्रोदरेष्वांशुरञ्जितम् ॥ १५ ॥
 औषधाक्रान्तशिरममूहकस्योपरिस्थितं ।
 अर्धचन्द्रोर्ध्वनादथ विन्दुद्वितयमध्यगं ॥ १६ ॥
 तदन्ते विश्वरूपन्तु कुटिलन्तु त्रिधा ततः ।
 एवं प्रासादमन्त्रश्च सर्वकर्माकरो मनुः ॥ १७ ॥
 शिखावीजं समुच्चृत्य फट्कारान्तन्तु चैव फट् ।
 अर्धचन्द्रासनं ज्ञेयं कामदेवं ससर्पकम् ॥ १८ ॥
 महापाशुपतास्त्रन्तु सर्वदुष्टप्रमर्दनम् ।
 प्रासादः सकलः प्रोक्तो निष्कलः प्रोच्यते ऽधुना ॥ १९ ॥
 औषधं विश्वरूपन्तु रुद्राख्यं सूर्यमण्डलम् ।
 चन्द्रार्धं नादसंयोगं(२) विसंज्ञं कुटिलन्ततः ॥ २० ॥
 निष्कलो भुक्तिमुक्तौ स्यात्पञ्चाङ्गीऽयं सदाशिवः ।
 अंशुमान् विश्वरूपश्च आहतं शून्यरञ्जितम् ॥ २१ ॥
 ब्रह्माङ्गरहितः शून्यस्तस्य मूर्तिरसस्तरुः ।
 विघ्ननाशाय भवति पूजितो बालबालिशैः ॥ २२ ॥
 अंशुमान् विश्वरूपस्यमूहकस्योपरि स्थितम् ।
 कलाख्यं सकलस्यैव पूजाङ्गादि च सर्व्वतः ॥ २३ ॥
 नरसिंहं कृतान्तस्थं तेजस्विप्राणमूर्ध्वगम् ।

१ मन्त्रमादरेदिति अ० ।

२ चन्द्रार्धनामं युक्तमिति अ० ।

अंशुमानूहकाक्रान्तमधोर्द्धं स्वसलङ्घृतम् ॥ २४ ॥
 चन्द्रार्धनादनादान्तं ब्रह्मविष्णुविभूषितम् ।
 उदधिं नरसिंहञ्च सूर्य्यमात्राविभेदितम् ॥ २५ ॥
 यदा कृतं तदा तस्य ब्रह्माख्यङ्गानि पूर्व्ववत् ।
 श्रीजाख्यमंशुमद्युक्तं प्रथमं वर्णमुद्धरेत् ॥ २६ ॥
 अंशुमञ्चांशुनाक्रान्तं द्वितीयं वर्णनायकम् ।
 अंशुमानीश्वरन्तद्वत् तृतीयं मुक्तिदायकम् ॥ २७ ॥
 ऊहकञ्चांशुनाक्रान्तं वरुणप्राणतैजसम् ।
 पञ्चमन्तु समाख्यातं कृतान्तन्तु ततः परम् ॥ २८ ॥
 अंशुमानुदकप्राणः सप्तमं वर्णमुद्धृतम् ।
 पद्ममिन्दुसमाक्रान्तं नन्दीशमेकपादष्टक् ॥ २९ ॥
 प्रथमञ्चान्ततो योज्यं क्षपणं दशवीजकम् ।
 अस्यार्धं तृतीयञ्चैव पञ्चमं सप्तमं तथा ॥ ३० ॥
 सद्योजातन्तु नवमं द्वितीयाद्दृदयादिकम् ।
 दशार्णप्रणवं यत्तु फडन्तञ्चास्त्रमुद्धरेत् ॥ ३१ ॥
 नमस्कारयुतान्यत्र ब्रह्माङ्गानि तु नान्यथा ।
 द्वितीयादष्टमं यावदष्टौ विद्येश्वरा मताः ॥ ३२ ॥
 अनन्तेशश्च सूक्ष्मश्च तृतीयश्च शिवोत्तमः ।
 एकमूर्त्यैकरूपस्तू त्रिमूर्तिरपरस्तथा ॥ ३३ ॥
 श्रीकण्ठश्च शिखण्डौ च अष्टौ विद्येश्वराः स्मृताः ।
 शिखण्डिनोऽप्यनन्तान्तं मन्वान्तं मूर्तिरौरिता ॥ ३४ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे सकलादिमन्त्रोच्चारो नाम षोडशधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्तदशाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— 000 —

गणपूजा ।

ईश्वर उवाच । विश्वरूपं समुद्धृत्य तेजस्युपरि संस्थितम् ।
नरसिंहं ततोऽधस्तात् कृतान्तं तदधो न्यसेत् ॥ १ ॥
प्रणवं तदधः कृत्वा ऊर्ध्वकं तदधः पुनः ।
अंशुमान् विश्वमूर्त्तिस्थं कण्ठोष्ठप्रणवादिकम् ॥ २ ॥
नमोऽन्तः स्याच्चतुर्वर्णो विश्वरूपश्च कारणम् ।
सूर्यमात्राहतं ब्रह्मण्यङ्गानीह तु पूर्ववत्(१) ॥ ३ ॥
उदरेत् प्रणवं पूर्वं प्रस्फुरद्द्वयमुच्चरेत् ।
घोरघोरतरं पश्चात् तत्र रूपमतः स्मरेत् ॥ ४ ॥
चटशब्दं द्विधा कृत्वा ततः प्रवरमुच्चरेत् ।
दहेति च द्विधा कार्यं वमेति च द्विधा मतम्(२) ॥ ५ ॥
घातयेति द्विधा कृत्य ह्रस्वफण्त्वं समुच्चरेत् ।
अघोरास्तन्तु नेत्रं स्याद् गायत्री चोच्यतेऽधुना ॥ ६ ॥
तन्महेशाय विद्महे महादेवाय धीमहि
तन्नः शिवः प्रचोदयात् गायत्री सर्वसाधनी ॥
यात्रायां विजयादौ च यजेत् पूर्वङ्गणं श्रिये ।
तुर्थ्यांश्चि तु पुरा क्षेत्रे समन्तादर्कभाजिते ॥ ७ ॥
चतुष्पदं त्रिकोणे तु त्रिदलं कमलं लिखेत् ।

१ सञ्जन इति ख० ।

२ द्विधा कृतमिति ख० ।

तत्पृष्ठे पदिकाविधौभागि त्रिदलमश्वयुक् ॥ ८ ॥
 वसुदेवसुतेः साञ्जैस्त्रिदलैः पादपट्टिका ।
 तद्ूर्ध्वं वेदिका देया भागमात्रप्रमाणतः ॥ ९ ॥
 द्वारं पद्ममितं कोष्ठःदुपद्वारं विवर्णितम् ।
 द्वारोपद्वाररचितं मण्डलं विघ्नसूदनम् ॥ १० ॥
 आरक्तं कमलं मध्ये वाह्यपद्मानि तद्वहिः ।
 सिता तु धीधिका कार्या द्वाराणि तु यथेच्छया ॥ ११ ॥
 कर्णिका पीतवर्णा स्यात् केशराणि तथा पुनः ।
 मण्डलं विघ्नमर्दाख्यं मध्ये गणपतिं यजेत् ॥ १२ ॥
 नामाद्यं सवराकं स्यादेवाच्छक्रसमन्वितम् ।
 शिरो हृतं तत्पुरुषेण ओमाद्यञ्च नमोऽन्तकम् ॥ १३ ॥
 गजाख्यं गजशीर्षञ्च गाङ्गेयं गणनायकम् ।
 त्रिरावर्त्तङ्गनगङ्गीपतिं पूर्वपङ्क्तिगम् ॥ १४ ॥
 त्रिचित्रांशं महाकायं लम्बोष्ठं लम्बकर्णकम् ।
 लम्बोदरं महाभागं विष्णुतं पार्वतीप्रियम् ॥ १५ ॥
 भयावहञ्च भद्रञ्च भगणं भयसूदनम् ।
 द्वादशैते दशपङ्क्तौ देवत्रासञ्च पश्चिमे ॥ १६ ॥
 महानादम्भास्त्ररञ्च विघ्नराजं गणाधिपम् ।
 लङ्घटस्नानभयण्डो महाशुण्डञ्च भीमकम् ॥ १७ ॥
 मन्मथं मधुसूदञ्च सुन्दरं भावपुष्टकम् ।
 सौम्ये ब्रह्मेश्वरं ब्राह्मं मनोवृत्तिञ्च संलक्षम् ॥ १८ ॥
 लयं दूत्यप्रियं लौख्यं विकर्णं वत्सलं तथा ।
 छानान्तं कालदण्डञ्च यजेत् कुम्भञ्च पूर्व्ववत् ॥ १९ ॥

अयुतञ्च जपेन्नम्रं ह्रीमयेत्तु दशांशतः ।
 शेषाणाम्नु दशाङ्गुत्या जपाह्रीमन्तु कारयेत् ॥ २० ॥
 पूर्णां दत्त्वाऽभिषेकन्तु कुर्यात्कर्षन्तु सिध्यति ।
 भ्रूगोऽश्वगजवस्त्राद्यैर्गुणपूजाश्चरेन्नरः ॥ २१ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे गणपूजा नाम सप्तदशाधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टादशाधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।



वागीश्वरीपूजा ।

ईश्वर उवाच । वागीश्वरीपूजनञ्च प्रवदामि समण्डलम् ।
 जहकं कालसंयुक्तं मनुं वर्णममायुतम् (१) ॥ १ ॥
 निषाद ईश्वरं कार्य्यं मनुना चन्द्रसूर्यवत् ।
 अक्षरन्न हि देयं स्यात् ध्यायेत् कुन्देन्दुसन्निभां ॥ २ ॥
 पञ्चाशद्वर्णमालान्तु मुक्तास्रग्दामभूषिताम् ।
 वरदाभयाद्यसूत्रपुस्तकाढ्यां त्रिलोचनां ॥ ३ ॥
 लक्षं जपेन्नस्तकान्तं स्कन्धान्तं वर्णमालिकां ।
 अकारादिक्षकारान्तां विशन्तीं मानवत् स्मरेत् ॥ ४ ॥
 कुर्याद् गुरुस दीक्षार्थं मन्त्रयाहे तु मण्डलम् ।
 सूर्याग्निन्दुभक्तान्तु भागाभ्यां कमलं हितं (२) ॥ ५ ॥

१ चन्द्रमसायुतमिति अ० ।

२ क्षतमिति अ० ।

वीथिका पदिका कार्या पद्मान्यष्टौ चतुष्यदे ।
 वीथिका पदिका वाह्ये द्वाराणि द्विपदानि तु ॥ ६ ॥
 उपद्वाराणि तद्वच्च कोणबान्धं द्विपट्टिकम् (१) ।
 सितानि नव पद्मानि कर्णिका कनकप्रभा ॥ ७ ॥
 केशराणि विचित्राणि कोणान्रुक्तेन पूरयेत् ।
 व्योमरेखान्तरं कृष्णं द्वाराणीन्द्रेभमानतः ॥ ८ ॥
 मध्ये सरस्वतीं पद्मे वागीशी पूर्वपद्मके ।
 हृत्लेखा चित्रवागीशी गायत्री विश्वरूपया ॥ ९ ॥
 शाङ्करी मतिर्धृतिश्च पूर्वाद्या क्लीं स्ववीजकाः ।
 ध्येया सरस्वतीवच्च कपिलाज्येन होमकः ।
 संस्तुतप्राक्तकविः काव्यशास्त्रादिविद्भवेत् ॥ १० ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे वागीश्वरीपूजा नामाष्टादशाधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथोनिविंशत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

मण्डलानि ।

ईश्वरउवाच । सर्व्वतो भद्रकान्यष्टमण्डलानि वदे गुह्य ।
 शक्तिमासाधयेत् प्राचीमिष्टायां विषुवे सुधीः ॥ १ ॥
 चिन्नास्त्रान्तरेणाय दृष्टसूत्रेण वा पुनः ।
 पूर्वापरायतं सूत्रमास्त्राख्य मध्यतोऽङ्कयेत् ॥ २ ॥

१ द्विपर्षकमिति च० ।

कोटिद्वयन्तु तन्मध्यादङ्गयेद्विचिणीत्तरम् ।
 मध्ये द्वयं प्रकर्त्तव्यं स्फालयेद्विचिणीत्तरम् ॥ ३ ॥
 शतक्षेत्रार्द्धमानेन कीणसम्पातमादिशेत् ।
 एवं सूत्रचतुष्कस्य स्फालनाच्चतुरस्रकम् ॥ ४ ॥
 जायते तत्र कर्त्तव्यं भद्रस्वेदकरं शुभम् ।
 वसुभक्तेन्दु द्विपदे क्षेत्रे वीथी च भागिका ॥ ५ ॥
 द्वारं द्विपदिकं पद्ममानाद्द्वै सकपोलकम् ।
 कीणबन्धविचित्रन्तु द्विपदं तत्र वर्त्तयेत् ॥ ६ ॥
 शुक्लं पद्मं कर्णिका तु पीता चित्रन्तु केशरम् ।
 रक्ता वीथी तत्र कल्पया द्वारं लोकेशरूपकं ॥ ७ ॥
 रक्तकीणं विधौ नित्ये नैमित्तिकेऽञ्जकं शृणु ।
 असंसक्तन्तु संसक्तं द्विधाञ्जं भुक्तिमुक्तिकृत् ॥ ८ ॥
 असंसक्तं मुमुक्षूणां संसक्तं तद्विधा पृथक् ।
 बालो युवा च वृद्धश्च नामतः फलसिद्धिदाः ॥ ९ ॥
 पद्मक्षेत्रे तु सूत्राणि द्विग्विद्विस्तु विनिश्चिपेत् ।
 वृत्तानि पञ्चकल्पानि पद्मक्षेत्रसमानि तु ॥ १० ॥
 प्रथमे कर्णिका तत्र पुष्करैर्नवभिर्युता ।
 केशराणि चतुर्विंशद्वितीयेऽथ तृतीयके ॥ ११ ॥
 दलसन्धिर्गजकुम्भनिभान्तर्यद्दलाग्रकम् ।
 पञ्चमे व्योमरूपन्तु संसक्तं कमलं स्मृतं ॥ १२ ॥
 असंसक्ते दलाग्रे तु दिग्मागैर्विस्तराद्भजेत् ।
 भागद्वयपरित्यागाद्दस्त्रं शैर्वर्त्तयेद्दलम् ॥ १३ ॥
 सन्धिविस्तरसूत्रेण तन्मूलादङ्गयेद्दलम् ।

सव्यासव्यक्रमेणैव वृद्धमेतद्भवेत्तथा ॥ १४ ॥
 अथ वा सन्धिमध्यात्तु भ्रामयेदर्द्धचन्द्रवत् ।
 सन्धिद्वयाग्रसूत्रं वा बालपद्मन्तथा भवेत् ॥ १५ ॥
 सन्धिसूत्रार्द्धमानेन पृष्ठतः परिवर्त्तयेत् ।
 तीक्ष्णाग्रन्तु सुवातेन कमलं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ १६ ॥
 मुक्तवृद्धौ च वश्यादौ बालं पद्मं समानकं ।
 नवनाभं नवहस्तं भागैर्गन्नात्मकैश्च तत् ॥ १७ ॥
 मध्येऽङ्गं पट्टिकावीजं द्वारेणाङ्गस्य मानतः ।
 कण्ठोपकण्ठमुक्तानि तद्वाञ्छे वीथिका मता ॥ १८ ॥
 पञ्चभागान्विता(१) सा तु समन्ताद्दशभागिका ।
 दिग्विदिच्छष्ट पद्मानि द्वारपद्मं सवीथिकम् ॥ १९ ॥
 तद्वाञ्छे पञ्च पट्टिका वीथिका वत्र भूषिता ।
 पद्मवद्द्वारकण्ठन्तु पट्टिकश्चीष्ठकण्ठकं ॥ २० ॥
 कपीलं पट्टिकं कार्यं दिक्षु द्वारत्रयं स्पुटम् ।
 कोणबन्धं त्रिपट्टन्तु द्विपट्टं वष्ववद्भवेत् ॥ २१ ॥
 मध्यन्तु कमलं शुक्लं पीतं रक्तञ्च नीलकम् ।
 पीतशुक्लञ्च धूम्रञ्च रक्तं पीतञ्च मुक्तिदम् ॥ २२ ॥
 पूर्वार्द्धौ कमलान्यष्ट शिवविष्ण्वादिकं जपेत् ।
 प्रासादमध्यतोऽभ्यर्च्यं शक्रादीनङ्गकादिषु ॥ २३ ॥
 अस्त्राणि वाह्यवीथ्यान्तु विष्णादीनश्वमेधभाक् ।
 पवित्रारोहणादौ च महामण्डलमालिखेत् ॥ २४ ॥
 अष्टहस्तं पुरा क्षेत्रं रसपक्षैर्विर्वर्त्तयेत् ।

१ पञ्चभागमित्येति च०, इ० च ।

द्विपदं कमलं मध्ये वीथिका पट्टिका ततः ॥ २५ ॥
 दिग्विदिक्षु ततोऽष्टौ च नीलाङ्गानि विवर्त्तयेत् ।
 मध्यपद्मप्रमाणेन त्रिंशत्पद्मानि तानि तु ॥ २६ ॥
 दलसन्धिविहीनानि नीलेन्द्रीवरकानि च ।
 तत्पृष्ठे पट्टिका वीथी स्वस्तिकानि तदूर्ध्वतः ॥ २७ ॥
 द्विपदानि तथा चाष्टौ कृतिभागकृतानि तु ।
 वर्त्तयेत् स्वस्तिकांस्तत्र वीथिका पूर्व्ववद्वहिः ॥ २८ ॥
 द्वाराणि कमलं यद्दुपकण्ठयुतानि(१) तु ।
 रक्तं कोणं पीतवीथी नीलं पद्मञ्च मण्डले ॥ २९ ॥
 स्वस्तिकादि विचित्रञ्च सर्व्वकामप्रदं गुह ।
 पञ्चाङ्गं पञ्चहस्तं स्यात् समन्ताद्दशभाजितम् ॥ ३० ॥
 द्विपदं कमलं वीथी पट्टिका दिक्षु पङ्कजम् ।
 चतुष्कं पृष्ठतो वीथी पट्टिका द्विपदान्यथा ॥ ३१ ॥
 कण्ठोपकण्ठयुक्तानि द्वारान्यङ्गन्तु मध्यतः ।
 पञ्चाङ्गमण्डले द्वास्त्रिंशत् पीतञ्च पूर्व्वकम् ॥ ३२ ॥
 वैदूर्याभं दक्षिणाङ्गं कुन्दाभं वारुणं कजम् ।
 उत्तराङ्गन्तु शङ्काभमन्यत् सर्व्वं विचित्रकम् ॥ ३३ ॥
 सर्व्वकामप्रदं वक्ष्ये दशहस्तन्तु मण्डलम् ।
 विकारभक्तन्तुर्याञ्च द्वारन्तु द्विपदं भवेत् ॥ ३४ ॥
 मध्ये पद्मं पूर्व्ववच्च विघ्नध्वंसं वदाम्यथ ।
 चतुर्हस्तं पुरं कृत्वा वृत्रञ्चैव करद्वयम् ॥ ३५ ॥
 वीथिका हस्तमात्रन्तु स्वस्तिकैर्वहुभिर्हृता ।

१ तद्दुपकण्ठयुतानीति ख०, ज० च ।

हस्तमात्राणि द्वाराणि दिक्षु वृत्तं सप्तशकम् ॥ ३६ ॥
 पद्मानि पञ्च शक्तानि मध्ये पूज्यश्च निष्कलः ।
 हृदयादीनि पूर्वादी विदिष्वस्त्राणि वै यजेत् ॥ ३७ ॥
 प्राग्वच्च पञ्च ब्रह्माणि बुद्ध्याधारमतो वदे ।
 शतभागे तिथिभागे पञ्च लिङ्गाष्टकं दिशि ॥ ३८ ॥
 मेखलाभागसंयुक्तं कण्ठं द्विपदिकं भवेत् ।
 आचार्य्यो बुद्धिमात्रित्य कल्पयेच्च लतादिकम् ॥ ३९ ॥
 चतुःषट्पञ्चमाष्टादि खाञ्छिखाद्यादि मण्डलम् ।
 खाञ्चीन्दुसूर्यगं सर्व्वं खाञ्छि चैवेन्दुवर्णनात् ॥ ४० ॥
 चत्वारिंशदधिकानि चतुर्दशशतानि हि ।
 मण्डलानि हरेः शम्भोर्देव्याः सूर्यस्य सन्ति च ॥ ४१ ॥
 दशसप्तविभक्ते तु लतालिङ्गीद्भवं शृणु ।
 दिक्षु पञ्चत्रयञ्चैकं त्रयं पञ्च च लोमयेत्(१) ॥ ४२ ॥
 जङ्घगे द्विपदे लिङ्गमन्दिरं पार्श्वकोष्ठयोः ।
 मध्येन द्विपदं पद्ममथ चैकञ्च पङ्कजं ॥ ४३ ॥
 लिङ्गस्य पार्श्वयोर्भद्रे पदद्वारमलोपनात् ।
 तत्पार्श्वशीभाः षड्लीप्य लताः शेषास्तथा हरेः ॥ ४४ ॥
 जङ्घं द्विपदिकं लीप्य हरेर्भद्राष्टकं स्मृतम् ।
 रश्मिमानसमायुक्तवेदलीपाञ्च शोभिकम् ॥ ४५ ॥
 पञ्चविंशतिकं पञ्चं ततः पौठमपौठकम् ।
 हयं हयं रक्षयित्वा उपशोभास्तथाष्ट च ॥ ४६ ॥
 देव्यादिख्यापकं भद्रं वृहन्मध्ये परं लघु ।

१ लोपयेदिति ञ० । लोपयेदिति ट० ।

मध्ये नवपदं पद्मं कीणे भद्रचतुष्टयम् ॥ ४७ ॥

त्रयोदशपदं शेषं बुद्ध्याधारन्तु मण्डलं ।

शतपत्रं षष्ट्यधिकं बुद्ध्याधारं हरादिषु ॥ ४८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे मण्डलानि नामोनविंशत्यधिक-
त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ विंशत्यधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

— ०००@००० —

अघोरास्त्रादिशान्तिकल्पः ।

ईश्वर उवाच । अस्त्रयागः पुरा कार्यः सर्वकर्मसु सिद्धिदः ।

मध्ये पूज्यं शिवाद्यस्त्रं वज्रादीन् पूर्वतः क्रमात् ॥ १ ॥

पञ्चचक्रं दशकरं रणादौ पूजितं जये ।

ग्रहपूजा रविर्मध्ये पूर्वाद्याः सोमकादयः ॥ २ ॥

सर्वं एकादशस्थास्तु ग्रहाः स्युः ग्रहपूजनात् ।

अस्त्रशान्तिं प्रवक्ष्यामि सर्वोत्पातविनाशिनीं ॥ ३ ॥

ग्रहरोगादिशमनीं मारीशत्रुविमर्द्दनीं ।

विनायकोपतमिघ्नमघोरास्त्रं जपेन्नरः ॥ ४ ॥

लक्षं ग्रहादिनाशः स्यादुत्पाते तिलहोमनम् ।

दिव्ये लक्षं तदर्द्धेन व्योमजीत्पातनाशनं ॥ ५ ॥

घृतेन लक्षपातेन उत्पाते भूमिजे हितम् ।

घृतगुग्गुलुहोमे च सर्वोत्पातादिमर्द्दनम् ॥ ६ ॥

दूर्वाक्षताश्वहोमेन व्याधयोऽथ घृतेन च ।
 सहस्रेण तु दुःस्वप्ना विनश्यन्ति न संशयः । ७ ॥
 अयुताद् ग्रहदीप्तघ्नो जवाघृतविमिश्रितात् ।
 विनायकार्त्तिशमनमयुतेन घृतस्य च ॥ ८ ॥
 भूतवेतालशान्तिस्तु गुग्गुलीरयुतेन च ।
 महाहृत्स्य भङ्गे तु व्यालकङ्के (१) गृहे स्थिते ॥ ९ ॥
 आरण्यानां प्रवेशे च दूर्वाज्याक्षतहावनात् ।
 उल्कापाते भूमिकम्पे तिलाज्येनाहुताच्छिवम् ॥ १० ॥
 रक्तस्त्रावे तु वृक्षाणामयुताद् गुग्गुलीः शिवं ।
 अकाले फलपुष्पाणां राष्ट्रभङ्गे च मारणे ॥ ११ ॥
 द्विपदादेर्यदा मारी लक्षाक्षाश्च तिलाज्यतः ।
 हस्तिमारीप्रशान्त्यर्थं करिणीदन्तवर्द्धने ॥ १२ ॥
 हस्तिन्यां मददृष्टौ च अयुताच्छान्तिरिष्यते ।
 अकाले गर्भपाते तु जातं यत्र विनश्यति ॥ १३ ॥
 विकृता यत्र जायन्ते यात्राकालेऽयुतं हुनेत् ।
 तिलाज्यलक्षहोमन्तु उत्तमासिद्धिसाधने ॥ १४ ॥
 मध्यमायां तदर्धेन तत्पादादधमासु च ।
 यथा जपस्तथा होमः संचामे विजयो भवेत् ।
 अघोरास्त्रं जपेन्नरस्य ध्यात्वा पञ्चास्यमूर्त्तितम् ॥ १५ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अघोरास्त्रादिशान्तिकल्पो नाम
 विंशत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथैकविंशत्यधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—000—

पाशुपतशान्तिः ।

ईश्वर उवाच । वक्ष्ये पाशुपतास्त्रेण शान्तिजापादि पूर्वतः ।

पादतः पूर्वनाथो हि फडन्तं चापदादिनुत् ॥ १ ॥

श्रीं नमो भगवते महापाशुपताय अनुलबलवीर्यपराक्रमाय
त्रिपञ्चनयनाय नानारूपाय नानाप्रहरणोद्यताय सर्वाङ्गरक्ताय
भिन्नाङ्गनचयप्रख्याय श्मशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिक्वन्तरताय
सर्वसिद्धिप्रदाय भक्तानुकम्पिने असंख्यवक्त्रभुजपादाय तस्मिन्-
सिद्धाय वेतालवित्रासिने शाकिनीचोभजनकाय व्याधिनिग्रह-
कारिणे पापभञ्जनाय सूर्यसोमग्निनेत्राय विष्णुकवचाय खड्ग-
वज्रहस्ताय यमदण्डवरुणपाशाय रुद्रशूलाय ज्वलज्जिह्वाय सर्व-
रोगविद्रावणाय ग्रहनिग्रहकारिणे दुष्टनागक्षयकारिणे श्रीं कृष्ण-
पिङ्गलाय फट् । हंकारास्त्राय फट् । वज्रहस्ताय फट् । शक्तये
फट् । दण्डाय फट् । यमाय फट् । खड्गाय फट् । वारुणाय
फट् । पाशाय फट् । ध्वजाय फट् । अङ्गुशाय फट् । गदायै
फट् । कुबेराय फट् । त्रिशूलाय फट् । मुङ्गराय फट् । चक्राय
फट् । पद्माय फट् । नागास्त्राय फट् । ईशानाय फट् । खेट-
कास्त्राय फट् । मुण्डास्त्राय फट् । कङ्कालास्त्राय फट् । पिच्छि-
कास्त्राय फट् । क्षुरिकास्त्राय फट् । ब्रह्मास्त्राय फट् । शक्त्य-
स्त्राय फट् । गणास्त्राय फट् । पिलिपिच्छास्त्राय फट् । गन्धर्वा-
स्त्राय फट् । मूर्वास्त्राय फट् । दक्षिणास्त्राय फट् । वामास्त्राय
फट् । पश्चिमास्त्राय फट् । मन्वास्त्राय फट् । शाकिन्यस्त्राय

(२२)

फट् । योगिन्यस्त्राय फट् । दण्डास्त्राय फट् । महादण्डास्त्राय
 फट् । नानास्त्राय फट् । शिवास्त्राय फट् । ईशानास्त्राय फट् ।
 पुरुषास्त्राय फट् । अघोरास्त्राय फट् । सद्योजातास्त्राय फट् ।
 हृदयास्त्राय फट् । महास्त्राय फट् । गरुडास्त्राय फट् । राक्ष-
 सास्त्राय फट् । दानवास्त्राय फट् । चौ नरसिंहास्त्राय फट् ।
 त्वष्ट्रस्त्राय फट् । सर्वास्त्राय फट् । नः फट् । वः फट् । पः
 फट् । फः फट् । मः फट् । श्री फट् । फेः फट् । भूः फट् ।
 भुवः फट् । स्वः फट् । महः फट् । जनः फट् । तपः फट् ।
 सर्वलोक फट् । सर्वपाताल फट् । सर्वतत्त्व फट् । सर्वप्राण
 फट् । सर्वनाडी फट् । सर्वकारण फट् । सर्वदेव फट् । ह्रीं
 फट् । श्रीं फट् । ह्रूं फट् । स्तूं फट् । स्वां फट् । लां फट् ।
 वैराग्याय फट् । मायास्त्राय फट् । कामास्त्राय फट् । चित्र-
 पालास्त्राय फट् । ह्रंकारास्त्राय फट् । भास्करास्त्राय फट् ।
 चन्द्रास्त्राय फट् । विघ्नेश्वरास्त्राय फट् । खूं खीं फट् ।
 ह्रीं ह्रीं फट् । भ्रामय २ फट् । छादय २ फट् । उन्मूलय २
 फट् । त्रासय २ फट् । सञ्जीवय २ फट् । विद्रावय २ फट् ।
 सर्वदुरितं नाशय २ फट् ॥

सकृदावर्त्तनादेव सर्वविघ्नान् विनाशयेत् ।

शतावर्त्तेन चोत्पातान्त्रुणादौ विजयो भवेत् ॥ २ ॥

घृतगुग्गुलुहोमाच्च असाध्यानपि(१) साधयेत् ।

पठनात्सर्वशान्तिः स्याच्छस्त्रपाशुपतस्य च ॥ ३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे पाशुपतशान्तिर्नामैकविंशत्यधिक-

त्रिशततमोऽध्यायः ।

अथ द्वाविंशत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

षडङ्गान्यघोरास्त्राणि ।

ईश्वर उवाच । श्रीं कूं हंसइति मन्त्रेण मृत्युरोगादि शास्यति ।

लक्षाहुतिभिर्दूर्वाभिः शान्तिं पुष्टिं प्रसाधयेत् ॥ १ ॥

अथ वा प्रणवेनैव मायया वा षडङ्गानन ।

दिव्यान्तरीक्षभौमानां शान्तिरुत्पातहृत्तके ॥ २ ॥

श्रीं नमो भगवति गङ्गे कालि२ महाकालि२ मांसशोणित-
भोजने रक्तकृष्णमुखि वशमानय मानुषान् स्वाहा ॥

श्रीं लक्षं जम्बा दशांशिन हुत्वा स्यात् सर्वकर्मक्षत् ।

वशं नयति शक्रादीन्मानुषेषु का कथा ॥ ३ ॥

अन्तर्धानकरी विद्या मोहनी जृम्भनी तथा ।

वशन्नयति शत्रूणां शत्रुबुद्धिप्रमोहिनी ॥ ४ ॥

कामधेनुरियं विद्या समधा परिकीर्त्तिता ।

मन्त्रराजं प्रवक्ष्यामि शत्रुचौरादिमोहनम् ॥ ५ ॥

महाभयेषु सर्वेषु स्मर्त्तव्यं हरपूजितं ।

लक्षं जम्बा तिलैर्हीमः सिद्धेद्दुहारकं मृगु ॥ ६ ॥

श्रीं हले शूले एहि ब्रह्मसत्येन विष्णुसत्येन रुद्रसत्येन रक्ष
मां वाचेश्वराय स्वाहा ॥

दुर्गात्तारयते यस्मात्तेन दुर्गा शिवा मता ।

श्रीं चण्डकपालिनि दन्तान् क्षिटि२ क्षिटि२ गुह्ये फट् ह्रीं ।

अनेन मन्त्रराजेन चालयित्वा तु तण्डुलान् ॥ ७ ॥

त्रिंशद्द्वारानि जप्तानि तच्चौरेषु प्रदापयेत् ।

दन्तैश्चूर्णानि शुक्लानि पतितानि हि शुभये ॥ ८ ॥

श्रीं ज्वलन्लोचन कपिलजटाभारभास्वर विद्रावण त्रैलोक्य-
डामर२ दर२ अमर२ आकट्टर तोटय२ मोटय२ दह२ पच२ एवं
सिद्धिरुद्रो ज्ञापयति यदि ग्रहोपगतः स्वर्गलोकं देवलोकं वा
आरामविहाराचलं तथापि तमावर्त्तयिष्यामि बलिं गृह्ण २
ददामि ते स्वाहेति ।

चेत्रपालबलिं दत्त्वा ग्रहो न्यासाद्ब्रह्मं व्रजेत् ।

शत्रवो नाशमायान्ति रणे वैरगणक्षयः ॥ ९ ॥

हंसवीजन्तु विन्यस्य विघ्नन्तु(१) त्रिविधं हरेत् ।

अगुरुश्चन्दनं कुष्ठं कुङ्कुमं नागकेशरम् ॥ १० ॥

नखं वै देवदारुश्च समं कृत्वाथ धूपकः ।

माचिकेन समायुक्तो देहवस्त्रादिधूपनात् ॥ ११ ॥

विवादे मोहने स्त्रीणां भस्मने कलहे शुभः ।

कन्याया वरणे भाग्ये मायामन्त्रेण मन्त्रितः ॥ १२ ॥

ह्रीं रोचनानागपुष्पाणि कुङ्कुमश्च मनःशिला ।

ललाटे तिलकं कृत्वा यं पश्येत्स वशी भवेत् ॥ १३ ॥

शतावर्थास्तु चूर्णन्तु दुग्धपीतश्च पुत्रकृत् ।

नागकेशरचूर्णन्तु घृतपक्वान्तु पुत्रकृत् ॥ १४ ॥

पालाशवीजपानेन लमेत पुत्रकन्तथा ।

श्रीं उत्तिष्ठ चामुखे जन्मय २ मोहय २ अमुकं वशमानय २
स्वाहा ।

षड्विंश सिद्धविद्या सा नदीतीरमुदा स्त्रियम् ॥१५॥

कृत्वोन्मत्तरसेनैव नामालिख्यार्कपत्रके ।

मूत्रोत्सर्गन्ततः कृत्वा जपेत्तामानयेत्स्त्रियम् ॥ १६ ॥

ओं ह्रंसः वषट् ।

महासृत्युक्षयो मन्त्रो जप्याद्धोमाच्च पुष्टिकृत् ।

ओं हंसः ऋं छं स ऋः सौः ।

सृतसञ्जीवनी विद्या अष्टार्णा जयकद्रणे ॥ १७ ॥

मन्त्रा ईशानमुख्याश्च धर्मकामादिदायकाः ।

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ॥ १८ ॥

ब्रह्मणस्याधिपतिर्ब्रह्म शिवो मेऽस्तु सदाशिवः ।

ओं तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

ओं अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरहरेभ्यस्तु सर्वतः ॥ १९ ॥

सर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः । ओं वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय

नमः रुद्राय नमः । कालाय नमः कलविकारणाय नमो बल-

विकारणाय नमो बलप्रमथनाय नमः । सर्वभूतदमनाय नमो

मनीषानाय नमः ।

ओं सद्योजातं प्रवक्ष्यामि सद्योजाताय वै नमः ।

भवे भवेऽनादिभवे भजस्व मां भवोद्भव ॥ २० ॥

पञ्चब्रह्माङ्गषट्कञ्च(?) वच्चेऽहं भुक्तिमुक्तिर्दं ।

ओं नमः परमात्मने पराय कामदाय परमेश्वराय योगाय

योगसम्भवाय सर्वकाराय कुरु२ सत्य२ भव२ भवोद्भव वामदेव

सर्वकार्यकर पापप्रशमन सदाशिव प्रसन्न नमोऽस्तु ते स्वाहा ॥

हृदयं सर्वार्थदन्तु सप्तत्यक्षरसंयुतं ।

ओं शिवः शिवाय नमः शिवः । ओं हृदये ज्वालनि स्वाहा
शिखा । ओं शिवात्मक महातेजः सर्वज्ञ प्रभुरावर्त्तय महाघोर
कवच पिङ्गल नमः । महाकवच शिवाग्रया हृदयं बन्ध २
घूर्णय २ चूर्णय २ सूक्ष्मवज्रधर वज्रपाश धनुर्वज्राग्निवज्रशरीर
मम शरीरमनुप्रविश्य सर्वदुष्टान् स्तम्भय २ ह्रं ।

अक्षराणाम् कवचं शतं पञ्चाक्षराधिकम् ॥ २१ ॥

ओं भोजसे नेत्रं ओं प्रस्फुर २ तनुरूप २ चट २ प्रचट २ कट २
वम २ घातय २ हुं फट् अघोरास्त्रम् ॥

इत्याग्नेये महापुराणे षडङ्गान्यघोरस्त्राणि नाम द्वाविंशत्यधिक-
त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रयोविंशत्यधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—:○:—

रुद्रशान्तिः ।

ईश्वर उवाच । शिवशान्तिं प्रवक्ष्यामि कल्पाघोरप्रपूर्वकम् ।

सप्तकोटाधिपो घोरो ब्रह्महत्याद्यघाद्वर्धनः(१) ॥ १ ॥

उत्तमाधमसिद्धीणामालयोऽखिलरीगनुत् ।

दिव्यान्तरौक्षभौमानामुत्पातानां विमर्द्दनः ॥ २ ॥

विषग्रहपिशाचानां ग्रसनः सर्वकामकृत् ।

प्रायश्चित्तमघौघार्त्तौ दौर्भाग्यार्त्तिविनाशनम् ॥ ३ ॥

एकवीरन्तु विन्यस्य ध्येयः पञ्चमुखः सदा ।

१ ब्रह्महत्यादिमर्द्दन इति ख० ।

शान्तिके पीष्टिके शुक्लो रक्तो वश्येऽथ पीतकः ॥ ४ ॥

स्तम्भने धूम्र उच्चाटमारणे कृष्णवर्षकः ।

कर्षणः कपिलो मोहे हात्रिंशद्वर्णमर्चयेत् ॥ ५ ॥

त्रिंशद्वर्णं जपेन्नन्दं होमं कुर्याद्दशांशतः ।

गुग्गुलान्मृतयुक्तेन सिद्धोऽसिद्धोऽथ सर्व्वकृत् ॥ ६ ॥

अघोराद्नापरो मन्त्रो विद्यते भुक्तिमुक्तिकृत् ।

अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी अज्ञातः ज्ञातको भवेत् ॥ ७ ॥

अघोरास्त्रमघोरन्तु हाविमौ मन्त्रराजकौ ।

जपहोमार्चनाद्युद्धे शत्रुसैन्यं विमर्हयेत् ॥ ८ ॥

रुद्रशान्तिं प्रवक्ष्यामि शिवां सर्व्वार्थसाधनीं ।

पुत्रार्थं ग्रहनाशार्थं विषव्याधिविनष्टये ॥ ९ ॥

दुर्भिक्षमारीशान्त्यर्थं दुःखप्रहरणाय च ।

बलादिरान्ध्रप्राप्त्यर्थं रिपूणां नाशनाय च ॥ १० ॥

अकालफलिते वृक्षे सर्व्वग्रहविमर्हने ।

पूजने तु नमस्कारः स्वाहान्तो हवने तथा ॥ ११ ॥

आप्यायने वषट्कारं पुष्टौ वौषट्त्रियोजयेत् ।

चकारद्वितयस्थाने(१) जातियोगन्तु कारयेत् ॥ १२ ॥

ओं रुद्राय च ते ओं वृषभाय नमः अविमुक्ताय असम्भवाय
पुरुषाय च पूज्याय ईशानाय पौरुषाय पञ्च चोत्तरे विश्वरूपाय
करालाय विकृतरूपाय अविक्तरूपाय ।

निकृता(२) चापरे काले अप्सु माया च नैर्ऋते ।

१ दकारद्वितयस्थान इति अ० । उकारद्वितयस्थान इति ट० ।

२ विद्यताविति अ०, ट० च ।

एकपिङ्गलाय श्वेतपिङ्गलाय कृष्णपिङ्गलाय नमः । मधुपिङ्ग-
 लाय नमः मधुपिङ्गलाय नियतौ अनन्ताय आर्द्राय शुष्काय पयो-
 गणाय । कालतत्त्वे । करालाय विकरालाय । द्वी मायातत्त्वे ।
 सहस्रशीर्षाय सहस्रवक्त्राय सहस्रकरचरणाय सहस्रलिङ्गाय ।
 विद्यातत्त्वे । सहस्राक्षाहिन्यसेद् दक्षिणे दले । एकजटाय
 द्विजटाय त्रिजटाय स्वाहा । काराय स्वधाकाराय षष्टकाराय
 षड्रुद्राय । ईशतत्त्वे तु वज्रिपत्रे स्थिता गुह्य । भूतपतये
 पशुपतये उमापतये कालाधिपतये । सदाश्रिवाध्यक्ष्यतत्त्वे षट्
 पूज्याः पूर्वदले स्थिताः । उमायै कुरूपधारिणि श्रीं कुरु २
 रुहिणि २ रुद्रोसि देवानां देवदेवविशाख हन्न २ दह २ पच २
 मथ २ तुरु २ अरु २ सुरु २(?) रुद्रशान्तिमनुस्मर कृष्णपिङ्गल
 अकालपिशाचाधिपतिविश्वेश्वराय नमः । शिवतत्त्वे कर्णिकायां
 पूज्यौ ह्युमामहेश्वरौ । श्रीं व्योमव्यापिने व्योमरूपाय सर्व-
 व्यापिने शिवाय अनन्ताय अनाथाय अनाश्रिताय शिवाय ।
 शिवतत्त्वे नव पदानि व्योमव्याप्यभिधास्वहि । शाश्वताय
 योगपीठसंस्थिताय नित्यं शीगिने ध्यानाहाराय नमः । श्रीं
 नमः शिवाय सर्वप्रभवे शिवाय ईशानमूर्ध्नाय तत्पुरुषादि-
 पञ्चवक्त्राय नवपदं पूर्वदले सदाख्ये पूजयेद्गुह्य । अधोरहृदयाय
 वामदेवगुह्याय सद्योजातमूर्त्तये । श्रीं नमो नमः । गुह्याति-
 गुह्याय गोप्त्रे अनिधनाय सर्वयोगाधिकृताय ज्योतीरूपाय अग्नि-
 पत्रे हीशतत्त्वे विद्यातत्त्वे हे याम्यगे परमेश्वराय चेतनाचेतन
 व्योमन व्यापिन प्रथम तेजस्तेजः मायातत्त्वे नैर्ऋते कालतत्त्वे

ऽथ वारुणे । श्रीं हृ हृ नाना वां वां अनिधान निधनीद्भव शिव
 सर्वपरमात्मन् महादेव सद्भाविश्वर महातेज योगाधिपते मुञ्च २
 प्रमथ २ श्रीं सर्व २ श्रीं भव २ श्रीं भवोद्भव । सर्वभूतसुखप्रद
 वायुपत्रेऽथ निवृत्तौ पुरुषे चोत्तरेण च । सर्वसान्निध्यकर ब्रह्म-
 विष्णुरुद्रपर अनर्चित अस्तुतस्तु च साधिन २ तुरु २ पतङ्ग पिङ्ग २
 ज्ञान २ शब्द २ सूक्ष्म २ शिव २ सर्वप्रद २ श्रीं नमः शिवाय श्रीं
 नमो नमः शिवाय श्रीं नमो नमः ।

ईशाने प्राकृते तत्त्वे पूजयेज्जुहुयाज्जपेत् ।

अहुरोगादिमायासि शमनी सर्वसिद्धिदात् ॥ १३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे रुद्रशान्तिर्नाम त्रयोविंशत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ चतुर्विंशत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—ooo@ooo—

अंशकादिः ।

ईश्वर उवाच । रुद्राक्षकटकं धार्यं विषमं सुसमं दृढम् ।

एकत्रिपञ्चवदनं यथालाभन्तु धारयेत् ॥ १ ॥

द्विषतुःषण्मुखं शस्तमत्रणं तीव्रकण्ठकं ।

दक्षवाहौ शिखादौ च धारयेच्चतुराननं ॥ २ ॥

अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी अस्नातः स्नातको भवेत् ।

हैमी वा मुद्रिका धार्या(१) शिवमन्त्रेण चार्च्य तु ॥ ३ ॥

शिवः शिखा तथा ज्योतिः सवित्रयेतिगोचराः ।
 गोचरन्तु कुलं ज्ञेयं तेन लक्ष्यसु दीक्षितः ॥ ४ ॥
 प्राजापत्यो महीपालः कपोतो ग्रन्थिकः शिवे ।
 कुटिलाश्चैव वेतान्ताः पद्महंसाः शिखाकुले ॥ ५ ॥
 घृतराष्ट्रा वक्राः काका गोपाला ज्योतिसंज्ञके ।
 कुटिका साठराश्चैव गुटिका दण्डिनोऽपरे ॥ ६ ॥
 सावित्री गोचरे चैवमेकैकस्तु चतुर्विधः ।
 सिद्धाद्यंशकमाख्यास्ये येन मन्त्रः सुसिद्धिदः ॥ ७ ॥
 भूमौ तु मातृका लेख्याः कूटषण्डाश्चवर्जिताः ।
 मन्त्राक्षराणि विस्मिष्य अनुस्वारं नयेत् पृथक् ॥ ८ ॥
 साधकस्य तु या संज्ञा तस्या विज्ञेयं चरेत् ।
 मन्त्रस्यादौ तथा चान्ते साधकार्णाणि योजयेत् ॥ ९ ॥
 सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिः संज्ञातो गणयेत् क्रमात् ।
 मन्त्रस्यादौ तथा चान्ते सिद्धिदः स्याच्छ्रतांशतः ॥ १० ॥
 सिद्धादिद्यान्तसिद्धिश्च तत्क्षणादेव सिध्यति ।
 सुसिद्धादिः सुसिद्धान्तः सिद्धवत् परिकल्पयेत् ॥ ११ ॥
 अरिमादौ तद्यान्ते च दूरतः परिवर्जयेत् ।
 सिद्धः सुसिद्धश्चैकार्थे अरिः साध्यस्तथैव च ॥ १२ ॥
 आदौ सिद्धः स्थितौ मन्त्रे तदन्ते तद्देव हि ।
 मध्ये रिपुसहस्राणि न दोषाय भवन्ति हि ॥ १३ ॥
 मायाप्रसादप्रणवेनांशकः स्यातमन्त्रके ।
 ब्रह्मांशको ब्रह्मविद्या विष्णुङ्को(१) वैष्णवः स्मृतः ॥ १४ ॥

रुद्रांशको भवेद्दीर इन्द्रांशखेश्वरप्रियः ।
 नामांशो नागस्तम्बाक्षो यक्षांशो भूषणप्रियः ॥ १५ ॥
 गन्धर्वांशोऽतिगौतादि भीमांशो राक्षसांशकः ।
 दैत्यांशः स्याद् युद्धकार्यो मानी विद्याधरांशकः ॥ १६ ॥
 पिशाचांशो मलाक्रान्तो मन्त्रं दद्यान्निरीक्ष्य च ।
 मन्त्र एकात् फडन्तः स्यात् विद्यापञ्चाशतावधि ॥ १७ ॥
 बाला विंशाक्षरान्ता च रुद्रा हाविंशगायुधा ।
 तत ऊर्ध्वन्तु ये मन्त्रा वृद्धा यावच्छतत्रयं ॥ १८ ॥
 अकारादिहकारान्ताः क्रमात् पञ्चो सितसितौ ।
 अनुस्वारविसर्गेण विना चैव स्वरा दश ॥ १९ ॥
 ऋत्वाः शुक्ला दीर्घाः श्लामांस्तिथयः प्रतिपन्मुखाः ।
 उदिते शान्तिकादीनि भ्रमिते वशकादिकम् ॥ २० ॥
 भ्रामिते सन्धयो हेषोच्चाटने स्तम्भनेऽस्तकम् ।
 इहावाहे शान्तिकाद्यं पिङ्गले कर्षणादिकम्(१) ॥ २१ ॥
 मारणोच्चाटनादीनि विषुवे पञ्चधा पृथक् ।
 अधरस्य गृहे पृथ्वी ऊर्ध्वे तेजोऽन्तरा द्रवः ॥ २२ ॥
 रन्ध्रपार्श्वे वह्निर्वायुः सर्वं व्याप्य महेश्वरः ।
 स्तम्भनं पार्थिवे शान्तिज्जले वश्यादि तेजसे ।
 वायो स्याद् भ्रमणं शून्ये पुण्यं कालं समभ्यसेत् ॥ २३ ॥
 इत्याम्नये महापुराणे अंगकादिर्नाम चतुर्विंशत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

१ कर्षणादिकमिति ख०, इ० च ।

अथ पञ्चविंशत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—••—

गौर्यादिपूजा ।

ईश्वर उवाच । सौभाग्यादेरुमापूजां वष्ये ऽहं भुक्तिमुक्तिदां ।

मन्त्रध्यानं मण्डलञ्च मुद्रां होमादिसाधनम् ॥ १ ॥

चित्रभानुं शिवं कालं महाशक्तिसमन्वितम् ।

शुद्धायं परतोहृत्य सदेवः सविकारणम् ॥ २ ॥

द्वितीयं द्वारकाक्रान्तं गौरीप्रोतिपदान्वितं ।

चतुर्थ्यन्तं प्रकर्त्तव्यं गौर्या वै मूलवाचकं ॥ ३ ॥

ओं ह्रीं सः शौं गौर्यै नमः ।

तत्रार्पणत्रितयेनैव जातियुक्तं षडङ्गुलम् ।

आसनं प्रणवेणैव मूर्त्तिं वै हृदयेन तु ॥ ४ ॥

उदकञ्च तथा कालं शिवबीजं समुद्धरेत् ।

प्राणं दीर्घस्तराक्रान्तं षडङ्गं जातिसंयुतम् ॥ ५ ॥

आसनं प्रणवेनात्र मूर्त्तिन्यासं हृदाचरेत् ।

यामलं कथितं वक्ष एकवीरं वदाम्यऽथ ॥ ६ ॥

व्यापकं सृष्टिसंयुक्तं वङ्गिमायाकृशानुभिः ।

शिवशक्तिमयं बीजं हृदयादिविवर्जितं ॥ ७ ॥

गौरीं यजेद्देमरूप्यां काष्ठजां शैलजादिकां ।

पञ्चपिण्डां तथाऽव्यक्तां कोणे मध्ये तु पञ्चमं(१) ॥ ८ ॥

ललिता सुभगा गौरी क्षोभणी चाग्निः क्रमात् ।

वामा ज्येष्ठा क्रिया ज्ञाना वृत्ते पूर्व्वदितो यजेत् ॥ ९ ॥
 सपीठे वामभागे तु शिवस्याव्यक्तरूपकम् ।
 व्यक्ता दिनेत्रा त्र्यक्षरा शुद्धा वा शङ्करान्विता ॥ १० ॥
 पीठपद्मद्वयं तारा द्विभुजा वा चतुर्भुजा ।
 सिंहस्था वा वृकस्था(१) वा अष्टाष्टादशसत्करा ॥ ११ ॥
 स्रगच्चसूत्रकलिका गलकीत्यलपिण्डिका ।
 शरं धनुर्व्वी सव्येन पाणिनान्यतमं वहत् ॥ १२ ॥
 वामेन पुस्तताम्बूलदण्डाभयकमण्डलुम् ।
 गणेशदर्पणेष्वाम्बुदद्यादेकैकशः क्रमात् ॥ १३ ॥
 व्यक्ताव्यक्ताऽथवा कार्या पद्ममुद्रा स्मृतासने ।
 तिङ्गमुद्रा शिवस्योक्ता मुदा चावाहनी द्वयोः ॥ १४ ॥
 शक्तिमुद्रा तु योन्याख्या चतुरस्रन्तु मण्डलं ।
 चतुरस्रं त्रिपत्राजं मध्यकोष्ठचतुष्टये ॥ १५ ॥
 त्र्यश्रीर्ष्वर्षाचन्द्रस्तु द्विपदं द्विगुणं क्रमात् ।
 द्विगुणं द्वारकण्ठन्तु द्विगुणादुपकण्ठतः ॥ १६ ॥
 द्वारत्रयं त्रयं दिक्षु अथ वा भद्रके यजेत् ।
 स्थण्डिले वाथ संस्थाप्य पञ्चगव्यामृतादिना ॥ १७ ॥
 रक्तपुष्पाणि देयानि पूजयित्वा ह्युदङ्मुखः ।
 शतं हुत्वामृताज्यञ्च पूर्णादः सर्व्वसिद्धिभाक् ॥ १८ ॥
 बलिन्दत्वा कुमारीश्च तिस्रो वा चाष्ट भोजयेत्(२) ।
 नैवेद्यं शिवभक्तेषु दद्यान्न स्वयमाचरेत् ॥ १९ ॥

१ सिंहस्थावाङ्घ्रिस्थिति ख०, ब०, ज०, ट० च ।

२ स्त्रियो वाह च भोजयेदिति ख०, ब० च ।

कन्यार्थो लभते कन्यां अपुत्रः पुत्रमाप्नुयात् ।
 दुर्भगा चैव सौभाग्यं राजा राज्यं जयं रणे ॥ २० ॥
 अष्टलक्षैश्च वाक्सिद्धिर्देवाद्या वशमाप्नुयुः ।
 न निवेद्य न चास्त्रीयाहामहस्तेन चार्चयेत् ॥ २१ ॥
 अष्टम्याश्च चतुर्दश्यां तृतीयायां विशेषतः ।
 मृत्युञ्जयाश्च नं वक्ष्ये पूजयेत् कलसीदरे ॥ २२ ॥
 ह्यमानश्च प्रणवो मूर्तिरोजस ईदृशं ।
 मूलश्च वीषडन्तेन कुम्भसुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ २३ ॥
 होमयेत् क्षीरदुर्वाज्यममृताश्च पुनर्नवाम् ।
 पायसश्च पुरोडाशमयुतन्तु जपेन्नगुं ॥ २४ ॥
 चतुर्मुखं चतुर्बाहुं हाभ्याश्च कलसन्दधत् ।
 वरदाभयकं हाभ्यां स्नायाच्चैकुम्भसुद्रया ॥ २५ ॥
 आरोग्यैश्चर्यदीर्घायुरौषधं मन्त्रितं शुभम् ।
 अपमृत्युहरो ध्यातः पूजितोऽद्भुत एव सः ॥ २६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे गौर्यादिपूजा नाम पञ्चविंशत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षड्विंशत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ००० —

देवालयमाहात्म्यम् ।

ईश्वरउवाच । व्रतेश्वरांश्च सत्यादीनिहा व्रतसमर्पणम् ।

अरिष्टशमने शस्तमरिष्टं सुव्रतनायकम् ॥ १ ॥

हेमरत्नमयं भूयै महाशङ्खं मारणे ।
 आघ्यायने शङ्खसूत्रं मौक्तिकं पुत्रवर्द्धनम् ॥ २ ॥
 स्फाटिकं भूतिदं कौशं मुक्तिदं (१) रुद्रनेत्रजं ।
 धात्रीफलप्रमाणेन रुद्राक्षं चोत्तमस्ततः ॥ ३ ॥
 समेहं मेरुहीनं वा सूत्रं जप्यन्तु मानसम् ।
 अनामाङ्गुष्ठमाक्रम्य जपं भाष्यन्तु कारयेत् ॥ ४ ॥
 तर्ज्जन्यङ्गुष्ठमाक्रम्य न मेहं लङ्घयेज्जपे ।
 प्रमादात् पतिते सूत्रे जप्तव्यन्तु शतद्वयम् ॥ ५ ॥
 सर्ववाद्यमयी घण्टा तस्या वादनमर्थकतः ।
 गोशङ्खञ्चवल्मीकमृत्तिकाभस्मवारिभिः ॥ ६ ॥
 वेस्मायतनलिङ्गादेः कार्यमेवं विशोधनम् ।
 स्कन्दो नमः शिवायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ ७ ॥
 गीतः पञ्चाक्षरो वेदे लोके गीतः षडक्षरः ।
 ओमित्स्वन्ते स्थितः शम्भुर्धुद्रार्थं वटवीजवत् ॥ ८ ॥
 क्रमान्नमः शिवायेति ईशानाद्यानि वै विदुः ।
 षडक्षरस्य सूत्रस्य भाष्यद्विद्याकदम्बकं ॥ ९ ॥
 यदो नमः शिवायेति एतावत् परमं पदम् ।
 अनेन पूजयेज्जिङ्गं लिङ्गे यस्मात् स्थितः शिवः ॥ १० ॥
 अनुग्रहाय लोकानां धर्माकामार्थमुक्तिदः ।
 यो न पूजयते लिङ्गं स धर्मादिभाजनं ॥ ११ ॥
 लिङ्गाक्षं नाम्नुक्तिमुक्तिर्यावज्जीवमतो यजेत् ।
 वरं प्राणपरित्यागो भुञ्जीतापूज्य नैव तं ॥ १२ ॥

रुद्रस्य पूजनाद्गुह्यो विष्णुः स्याद्विष्णुपूजनात् ।
 सूर्यः स्यात् सूर्यपूजातः शक्त्यादिः शक्तिपूजनात् ॥ १३ ॥
 सर्वयज्ञतपोदाने तीर्थे वेदेषु यत् फलं ।
 तत् फलं कीटिगुणितं स्याप्य लिङ्गं लभेन्नरः ॥ १४ ॥
 त्रिसन्ध्यं योर्चयेत्सिद्धं कृत्वा विष्णेन पार्थिवम् ।
 शतैकादशिकं यावत् कुलमुद्धृत्य नाकभाक् ॥ १५ ॥
 भक्त्या वित्तानुसारेण कुर्यात् प्रासादसञ्चयम् ।
 अल्पे महति वा तुल्यफलमाठादरिद्रयोः ॥ १६ ॥
 भागद्वयञ्च धर्मार्थं कल्पयेज्जीवनाय च ।
 धनस्य भागमेकान्तु (१) अनित्यं जीवितं यतः ॥ १७ ॥
 त्रिसप्तकुलमुद्धृत्य देवागारकदर्थभाक् ।
 सृत्काष्ठेष्टकशैलाद्यैः क्रमात् कीटिगुणं फलम् ॥ १८ ॥
 अष्टेष्टकसुरागारकारी स्वर्गमवाप्नुयात् ।
 पांशुना क्रीडमानोपि देवागारकदर्थभाक् ॥ १९ ॥

इत्यग्नेये महापुराणे देवालयमाहात्म्यादिर्नाम षड्विंशत्यधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ सप्तविंशत्यधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

छन्दःसारः ।

अग्निर्वाच । छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलीकं यथाक्रमम् ।

सर्वादिमध्यान्तगणौ ज्ञो ह्यौ स्तौ त्रिकौ गणाः ॥१॥

१ धनस्याग्नार्थमेकन्विति च० ।

ऋस्वी गुरुर्वा पादान्ते पूर्वी योगाद् विसर्गतः ।
 अनुस्वाराद्वाक्षनात् स्यात् जिह्वामूलीयतस्तथा ॥ २ ॥
 उपाधानीयतो दीर्घी गुरुर्गौ नौ गणाविह ।
 वसवोष्टौ च चत्वारो वेदादित्यादिलोपतः ॥ ३ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे छन्दःसारो नाम सप्तविंशत्यधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथाष्टाविंशत्यधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

छन्दःसारः ।

अग्निरुवाच । छन्दोधिकारे गायत्री देवी चैकाक्षरी भवेत् ।
 पञ्चदशाक्षरी सा स्यात् प्राजापत्याष्टवर्णिका ॥ १ ॥
 यजुषां षड्वर्णा गायत्री सान्नां स्याद्द्वादशाक्षरा ।
 ऋचामष्टादशार्णा स्यात्सान्नां वर्द्धेत च हयं ॥ २ ॥
 ऋचं तुर्यञ्च वर्द्धेत प्राजापत्याचतुष्टयं ।
 वर्द्धेदेकैकं शेषे आतुर्यादेकमुत्सृजेत् ॥ ३ ॥
 उष्णिगनुष्टुब् वृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यपि ।
 तानि ज्ञेयानि क्रमशो गायत्री ब्रह्म एव ताः ॥ ४ ॥
 तिस्रस्त्रिस्रः समान्यः स्युरेकैका अर्थ एव च ।
 ऋग्यजुषां संज्ञाः स्युश्चतुःषष्टिपदे लिखेत् ॥ ५ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे छन्दःसारो नामाष्टाविंशत्यधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथोनत्रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

छन्दःसारः ।

अग्निर्वाच । पादभापादपूरणे गायत्री वसवः स्मृताः ।
जगत्या आदित्याः पादो विराजो दिग् ईरिताः ॥ १ ॥
विष्णुतो रुद्राः पादः स्याच्छन्द एकादिपादकं ।
आद्यं चतुष्पाच्चतुर्भिस्त्रिपात् सप्ताक्षरैः क्वचित् ॥ २ ॥
सा गायत्री पदे नीवृत् तत्प्रतिष्ठादि षट् त्रिपात् ।
बर्धमाना षडष्टाष्टा त्रिपात् षड्वसुभूधरैः ॥ ३ ॥
गायत्री त्रिपदा नीवृत् नागी नवनवर्षुभिः ।
वाराही रसद्विरसा छन्दश्चाथ तृतीयकम् ॥ ४ ॥
द्विपाद् द्वादशवस्वन्तैः त्रिपात्तु त्रैष्टुभैः स्मृतम् ।
उष्णिक् छन्दोऽष्टवसुकैः पादैर्वेदे प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥
ककुमुष्णिगष्टसूर्यवस्वर्णां त्रिभिरेव सः ।
पुनरुष्णिक् सूर्यवसुवस्वर्णैश्च त्रिपाद्भवेत् ॥ ६ ॥
परोष्णिक् परतस्तस्माच्चतुष्पादात् त्रिभिर्भवेत् ।
साष्टाक्षरैरनुष्टुप् स्यात् चतुष्पाच्च त्रिपात् क्वचित् ॥ ७ ॥
अष्टार्कसूर्यवर्णैः स्यात् मध्येऽन्ते च क्वचिद्भवेत् ।
वृहतीजगत्यस्त्रयो गायत्र्याः पूर्व्वको यदि ॥ ८ ॥
तृतीयः पथा भवति द्वितीयान्यं कुसारिणी ।
स्कन्धो ग्रीवा क्रीष्टुके स्याद् यत्ने स्यादो वृहत्यपि ॥ ९ ॥

उपरिष्ठाद्बृहत्त्यन्ते पुरस्ताद्बृहती पुनः ।
 क्वचिन्नवकाशत्वारी दिग्विदिच्छष्टवर्णिकाः ॥ १० ॥
 महावृहती जागतैः स्यात् त्रिभिः सतो बृहत्त्यपि ।
 भण्डिलः पङ्क्तिच्छन्दः स्यात् सूर्यार्काष्टाष्टवर्णकैः ॥ ११ ॥
 पूर्वौ वेदयुजौ सतः पङ्क्तिश्च विपरीतकौ ।
 प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः पवादास्तारपङ्क्तिका ॥ १२ ॥
 अक्षरपङ्क्तिः पञ्चकाशत्वारशाल्यशो द्वयं ।
 पदपङ्क्तिः पञ्च भवेच्चतुष्कं षट्ककत्रयम् ॥ १३ ॥
 षट्कपञ्चभिर्गायत्रैः षड्भिश्च जगती भवेत् ।
 एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती तथैव जगतीरिता ॥ १४ ॥
 पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमे मध्ये ज्योतिश्च मध्यतः ।
 उपरिष्ठाज्ज्योतिरन्यादेकस्मिन् पञ्चके तथा ॥ १५ ॥
 भवेच्छन्दः शङ्कुमती षट्के छन्दः ककुद्मती ।
 त्रिषादशिशुमध्या स्यात् सा पिपीलिकमध्यमा(१) ॥ १६ ॥
 विपरीता यवमध्या त्रिवृदेकेन वर्जिता ।
 भूमिजैकेनाधिकेन दिङ्हीना च चिराद्भवत् ॥ १७ ॥
 स्वराट्स्याद्वाभ्यामधिकं सन्दिग्धो देवतादितः ।
 आदिषादान्निश्चयः स्याच्छन्दसां देवता क्रमात् ॥ १८ ॥
 अग्निः सूर्यः शशी जीवी वरुणश्चन्द्र एव च ।
 विश्वेदेवाश्च षड् जात्याः स्वराः षड्जो वृषः क्रमात् ॥ १९ ॥
 गान्धारी मध्यमश्चैव पञ्चमो धैवतस्तथा ।
 निषादवर्णाः श्वेतश्च सारङ्गश्च पिसङ्गकः ॥ २० ॥

१ सपिपीलिकमध्यमेति च० ।

कृष्णी नीली लोहितश्च गौरो गायत्रिमुख्यके ।

गौरोचनाभाः कृतयो ज्योतिष्कन्दो हि श्यामलं ॥ २१ ॥

अग्निर्वैश्यः काश्यपश्च गौतमाङ्गिरसौ क्रमात् ।

भार्गवः कौशिकश्चैव वाशिष्ठो मोत्रमौरितं ॥ २२ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे कन्दःसारो नामोनत्रिंशदधिक-
त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—ooo@ooo—

कन्दोजातिनिरूपणम् ।

अग्निरवाच । चतुःशतसुत्कृतिः स्यादुक्तेश्चतुरस्यजेत् ।

अभिसंख्या प्रत्यकृतिस्तानि कन्दांसि वै पृथक् ॥ १ ॥

कृतिश्चातिधृतिश्चोत्ती(१) अत्यष्टिश्चाष्टिरित्यतः ।

अतिशर्करी शर्करीति अतिजगती जगत्यपि ॥ २ ॥

कन्दोऽत्र लौकिकं स्याच्च आर्षमात्रैष्टुभात् स्मृतम् ।

त्रिष्टुप्पङ्क्तिश्चहती अनुष्टुबुष्णिगीरितम् ॥ ३ ॥

गायत्री स्यात् सुप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा मध्यया सह ।

अत्युक्तात्युक्त आदिश्च एकैकाक्षरवर्जितम् ॥ ४ ॥

चतुर्भागो भवेत् पादो गणच्छन्दः प्रदर्शयते ।

तावन्तः समुद्रा गणा ह्यादिमध्यान्तसर्वगाः ॥ ५ ॥

१ कृतिश्चातिधृतिश्चोत्ती अ०, उ० च ।

चतुर्थः पञ्च च गणा आर्यालक्षणमुच्यते ।
 स्वरार्धञ्चार्यार्धं स्यादार्यायां विषमेन जः ॥ ६ ॥
 षष्ठो जो नलपूर्वा स्याद्वितीयादिपदं नले ।
 समेऽन्ते प्रथमा च द्वितीये पञ्चमे नले ॥ ७ ॥
 अर्धं पदं प्रथमादि षष्ठ एको लघुर्भवेत् ।
 त्रिषु गणेषु पादः स्यादार्या पञ्चार्धके स्मृता ॥ ८ ॥
 विपुलान्याथ चपला गुरुमध्यगतौ च जो ।
 द्वितीयचतुर्थी पूर्वे च चपला मुखपूर्विका ॥ ९ ॥
 द्वितीये जघनपूर्वा चपलार्या प्रकीर्तिता ।
 उभयोर्महाचपला गीतवाद्यार्धतुल्यका ॥ १० ॥
 अन्येनार्धेनोपगीतिरुद्गीतिस्त्रीत्क्रमात् स्मृता ।
 अर्धे रक्षगणा आर्या गीतच्छन्दोऽथ मात्रया ॥ ११ ॥
 वैतालीयं द्विस्वरा स्यादयुष्मादे समे नलः ।
 वसवोऽन्ते वनगाश्च गोपुच्छन्दशकं भवेत् ॥ १२ ॥
 भगणान्ता पाटलिका शेषे परे च पूर्ववत्(१) ।
 साकं षड्वा मिस्रायुक् प्राच्यवृत्तिः प्रदर्श्यते ॥ १३ ॥
 पञ्चमेन पूर्वसाकं तृतीयेन सहस्रयुक् ।
 उदीच्यवृत्तिर्वाचां स्याद् युगपच्च प्रवर्त्तकं ॥ १४ ॥
 अयुक्चारुहासिनी स्यादयुगपच्चान्तिका भवेत् ॥ १५ ॥
 समाच्चिर्वसवश्चैव मात्रासमकमीरितम् ।
 भवेन्नलवमौ लक्ष द्वादशो वा नवासिका ॥ १६ ॥
 विश्वोकः पञ्चमाष्टौ मो चित्रा लवमकश्चलः ।

परयुक्तेनोपधिना पादाकुलकमित्यतः ॥ १७ ॥
 नीतार्या लोपधेत् सौम्या लः पूर्वः(१) ज्योतिरीरिता ।
 स्याच्छिखा विपर्यास्तार्षा तूलिका समुदाहृता ॥ १८ ॥
 एकोनत्रिंशदन्ते गः स्याज्जेजनसमावसा ।
 गु इत्येकगुरुं(२) संख्यावर्णाद्दशविपर्ययात् ॥ १९ ॥

इत्याम्नेये महापुराणे छन्दोजातिनिरूपणं नाम त्रिंशदधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथैकत्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—ooo@ooo—

विषमकथनम् ।

अग्निरवाच । वृत्तं समञ्चार्धसमं विषमञ्च त्रिधा वदे ।
 समन्तावत् कृत्वकृतमर्द्धसमञ्च कारयेत् ॥ १ ॥
 विषमञ्चैव वास्यूनमतिवृत्तं समान्यपि ।
 ग्लौचतुःप्रमाणी स्यादाभ्यामन्यद्वितानकं ॥ २ ॥
 पादस्याद्यन्तु वक्रं स्यात् शनौ न प्रथमास्मृतौ ।
 बाल्यमुच्चतुर्थाद्दर्णात् पथ्या वर्णं युजोयतः ॥ ३ ॥
 विपरीतपथ्यान्वासाञ्चपला वा युजस्वनः ।
 विपुलायुग्नसप्तमः सर्व्वं तस्यैव तस्य च ॥ ४ ॥

१ नः पूर्वं इति ख० ।

२ स इत्येकगुरुमिति ख० ।

तोन्तो वा विपुलानेका चक्रजातिः समीरिता ।
 भवेत् पदचतुर्द्वं चतुर्द्वया पदेषु च ॥ ५ ॥
 गुह्ययान्त आपीडः प्रत्यापीडो गणादिकः ।
 प्रथमस्य विपर्याये मञ्जरी लवणी क्रमात् ॥ ६ ॥
 भवेदमृतधाराख्या उद्धताद्युच्यतेऽधुना ।
 एकतः ससजसानः स्युर्न सौ जो गोऽथ भौनजौ ॥ ७ ॥
 नोगोऽथ सजसा गोगस्तृतीयचरणस्य च ।
 सौरभे केचनभगा ललितञ्च नमौ जसौ ॥ ८ ॥
 उपस्थितं प्रचुपितं प्रथमाद्यं समौ जसौ ।
 गोगथो मलजा रोगः समो नगरजयाः पदे ॥ ९ ॥
 वर्द्धमानं मलौ खो नसौ अथो भोजीव इरिता ।
 शुद्धविराडार्धभाख्यं वक्ष्ये चार्द्धसमन्ततः ॥ १० ॥

इत्याम्नेये महापुराणे विषमकथनं नामैकत्रिंशदधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ द्वात्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—000@000—

अर्द्धसमनिरूपणम् ।

अग्निरुवाच । उपचित्रकं ससमनामथभोजभगामथ(१) ।

दूतमध्या ततभगागथीननजयाः स्मृताः ॥ १ ॥

वेगवती ससमगा भभभगोगथी स्मृता ।

१ ससमनामथतीभयागथ इति ख० ।

रुद्रविस्तारस्तोसभगासमजागोगथा स्मृता ॥ २ ॥
 रजसागोगधोद्रोणौगौ वै केतुमत्यपि ।
 आख्यानिकी ततजगागथीतजगागथ ॥ ३ ॥
 विपरीताख्यानिकी त्ती जयागाती जगोगथ ।
 सौमलौ गथलभभावौ भवेद्वरिणवल्लभा ॥ ४ ॥
 लौवनौगाथनजजा यः स्यादपराक्रमं ।
 पुष्पिता ननवयानजजावीगथो रजौ ॥ ५ ॥
 वीजथो जवजवागो मूले पनमती शिखा ।
 अष्टाविंशतिनागाभा त्रिंशन्नागन्ततो युजि ।
 खञ्जा तद्विपरीता स्यात् समवृत्तं प्रदर्श्यते ॥ ६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अर्द्धसमनिरूपणं नाम द्वात्रिंशदधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

— ००० —

समवृत्तनिरूपणं ।

अग्निरवाच । यतिर्विच्छेद् इत्युक्तास्तत्तन्मध्यान्तयो गणौ ।
 यौसः कुमारलालिता तौ गौ चित्रपदा स्मृता ॥ १ ॥
 विद्युन्माला मममागणैर्भूतगणैर्भवेत् ।
 माणवका क्रीडितकं वनौ हलमुखी वसः ॥ २ ॥
 स्याद्भुजङ्गशिशुसृतानौ मेहनं मरुतं ननौ ।
 भवेच्छुद्धविराड् वृत्तं प्रतिपादं समौ जगौ ॥ ३ ॥

पण्वीमलयोमः(१) स्याज्जी गी मयूरसारिणी ।
 सत्तामभसगा वृत्तं भजताद्युपरिस्थिता ॥ ४ ॥
 रुक्मवती भससगाविन्द्रावज्जा तजो जगौ ।
 जतो जगौ गूपपूर्वावाद्यन्ताद्युपजातयः ॥ ५ ॥
 दीधकं भगभागौ स्यात् शालिनी मतभागगौ ।
 यतिः समुद्रा ऋषयः वातीर्ष्णी मभतागगौ ॥ ६ ॥
 चतुःस्ररा स्याद्भ्रमरी विलासिता मभीनली ।
 समुद्रा अथ ऋषयो वनो लीगो रघोक्षता ॥ ७ ॥
 सामताधनभागोगोवृत्ताननसमाश्च सः ।
 श्येनी वजवनागः स्याद्रम्या नपरगागगः ॥ ८ ॥
 जगती वंशस्था वृत्तं जतो जावथ तो जवौ ।
 इन्द्रवंशा तोटकं सैषतुभिः प्रतिपादतः ॥ ९ ॥
 भवेद्भुतविलम्बिता नभौ भवावथौ नली ।
 स्यौ श्रीपुठी वसुवेदा जलोगतिजली जमौ ॥ १० ॥
 जसौ वसर्व्ववथाय ततं ननमराः स्मृतं ।
 कुसुमविचित्रा न्यौ द्यौ नो नो रौ स्याच्चलाम्बिका(२)॥११॥
 भुजङ्गप्रयातं थैः स्याच्चतुभिः स्रग्विनीभवैः ।
 प्रमिताक्षरा गजौ सौ कान्तोत्पीड़ा मतौ समौ(३) ॥१२॥
 वैश्वदेवी(४) ममयायाः पञ्चाङ्गा नवमालिनी ।

१ मल्लघाम इति ख० ।

२ चरणात्मिका इति ख० । चञ्चलात्मिका इति ड० ।

३ ममाविति ख० ।

४ विश्वदेवैति ख० ।

नजौ भयौ प्रतिपादं गणा यदि जगत्यपि ॥ १३ ॥
 प्रहर्षणी भवजवा गोपतिर्वह्निदिक्षु च ।
 रुचिरा जभसजगा च्छिन्ना वेदैर्ग्रहेः स्मृता ॥ १४ ॥
 मत्तमयूरं मतया सगौ वेदग्रहे यतिः ।
 गौरीनलनसागः स्यादसम्बाधा नतौ नगौ ॥ १५ ॥
 गोग इन्द्रियनवकौ ननौ वसनगाः स्वराः ।
 स्वराद्यापराजिता स्यान्नभाननगाः स्वराः ॥ १६ ॥
 द्विःप्रहरणकलिता(१) वसन्ततिलका नभौ ।
 जी गौ सिंहोन्नता सा स्यान्मुनेरुद्धर्षणी च सा ॥ १७ ॥
 चन्द्रावर्त्ता ननौ सोमावर्त्ततुर्नवकः स्मृतः ।
 मणिगुणनिकरा सौ मालिनी नौ मयौ ययः ॥ १८ ॥
 यतिर्वसुस्वरा भौ वी नतलमित्तसग्रहाः(२) ।
 ऋषभगजविलासितं ज्ञेया शिखरिणी जगौ ॥ १९ ॥
 रसभालभृगुरुद्राः पृथ्वीजसजसा जनौ ।
 गोवसुग्रहविच्छिन्ना पिङ्गलेनेरिता पुरा ॥ २० ॥
 वंशपत्रपतितं स्याद् भवना भौ नगौ सदिक् ।
 हरिणी नसमारः सौ नगौ रसचतुःस्वराः ॥ २१ ॥
 मन्दाक्रान्ता नभनतं तगौगच्छिरसस्वराः ।
 कुसुमितलता वेह्लिता मतना यययाः शराः ॥ २२ ॥
 रथाः स्वराः प्रतिरथससजाः सतताश्च गः ।
 शार्दूलविक्रीडितं स्यादादित्यमुनयो यतिः ॥ २३ ॥

१ द्विःप्रहरणकलितेति ख० ।

२ स्तननागावसपद्या इति ख० ।

कृतिः सुवदना मोरी भनया भनगाः सुराः ।
 यतिर्मुनिरसाद्याथ इबि वृत्तं क्रमात् स्मृतम् ॥ २४ ॥
 स्रग्धरा मरतानोमीयपौ त्रिःसप्तका यतिः ।
 समुद्रकं भरजानीवनगा दशभास्कराः ॥ २५ ॥
 अश्वललितं नजभा जभजा भनमीशतः ।
 मत्ताक्रीडा ममनना नौनम्नौ गोष्टमातिथिः ॥ २६ ॥
 तन्वी भनतसाभीभो लयो वाणसुरार्ककाः ।
 क्रीडपदा भमतता नौ नौ वाणशराष्टतः ॥ २७ ॥
 भुजङ्गविजृम्भितं ममतना ननवासनौ ।
 गष्टेशमुनिभिच्छेदो ह्युपहाराख्यमीदृशम् ॥ २८ ॥
 मननानतानः सो गगौ ग्रहरसो रसात्(१) ।
 नौ सप्तरोदण्डदः स्याच्चण्डवृष्टिप्रघातकं(२) ॥ २९ ॥
 रेफहृद्यगा णणवा स्युर्व्यालजीमूतमुख्यकाः ।
 शेषे वै प्रचिता ज्ञेया गाथाप्रस्तार उच्यते ॥ ३० ॥

इत्याम्भेये महापुराणे समष्टत्तनिरूपणं नाम त्रयस्त्रिंशदधिक-
 त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ चतुस्त्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—000—

प्रस्तारनिरूपणम् ।

अग्निहोत्रेण । हृन्दोऽत्र सिद्धं गाथा स्यात् पादे सर्व्वं गुरो तथा ।
 प्रस्तार आद्यगाथीनः परतुल्योऽथ पूर्व्वं गः ॥ १ ॥

१ अक्षवसो वसादिति ग० ।

२ चण्डवृष्टिप्रघातक इति ड० ।

नष्टमध्ये समेऽह्नि नः समेऽर्धे विषमे गुरुः ।

प्रतिलोमगुणं नाद्यं द्विरुद्दिष्टं एकनुत् ॥ २ ॥

सङ्ख्याद्विरर्धे रूपे तु शून्यं शून्ये द्विरौरितं ।

तावदर्धे तद्गुणितं द्विद्वूनश्च तदस्ततः ॥ ३ ॥

परे पूर्णं परे पूर्णं मेरुप्रस्तारतो भवेत् ।

नगसंख्या वृत्तसंख्या चाध्वाङ्गुलमधीर्धतः ।

सङ्ख्यैव द्विगुणैकोना छन्दःसारोऽयमीरितः ॥ ४ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे प्रस्तारनिरूपणं नाम चतुस्त्रिंशदधिक-
त्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चत्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

—000—

शिक्षानिरूपणम् ।

अग्निरुवाच । वक्षे शिक्षान्निषष्टिः स्युर्वर्णा वा चतुराधिकाः ।

स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ॥ १ ॥

यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च समाः स्मृताः ।

अनुस्वारो विसर्गश्च पौख्यौ चापि परान्वितौ ॥ २ ॥

दुष्पृष्टश्चेति विज्ञेया लृकारः भ्रुत एव च ।

रङ्गश्च खे अरं प्रोक्तं (१) हकारः पञ्चमैर्युतः ॥ ३ ॥

अन्तस्थाभिः समायुक्त श्रीरस्यः कण्ठ्य एव सः ।

आत्मबुद्ध्या समस्यार्थं मनोयुक्ते विवक्षया ॥ ४ ॥

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।

१ वर्गमुखे अरं प्रोक्तमिति ख० ।

मारुतस्तूरसि चरन् मन्त्रं(१) जनयति स्वरं ॥ ५ ॥
 प्रातःसवनयोगस्तु छन्दो गायत्रमाश्रितम् ।
 कण्ठे माध्यन्दिनयुतं मध्यमन्त्रेषु भागुगम् ॥ ६ ॥
 तारन्तार्त्तीयसवनं(२) शीघ्रं जागतानुगम् ।
 सोदीर्घो मूर्ध्निभिहितो वक्रमापद्य मारुतः ॥ ७ ॥
 वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ।
 स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नार्थप्रदानतः ॥ ८ ॥
 अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
 जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकीष्ठी च तालु च ॥ ९ ॥
 स्वभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
 जिह्वामूलमुपधा च गतिरष्टविधीक्षणः ॥ १० ॥
 पद्यो भावप्रसन्धानसुकारादि परम्पदं ।
 स्वरान्तं तादृशं विद्याद्यदन्यद्वाक्त्वमूक्षणः ॥ ११ ॥
 जतीर्थादागतं(३) दग्धमपवर्णं च भक्षितं ।
 एवमुच्चारणं पापमेवमुच्चारणं शुभम् ॥ १२ ॥
 अतीर्थादागतं द्रव्यं साम्नायं सुव्यवस्थितं ।
 सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्मराजनि ॥ १३ ॥
 न करालो न लम्बीष्ठी नाव्यक्तो नानुनासिकः ।
 गद्गदो बहुजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥
 एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।

१ माचमिति ख० ।

२ भावन्तात्तीयसवनमिति ख० ।

३ जतीर्थादागतमिति ड० । अतीर्थादागतमिति ख० ।

सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥ १५ ॥
 उदात्तषानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ।
 ऋसो दीर्घः द्रुत इति कालतो नियमावधि ॥ १६ ॥
 कण्ठगा वहाविचयशास्तालव्या ओष्ठजा वुपु ।
 स्युर्मूर्धन्या ऋडुरसाः(१)दन्याः लृओलसाः स्मृताः ॥ १७ ॥
 जिह्वामूले तु ह्रः प्रोक्तो दन्त्योष्ठो वः स्मृतो बुधैः ।
 एदैतो कण्ठतालव्यौ ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥ १८ ॥
 अर्धमात्रा तु कण्ठस्य एकारैकारयोर्भवेत् ।
 अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥ १९ ॥
 अचोऽस्यृष्टापणस्वीषन्नोमाः स्यृष्टा हलः स्मृताः ।
 शेषाः स्यृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधाच्च प्रधानतः ॥ २० ॥
 अमोऽनुनासिकानक्री नादिमौ ह्रसषः स्मृताः ।
 ईषन्नादीपणयशः श्वासिनश्च थकादयः ।
 ईषच्छासं स्वरं विद्याद्दीर्घमेतत् प्रचक्षते ॥ २१ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे शिखानिरूपणं नाम पञ्चत्रिंशदधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षट्त्रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ००० —

काव्यादिलक्षणम् ।

अग्नि रुवाच । काव्यस्य नाटकादेश्च अलङ्कारान् वदाम्यऽथ ।

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतं ॥ १ ॥

शास्त्रेतिहासवाक्यानां त्रयं यत्र समाप्यते ।

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ॥ २ ॥

अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा ॥ ३ ॥

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।

व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ॥ ४ ॥

सर्वं शास्त्रमधिद्विगम्यमाणन्न सिध्यति ।

आदिवर्णा द्वितीयाश्च महाप्राणास्तुरीयकः ॥ ५ ॥

वर्गेषु वर्णवृन्दं स्यात् पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः ।

सङ्घे पादाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदाबली ॥ ६ ॥

काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवहोषवर्जितम् ।

योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमन्नादयोनिजं ॥ ७ ॥

देवादीनां संस्कृतं स्यात् प्राकृतं त्रिविधं नृणां ।

गद्यं पद्यञ्च मिश्रञ्च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम् ॥ ८ ॥

अपदः पदसन्तानो गद्यन्तदपि गद्यते ।

चूर्णकोत्कलिकागन्धिवृत्तभेदात् त्रिरूपकम् ॥ ९ ॥

अल्पाल्पविग्रहं नातिमृदुसन्दर्भनिर्भरं ।

चूर्णकं नामतो दीर्घसमासात् कलिका भवेत् ॥ १० ॥

भवेन्नध्यमसन्दर्भेनातिकुलितविग्रहम् ।

वृत्तच्छायाहरं वृत्तं गन्धिनैतत् किलोत्कटम् ॥ ११ ॥

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।

कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा ॥ १२ ॥

कर्तृवंशप्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तरात् ।

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः ॥ १३ ॥

भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।

उच्छासैश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा ॥ १४ ॥

वक्त्रं वापरवक्त्रं वा यत्र साख्यायिका स्मृता ।

श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति ॥ १५ ॥

मुख्यस्यार्थावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम् ।

परिच्छेदो न यत्र स्याद्भवेद्दालम्भकैः क्वचित् ॥ १६ ॥

सा कथा नाम तद्गर्भं निबध्नीयाच्चतुष्पदीं ।

भवेत् खण्डकथा यासौ यासौ परिकथा तयोः ॥ १७ ॥

अमात्यं सार्थकं वापि द्विजं वा नायकं विदुः ।

स्यात्तयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥ १८ ॥

समाप्यते तयोर्नाद्या सा कथामनुधावति ।

कथाख्यायिकयोर्भिन्नभावात् परिकथा स्मृता ॥ १९ ॥

भयानकं सुखपरं गर्भं च करुणो रसः ।

अद्भुतोऽन्ते सुकृतार्थो नोदात्ता सा कथानिका ॥ २० ॥

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति त्रिधा ।

वृत्तमन्तरसंख्येयमुक्तं तत् कतिशेषजम् ॥ २१ ॥

मात्राभिर्गणना यत्र सा जातिरिति काश्यपः(१) ।
 सममर्धसमं वृत्तं विषमं पैङ्गलं त्रिधा ॥ २२ ॥
 सा विद्या नोस्तितीक्ष्णार्णां गभीरं काव्यसागरं ।
 महाकाव्यं कलापञ्च पर्याबन्धो विशेषकम् ॥ २३ ॥
 कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम् ।
 सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ॥ २४ ॥
 तादात्म्यमजहत्तत्र(२) तत्समं नाति दुष्यति ।
 इतिहासकथोद्भूतमितरहा सदाश्रयं ॥ २५ ॥
 मन्त्रदूतप्रयाणाजिनियतं नातिविस्तरम् ।
 शक्यार्थातिजगत्यातिशक्यार्थां चिष्टुभा(३) तथा ॥ २६ ॥
 पुष्पिताग्रादिभिर्व्यक्ताभिजनैश्चारुभिः समैः ।
 मुक्ता(४) तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंचिप्तसर्गकम् ॥ २७ ॥
 अतिशक्त् रिकाष्टिभ्यामेकसङ्कीर्णकैः परः ।
 मात्रयाप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः ॥ २८ ॥
 कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन्विशेषानादरः सतां ।
 नगरार्णवशैलत्तु चन्द्रार्कान्त्रमपादपैः ॥ २९ ॥
 उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ।
 दूतीवचनविन्यासैरसतीचरिताद्भूतैः ॥ ३० ॥
 तमसा मरुताप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः ।

१ काश्यप इति ज०, अ०, ट० च ।

२ तादर्थ्यमजहत्तत्र इति ज० ।

३ चणुष्टुभेति ज० ।

४ व्यक्तेति अ० ।

सर्व्ववृत्तिप्रवृत्तश्च सर्व्वभावप्रभावितम् ॥ ३१ ॥
 सर्व्वरौतिरसैः पुष्टं(१) पुष्टङ्गुणविभूषणैः ।
 अत एव महाकाव्यं तत्कर्त्ता च महाकविः ॥ ३२ ॥
 वाग्वैदग्ध्यप्रधानेषु रस एवात्र जीवितम् ।
 पृथक्प्रयत्ननिर्व्वर्त्यं वाग्वक्त्रि रसादपुः ॥ ३३ ॥
 चतुर्व्वर्गफलं विद्वद्गव्याख्यातं नायकाख्यया ।
 समानवृत्तिनिर्व्यूटः कौशिकीवृत्तिकीमलः ॥ ३४ ॥
 कलापोऽत्र प्रवासः प्रागनुरागाद्भयो रसः ।
 सविशेषकश्च प्राप्त्यादि संस्कृतेनेतरेण च ॥ ३५ ॥
 श्लोकैरनेकैः कुलकं स्यात् सन्दानितकानि तत् ।
 सुक्तकं श्लोक एकैकसमत्कारक्षमः सत्तां ॥ ३६ ॥
 सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वितः ।
 कोषो ब्रह्मापरिच्छिन्नः स विदग्धाय रोचते ॥ ३७ ॥
 आभासोपमशक्तिश्च सर्गे यद्भिन्नवृत्तता ।
 मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा ।
 अव्यञ्चैवाभिनेयश्च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः ॥ ३८ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे काव्यादिलक्षणं नाम
 षट्त्रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्तत्रिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

— 000 —

नाटकनिरूपणम् ।

अभिनवाच्च । नाटकं सप्रकरणं छिन्न ईहान्तगोऽपि वा ।

ज्ञेयः समवकारश्च भवेत् प्रहसनन्तथा ॥ १ ॥

व्यायोगभाणवीथ्यङ्कचोटकान्यथ नाटिका ।

सट्टकं शिल्पकः कर्णा एको दुर्भङ्गिका तथा ॥ २ ॥

प्रस्थानं भाणिका भाणौ गोष्ठी हल्लीशकानि च ।

काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा ॥ ३ ॥

उल्लाप्यकं प्रेङ्क्षणञ्च सप्तविंशतिरेव तत् ।

सामान्यञ्च विशेषञ्च लक्षणस्य द्वयी गतिः ॥ ४ ॥

सामान्यं सर्वविषयं शेषः कापि प्रवर्त्तते ।

पूर्वरङ्गे निवृत्ते ह्यौ देशकालावुभावपि ॥ ५ ॥

रसभावविभावानुभावा अभिनयास्तथा ।

अङ्कः स्थितिश्च सामान्यं सर्वत्रैवोपसर्पणात् ॥ ६ ॥

विशेषोऽवसरे वाच्यः सामान्यं पूर्वमुच्यते ।

द्विवर्गसाधनन्नाट्यमित्याहुः कारणञ्च यत् ॥ ७ ॥

इतिकर्त्तव्यता तस्य पूर्वरङ्गो यथाविधि ।

नान्दीमुखानि हास्यत्रिंशदङ्गानि पूर्वरङ्गके ॥ ८ ॥

देवतानां नमस्कारो गुरुणामपि च स्तुतिः ।

गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादादि गीयते ॥ ९ ॥

नान्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते ।

गुरुपूर्वक्रमं वंशप्रशंसा पौरुषं कवेः ॥ १० ॥

सम्बन्धार्थौ च काव्यस्य पञ्चैतानेष निर्द्दिशेत् ।
 नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ॥ ११ ॥
 सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वन्ते ।
 चित्रैर्लोक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताच्चेपिभिर्मिथः ॥ १२ ॥
 आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा ।
 प्रहत्तकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ॥ १३ ॥
 आमुखस्य त्रयो भेदा वीजांशेषूपजायते ।
 कालं प्रहत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ॥ १४ ॥
 तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रहत्तकं ।
 सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ॥ १५ ॥
 गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स उच्यते ।
 प्रयोगेषु प्रयोगन्तु सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ॥ १६ ॥
 ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ।
 शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥
 सिद्धमुत्प्रेक्षितश्चेति तस्य भेदाबुभौ स्मृतौ ।
 सिद्धमागमदृष्टश्च दृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः ॥ १८ ॥
 वीजं विन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
 अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात् ॥ १९ ॥
 प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सङ्गाव एव च ।
 नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ २० ॥
 मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्षश्च तथैव च ।
 तथा निर्व्वहणश्चेति क्रमात् पञ्चैव सन्धयः ॥ २१ ॥
 अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत् प्रसर्पति ।

फलावसानं यच्चैव वीजं तदभिधीयते ॥ २२ ॥
 यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नानार्धरससम्भवा ।
 काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितं ॥ २३ ॥
 द्रष्टव्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपचयः ।
 रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानाञ्चैव गूहनम् ॥ २४ ॥
 आश्चर्य्यवदभिख्यातं प्रकाशानां प्रकाशनम् ।
 अङ्गहीनं नरो यद्वन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च ॥ २५ ॥
 देशकालौ विना किञ्चिन्नेतिवृत्तं प्रवर्त्तते ।
 अतस्तयोरुपादाननियमात् पदमुच्यते ॥ २६ ॥
 देशेषु भारतं वर्षं काले कृतयुगत्रयं ।
 नर्त्तं ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित् ।
 सर्गे सर्गादिवाञ्छां च प्रसज्जन्ती न दुष्यति ॥ २७ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे नाटकनिरूपणं नाम
 सप्तत्रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टत्रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

शृङ्गारादिरसनिरूपणम् ।

अग्निरुवाच । अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुं ।
 वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥ १ ॥
 आनन्दः सहजस्तस्य व्यन्यते स कदाचन ।
 व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाङ्गया ॥ २ ॥

प्राद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः ।
 ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयं ॥ ३ ॥
 अभिमानाद्भ्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
 व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते ॥ ४ ॥
 तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
 स्वस्वस्थादिविशेषोत्थपरिघोषस्वलक्षणाः ॥ ५ ॥
 सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः ।
 रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्त्रैख्यात् प्रजायते ॥ ६ ॥
 वीरोऽवष्टम्भजः सङ्घोचभूर्ध्वीभक्त इष्यते ।
 शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रान्तु कर्णो रसः ॥ ७ ॥
 वीराश्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्दीभक्ताद्भयानकः ।
 शृङ्गारहास्यकर्णया रौद्रवीरभयानकाः ॥ ८ ॥
 वीभक्ताद्भुतशान्तास्थाः स्वभावाच्चतुरी रसाः ।
 लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥ ९ ॥
 अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
 यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥ १० ॥
 शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
 स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥ ११ ॥
 न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
 भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ॥ १२ ॥
 स्थायिनोऽष्टौ रतिसुखाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिणः ।
 मनोऽनुकूलोऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते ॥ १३ ॥
 हर्षादिभिश्च मनसो विकाशी हास उच्यते ।

चित्रादिदर्शनाच्चेतोवैक्लव्यं भ्रुवते भयम् ॥ १४ ॥
 जुगुप्सा च पदार्थानां निम्दा दौर्भाग्यवाहिनां ।
 विस्मयोऽतिशयेनार्थदर्शनाच्चित्तविस्तृतिः ॥ १५ ॥
 अष्टौ स्तम्भादयः सत्त्वाद्रजसस्तमसः परम् ।
 स्तम्भश्रेष्ठाप्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः (१) ॥ १६ ॥
 अमरागाद्युपेतान्तःक्षीभजन्म वपुर्जलं ।
 खेदो हर्षादिभिर्हृद्योच्छासोऽन्तःपुलकोद्गमः ॥ १७ ॥
 हर्षादिजन्मवाक्सङ्गः स्वरभेदो भयादिभिः ।
 मनोवैक्लव्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः ॥ १८ ॥
 क्रोधस्तैक्ष्णप्रबोधश्च प्रतिकूलानुकारिणि ।
 पुरुषार्थसमाप्तप्रार्थी यः स उत्साह उच्यते ॥ १९ ॥
 चित्तक्षीभभवोत्तम्भो वेपथुः परिकीर्तितः ।
 वैवर्ण्यञ्च विषादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः ॥ २० ॥
 दुःखानन्दादिजन्नेत्रजलमश्रु च विश्रुतम् ।
 इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयो लङ्घनादिभिः ॥ २१ ॥
 वैराग्यादिर्भ्रमः खेदो निर्वेद इति कथ्यते ।
 मनःपीडादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा ॥ २२ ॥
 शङ्कानिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः ।
 मदिराद्युपयोगोत्थं मनःसंमोहनं मदः ॥ २३ ॥
 क्रियातिशयजन्मान्तःशरीरोत्थक्लमः अमः ।
 शृङ्गारादिक्रियाहेषश्चित्तस्यालस्यमुच्यते ॥ २४ ॥

दैन्यं सत्त्वादपन्नं शश्विन्तार्थपरिभावनं ।
 इतिकर्तव्यतोपायादर्शनं मोह उच्यते ॥ २५ ॥
 स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनं ।
 मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः ॥ २६ ॥
 व्रीडानुरागादिभवः सङ्कोचः कोपि चेतसः ।
 भवेच्चपलताऽस्यैर्यं हर्षचित्तप्रसन्नता ॥ २७ ॥
 आवेशश्च प्रतीकारः शयो वैधुर्यमात्मनः ।
 कर्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जडतेत्यभिधीयते ॥ २८ ॥
 इष्टप्राप्तेरूपचितः सम्पदाभ्युदयो धृतिः ।
 गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना ॥ २९ ॥
 भवेद्विषादो देवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनि ।
 औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः ३० ॥
 चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारोऽचला स्थितिः ।
 युद्धे बाधादिभीष्मासौ वीप्सा चित्तचमत्कृतिः ॥ ३१ ॥
 क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः प्रबोधश्चेतनोदयः ।
 अवहित्यं भवेद्गुप्तिरिङ्किताकारगोचरा ॥ ३२ ॥
 रोषतो गुरुवाग्दण्डपारुष्यं विदुरुग्रतां ।
 जहो वितर्कः स्याद्द्वयाधिर्मनोवपुरवग्रहः ॥ ३३ ॥
 अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः ।
 तत्त्वज्ञानादिना चेतःकषायो परमः शमः ॥ ३४ ॥
 कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः ।
 विभाव्यते हि रत्यादियं च येन विभाव्यते ॥ ३५ ॥
 विभावो नाम स द्वेषालम्बनोद्दीपनात्मकः ।

रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ॥ ३६ ॥
 आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा ।
 धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तथा ॥ ३७ ॥
 धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः ।
 अनुकूलो दक्षिणश्च शठो घृष्टः प्रवर्त्तितः ॥ ३८ ॥
 पीठमर्द्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः ।
 शृङ्गारे नर्म्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः ॥ ३९ ॥
 पीठमर्द्दः सम्बलकः श्रीमांस्तद्देशजो विटः ।
 विदूषको वैहसिकस्त्वष्टनायकनायिकाः ॥ ४० ॥
 स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकाः ।
 सामान्या न पुनर्भूरिरित्याद्या बहुभेदतः ॥ ४१ ॥
 उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैर्विविधैः स्थितैः ।
 आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ति ये ॥ ४२ ॥
 चतुःषष्टिकला द्वेषा कर्म्मार्थैर्गीतिकादिभिः ।
 कुहकं स्मृतिरप्येषां प्रायोऽहासोपहारकः ॥ ४३ ॥
 आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः ।
 मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छादेषयत्नतः ॥ ४४ ॥
 आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः ।
 स चानुभूयते चात्र भवत्युत निरुच्यते ॥ ४५ ॥
 मनोव्यापारभूयिष्ठो मन आरम्भ उच्यते ।
 द्विविधः पौरुषस्त्रैण ईदृशोऽपि प्रसिध्यति ॥ ४६ ॥
 शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
 ललितञ्च तथौदार्यन्तेजोऽष्टाविति पौरुषाः ॥ ४७ ॥

नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्यं दाक्षादिकारणं ।
 मनोधर्मो भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा ॥ ४८ ॥
 भावो हावश्च हेला च शोभा कान्तिस्तथैव च ।
 दीप्तिर्भाधुर्यशौर्यं च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥ ४९ ॥
 स्वैर्यं गम्भीरता स्त्रीणां विभावा हादशेरिताः ।
 भावो विलासो हावः स्वाङ्गावः किञ्चिच्च हर्षजः ॥ ५० ॥
 वाचो युक्तिर्भवेद्भागारम्भो हादश्च एव सः ।
 तत्राभाषणमालापः प्रलापो वचनं बहु(१) ॥ ५१ ॥
 विलापो दुःखवचनमगुलापोऽसन्नहसः ।
 संलाप उक्तप्रत्युक्तमपलापोऽन्यथावचः ॥ ५२ ॥
 वार्त्ताप्रयाणं सन्देशो निर्देशः प्रतिपादनम् ।
 तत्त्वदेशोऽतिदेशोऽयमपदेशोऽन्यवर्णनम् ॥ ५३ ॥
 उपदेशश्च शिखावाक् व्याजोक्तिर्व्यपदेशकः ।
 बोधाय एष व्यापारः सुबुद्धारम्भ इष्यते ।
 तस्य भेदास्त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ॥ ५४ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे ऋङ्गारादिरसनिरूपणं
 नामाष्टत्रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथोनचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ०००७००० —

रीतिनिरूपणं ।

अग्निस्वाच । वाग्बिद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा ।

पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ॥ १ ॥

उपचारयुता सृष्टी पाञ्चाली ऋग्विग्रहा ।

अनवस्थितसन्दर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा ॥ २ ॥

उपचारैर्बहुभिरुपचारैर्विवर्जिता ।

नातिकोमलसन्दर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा ॥ ३ ॥

लाटीया स्फुटसन्दर्भा नातिविस्फुरविग्रहा ।

परित्यक्तापि भूयोभिरुपचारैरुदाहृता ॥ ४ ॥

क्रियास्वविषमा वृत्तिर्भारत्यारभटी तथा ।

कौशिकी सात्वती चेति सा चतुर्धा प्रतिष्ठिता ॥ ५ ॥

वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राक्ततीक्ष्णता ।

भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते ॥ ६ ॥

चत्वार्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनन्तथा ।

प्रस्तावना नाटकादेर्वीथ्यङ्गाश्च त्रयोदश ॥ ७ ॥

उच्चातकं तथैव स्यात्प्रपितं स्याद्वितीयकम् ।

असत्प्रलापो वाक्त्रयी(१) नालिका विषयन्तथा ॥ ८ ॥

व्याहारस्त्रिमतश्चैव(२) छलावस्कन्दिते तथा ।

१ वाक्त्रयीति क०, अ०, ट० च ।

२ व्याहारस्त्रिमतश्चैवेति ख० ।

गण्डोऽथ सृदवस्यैव त्रयोदशमथाशितम् ॥ ९ ॥

तापसादेः प्रहसनं परिहासपरं वचः

मायेन्द्रजालयुद्धादिबहुलारभटी स्रुता ।

सङ्क्षिप्तकारपातौ च(१) वस्तूत्थापनमेव च ॥ १० ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे दौतिनिरूपणं नामो-
नचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ चत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणं ।

अग्निरुवाच । चेष्टाविशेषमप्यङ्गप्रत्यङ्गे कर्म चानयोः ।

शरीरारम्भमिच्छन्ति प्रायः पूर्वोऽवलाश्रयः ॥ १ ॥

लीला विलासो विद्वित्तिर्विभ्रमं किलकिञ्चितं ।

मोहायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितन्तथा ॥ २ ॥

विकृतं क्रीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः ।

लीलेष्टजनचेष्टानुकरणं संवृतक्षये ॥ ३ ॥

विशेषान् दर्शयन् किञ्चिद्विलासः सद्भिरिष्यते ।

हसितक्रन्दितादीनां सङ्करः किलकिञ्चितं ॥४॥

विकारः कोपि विव्वोको ललितं सौकुमार्यतः ।

शिरः पाणिरुरः पार्श्वं हृदिरङ्घ्रिरिति क्रमात् ॥ ५ ॥

अङ्गानि भ्रूलतादीनि प्रत्यङ्गान्यभिजानते ।

१ सङ्क्षिप्तकरपातौ चेति ज० ।

अङ्गप्रत्यङ्गयोः कर्म प्रयत्नजनितं विना ॥ ६ ॥
 न प्रयोगः क्वचिन्मुख्यन्तिरञ्चीनञ्च तत् क्वचित् ।
 आकम्पितं कम्पितञ्च(१) धूतं विधूतमेव च ॥ ७ ॥
 परिवाहितमाधूतमवधूतमथाचितं ।
 निकुञ्चितं परावृत्तमुत् क्षिप्तञ्चाप्यधीगतम् ॥ ८ ॥
 ललितञ्चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ।
 भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातनं भ्रूकुटीमुखं ॥ ९ ॥
 दृष्टिस्त्रिधा रसस्था यिसञ्चारिप्रतिबन्धना ।
 षट्त्रिंशद्भेदविधुरा रसजा तत्र चाष्टधा ॥ १० ॥
 नवधा तारकाकर्म भ्रमणञ्चलनादिकं ।
 षोढा च नासिका ज्ञेया निश्वासी नवधा मतः ॥ ११ ॥
 षोटीष्ठकर्मकं पापं सप्तधा चिबुकक्रिया ।
 कलुषादिमुखं षोढा शीवा नवविधा स्मृता ॥ १२ ॥
 असंयुतः संयुतश्च भ्रून्ना हस्तः प्रमुच्यते ।
 पताकस्त्रिपाताकश्च तथा वै कर्त्तरीमुखः ॥ १३ ॥
 अर्द्धचन्द्रोत्करालश्च शुकतुण्डस्तथैव च ।
 मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः खेटकामुखः ॥ १४ ॥
 सूच्यास्यः पद्मकोषी हि शिराः समृगशीर्षकाः ।
 कामूलकालपद्मौ(२)* च चतुरभ्रमरौ तथा ॥ १५ ॥
 हंसास्यहंसपद्मौ च सन्दंशमुकुलौ तथा ।

१ आकम्पितं क्वचित् इति ख० ।

२ काङ्गूलकालपद्मविति ख० ।

* कामूलकालपद्मौ काङ्गूलकालपद्मौ एतत्पाठद्वयं न समीचीनं ।

उर्णनाभस्ताम्रचूडसतुर्भिर्शतिरित्यमी ॥ १६ ॥
 असंयुतकराः प्रोक्ताः संयुतास्तु त्रयोदश ।
 अञ्जलिषु कपोतसु कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥ १७ ॥
 कटको वर्द्धमानसाप्यसङ्गो निषधस्तथा ।
 दौलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च ॥ १८ ॥
 गजदन्तो वह्निस्तम्भो वर्द्धमानोऽपरे कराः ।
 सरः पञ्चविधं स्यात्तु आभुग्न्नर्त्तनादिकम् ॥ १९ ॥
 उदरन्दुरतिक्षामं खण्डं पूर्णमिति त्रिधा ।
 पार्श्वयोः पञ्चकर्माणि जङ्घाकर्म्म च पञ्चधा ।
 अनेकधा पादकर्म्म नृत्यादौ नाटके स्मृतम् ॥ २० ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे नृत्यादावङ्गकर्म्मनिरूपणं नाम
 चत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथैकचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

अभिनयादिनिरूपणं ।

अग्निर्वाच । आभिसुख्यन्नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः ।
 चतुर्धा सम्भवः सत्त्ववागङ्गाहरणान्नयः ॥ १ ॥
 स्तम्भादिः सात्त्विको वागारम्भो वाचिक आङ्गिकः ।
 शरीरारम्भ आहार्यो बुद्धारम्भप्रवृत्तयः ॥ २ ॥
 रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यभिमानतः ।
 तमन्तरेण सर्व्वे वामपार्थैव स्वतन्त्रता ॥ ३ ॥
 सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः ।

प्रच्छन्नस्य प्रकाशस्य तावपि द्विविधौ पुनः ॥ ४ ॥
 विप्रलम्भाभिधानो यः शृङ्गारः स चतुर्विधः ।
 पूर्वानुरागमानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः ॥ ५ ॥
 एतेभ्योऽन्यतरं जायमानसम्भोगलक्षणम् ।
 विवर्त्तते चतुर्ध्वं न च प्रागतिवर्त्तते ॥ ६ ॥
 स्त्रीपुंसयोस्तदुदयस्तस्य निर्विर्त्तिका रतिः ।
 निखिलाः सात्त्विकास्तत्र वैवर्ण्यप्रलयौ विना ॥ ७ ॥
 धर्म्मार्थकाममोक्षेषु शृङ्गार उपचीयते ।
 आलम्बनविशेषेषु तद्विशेषैर्निरन्तरः ॥ ८ ॥
 शृङ्गारं द्विविधं विद्याद्वाङ्मन्यपथक्रियात्मकम् ।
 हासस्य तुर्विधोऽलक्ष्यदन्तः स्मित इतीरितः ॥ ९ ॥
 किञ्चिन्नचित्तदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम् ।
 विहसितं सन्ननं स्याज्जिह्वोपहसितन्तु तत् ॥ १० ॥
 सशब्दं पापहसितमशब्दमतिहासितं ।
 यथासौ करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत् ॥ ११ ॥
 धर्म्मापघातजश्चित्तविलासजनितस्तथा ।
 शोकः शोकाद्भवेत् स्थायी कः स्थायी पूर्वजो मतः ॥ १२ ॥
 अङ्गनेपथ्यवाक्येषु रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः ।
 तस्य निर्वर्त्तकः क्रोधः खिदो रोमाञ्चवपथुः ॥ १३ ॥
 दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रयम् ।
 वीरस्तस्य च निष्पत्तिहेतुरुत्साह इत्यते ॥ १४ ॥
 आरम्भेषु भवेद्यत्र वीरमेवानुवर्त्तते ।

भयानको नाम रसस्तस्य निर्वर्तकं भयं ॥ १५ ॥
 उद्देजनः क्षोभणश्च वीभक्षो द्विविधः स्मृतः ।
 उद्देजनः स्यात् प्रुत्याद्यैः क्षोभणो रुधिरादिभिः ॥ १६ ॥
 जुगुप्सारम्भिका तस्य सात्त्विकांशो निवर्त्तते ।
 काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ॥ १७ ॥
 अलङ्कारिणावस्ते च शब्दमर्थमुभौ विधा ।
 ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुं मिह क्षमाः ॥ १८ ॥
 शब्दालङ्कारमाहुस्तान् काव्यमीमांसका विदः ।
 ह्याया मुद्रा तद्योक्तिश्च युक्तिगुम्फनया सह ॥ १९ ॥
 वाकीवाक्यमनुप्रासश्चित् दुष्करमेव च ।
 ज्ञेया नवालङ्कृतयः शब्दानामित्यसङ्करात् ॥ २० ॥
 तत्रान्योक्तेरनुकृतिश्छाया सापि चतुर्विधा ।
 लोकच्छेकार्भकोक्तीनामेकोक्तेरनुकारतः ॥ २१ ॥
 आभाणकोक्तिर्लोकोक्तिः सर्वसामान्य एव ताः ।
 यानुधावति लोकोक्तिश्छायामिच्छन्ति तां बुधाः ॥ २२ ॥
 छेका विदग्धा वैदग्धा कलासु कुशला मतिः ।
 तामुल्लिखन्ती छेकोक्तिश्छाया कविभिरिष्यते ॥ २३ ॥
 अव्युत्पन्नोक्तिरखिलैरर्भकोक्त्योपलक्ष्यते ।
 तेनार्भकोक्तिश्छाया तन्मात्रीक्तिमनुकुर्वती ॥ २४ ॥
 विष्णुताच्चरमञ्जूलं वची मत्तस्य तादृशी ।
 या सा भवति मत्तोक्तिश्छायोक्ताप्यतिशोभते ॥ २५ ॥
 अभिप्रायविशेषेण कविशक्तिं विवृण्वती ।

मुत्प्रदायिनीति सा मुद्रा सैव शय्यापि नो मति ॥ २६ ॥

उक्तिः सा कथ्यते यस्यामर्थकोऽप्युपपत्तिमान् ।

लोकयात्रार्थविधिना धिनोति हृदयं सतां ॥ २७ ॥

उभौ विधिनिषेधौ च नियमानियमावपि ।

विकल्पपरिसङ्ख्ये च तदीयाः षड्थोक्तयः ॥ २८ ॥

अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः ।

योजनायै कल्पमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः ॥ २९ ॥

पदञ्चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थमेव च ।

विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रपञ्चयेति षड्विधः ॥ ३० ॥

गुम्फना रचनाचर्या शब्दार्थक्रमगीचरा ।

शब्दानुकारादर्थानुपूर्वार्थेयं क्रमात्त्रिधा ॥ ३१ ॥

उक्तिप्रत्युक्तिमहाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत् ।

ऋजुवक्रोक्तिभेदेन तत्राद्यं सहजं वचः ॥ ३२ ॥

सा पूर्वप्रश्निका प्रश्नपूर्विकेति द्विधा भवेत् ।

वक्रोक्तिस्तु भवेद्द्वया काकुस्तेन कृता द्विधा ॥ ३३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे अभिनयादिनिरूपणं नामैक-

चत्वारिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ।

अथ द्विचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

शब्दालङ्काराः ।

अग्निर्वाच । स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः ।

एकवर्णाऽनेकवर्णावृत्तेर्वर्णगुणो द्विधा ॥ १ ॥

एकवर्णगतावृत्तेर्जायन्ते पञ्च वृत्तयः ।

मधुरा ललिता प्रौटा भद्रा परुषया सह ॥ २ ॥

मधुरायाश्च वर्गान्तादधो वर्ग्या रणौ स्वनौ (१) ।

ऋस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः ॥ ३ ॥

न कार्या वर्ग्यवर्णानामावृत्तिः पञ्चमाधिका ।

महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ (२) ॥ ४ ॥

ललिता बलभूयिष्ठा (३) प्रौटा या पणवर्गजा ।

जङ्घं रेफेण युज्यन्ते नटवर्गो नपञ्चमाः ॥ ५ ॥

भद्रायां परिशिष्टाः स्युः परुषा साऽभिधीयते ।

भवन्ति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्तत्तदक्षरैः ॥ ६ ॥

अकारवर्जमावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी ।

अनुस्वारविसर्गौ च पारुष्याय निरन्तरौ ॥ ७ ॥

शषसा रेफसंयुक्ताश्चाकारश्चापि भूयसा ।

१ रश्मी घनाविति ज० ।

२ महाप्राणोष्मसंयोगाद्वियुक्तलघूत्तराविति ट० ।

३ ललिता बलभूयिष्ठेति ख० । ललिता बलभूयिष्ठेति ट० ।

अन्तस्थाभिन्नमाभ्याश्च हः पारुष्याय संयुतः ॥ ८ ॥
 अन्यथापि गुरुवर्णः संयुक्ते परिपन्थिनि ।
 पारुष्यायादिमांस्तत्र पूजिता न तु पञ्चमी ॥ ९ ॥
 क्षेपे शब्दानुकारे च परुषापि प्रयुज्यते ।
 कर्णाटी कौन्तली कौन्ती कौङ्कणी वामनासिका(१) ॥१०॥
 द्रावणी माधवी पञ्चवर्णान्तस्थोऽभिः क्रमात् ।
 अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ॥ ११ ॥
 यमकं साव्यपेतञ्च व्यपेतञ्चेति तद्विधा ।
 आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः ॥ १२ ॥
 द्वैविधेनानयोः स्थानपादभेदाच्चतुर्विधम् ।
 आदिपादादिमध्यान्तष्वेकद्वित्रिनियोगतः ॥ १३ ॥
 सप्तधा सप्तपूर्वेण (२) चेत् पादेनोत्तरोत्तरः ।
 एकद्वित्रिपदारभस्तुल्यः षोढा तदापरं ॥ १४ ॥
 तृतीयं त्रिविधं पादस्यादिमध्यान्तगोचरम् ।
 पादान्तयमकञ्चैव काञ्चीयमकमेव च ॥ १५ ॥
 संसर्गयमकञ्चैव(३) विक्रान्तयमकन्तथा ।
 पादादियमकञ्चैव तथान्नेडितमेव च ॥ १६ ॥
 चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च ।
 दशधा यमकं श्रेष्ठं तद्भेदा बहवोऽपरे ॥ १७ ॥
 स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्त्तना द्विधा ।

१ बालवासिकेति ख०, ट० च । वनवासिकेति ज० ।

२ पूर्वपूर्वेति ज०, ज०, ट० च ।

३ सन्धयमकञ्चैवेति ख० ।

भिन्नप्रयोजनपदस्यावृत्तिं मनुजा विदुः ॥ १८ ॥
 हयोरवृत्तपदयोः समस्ता स्यात्समासतः ।
 असमासात्तयोर्व्यस्ता पादे त्वेकत्र विश्रहात् ॥ १९ ॥
 वाक्यस्यावृत्तिरप्येवं यथासम्भवमिष्यते ।
 अलङ्काराद्यनुप्रासो लघुमध्येवमर्हणात् (१) * ॥ २० ॥
 यथा कयाचिद्वृत्त्या यत् समानमनुभूयते ।
 तद्रुपादिपदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ २१ ॥
 गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते ।
 प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतदत्ते तथोभयम् ॥ २२ ॥
 समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः ।
 यत्र प्रदीयते तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरं ॥ २३ ॥
 स प्रश्नः स्यादेकपृष्ठद्विपृष्टीत्तरभेदतः ।
 द्विधैकपृष्ठो द्विविधः समस्तो व्यस्त एव च ॥ २४ ॥
 हयोरप्यर्थयोगुं ह्यमानशब्दा प्रहेलिका ।
 सा द्विधार्थी च शाब्दी च तत्रार्थी चार्थबोधतः ॥ २५ ॥
 शब्दावबोधतः शाब्दी प्राहुः षोढा प्रहेलिकां ।
 यस्मिन् गुप्तेऽपि वाक्याङ्गे भाव्यर्थोऽपारमार्थिकः ॥ २६ ॥
 तदङ्गविहिताकाङ्क्षस्तद्गुप्तं गूढमप्यदः ।
 यत्रार्थान्तरनिर्भासो वाक्याङ्गच्यवनादिभिः ॥ २७ ॥
 तदङ्गविहिताकाङ्क्षस्तच्चतुं स्याच्चतुर्विधम् ।

१ लघुमध्येवमर्हणादिति ट० । लघुमध्येव वर्हणादिति ज० ।

* लघुमध्येवमर्हणात्, लघुमध्येवमर्हणात्, लघुमध्येव वर्हणात् एतत् पाठवर्थं न सम्यक् प्रतिभाति ।

स्वरव्यञ्जनविन्दूनां विसर्गस्य च विच्युतेः ॥ २८ ॥
 दत्तेपि यत्र वाक्याङ्गे द्वितीयोर्थः प्रतीयते ।
 दत्तन्तदाहुस्तद्भेदाः स्वरार्थैः पूर्ववन्मताः ॥ २९ ॥
 अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च ।
 भासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते ॥ ३० ॥
 सुस्निष्टपद्यमेकं यन्नानाश्लोकांगनिर्भितम् ।
 सा ममस्या परस्यात्मपरयोः कृतिसङ्करात् ॥ ३१ ॥
 दुःखेन कृतमत्यर्थं कविसामर्थ्यसूचकम् ।
 दुष्करं नीरसत्वेपि विदग्धानां महीत्सवः ॥ ३२ ॥
 नियमाच्च विदर्भाच्च बन्धाच्च भवति त्रिधा ।
 कवेः प्रतिज्ञा निर्माणाश्चरम्यस्य नियमः स्मृतः ॥ ३३ ॥
 स्थानेनापि स्वरेणापि व्यञ्जनेनापि स त्रिधा ।
 विकल्पः प्रातिलोभ्यानुलोभ्यादेवाभिधीयते ॥ ३४ ॥
 प्रातिलोभ्यानुलोभ्यश्च शब्देनार्थेन जायते ।
 अनेकधावृत्तवर्षविन्यासैः शिल्पकल्पना ॥ ३५ ॥
 तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते ।
 गोमूत्रिकाईश्वरमण्ये सर्व्वतोभद्रमम्बुजम् ॥ ३६ ॥
 चक्रश्चक्राक्षकं दण्डी सुरजाद्येति चाष्टधा ।
 प्रत्यर्थं प्रतिपादं स्यादेकान्तरसमाक्षरा ॥ ३७ ॥
 द्विधा गोमूत्रिकां पूर्व्वामाहुश्चपदां परे ।
 अन्याङ्गीमूत्रिकां धेनुं जालबन्धं(१) वदन्ति हि ॥ ३८ ॥
 अर्द्धाभ्यामर्धपादैश्च कुर्याद्विन्यासमेतयोः ।

१ जानुबन्धमिति क०, ख० च ।

न्यस्तानामिह वर्णानामधोधः क्रमभागिनां ॥ ३८ ॥
 अधोधःस्थितवर्णानां यावत्तूर्य्यपदन्नयेत् ।
 तूर्य्यपादान्नयेदूर्ध्वं पादार्षं प्रातिलोम्यतः ॥ ४० ॥
 तदेव सर्व्वतोभद्रं त्रिविधं सरसीरुहं ।
 चतुष्पत्रं ततो विघ्नं चतुष्पत्रे उभे अपि ॥ ४१ ॥
 अथ प्रथमपादस्य मूर्ध्वन्यस्त्रिपदाक्षरं ।
 सर्व्वेषामेव पादानामन्ते तदुपजायते ॥ ४२ ॥
 प्राक्पदस्यान्तिमं प्रत्यक् पादादौ प्रातिलोम्यतः ।
 अन्धपादान्तिमञ्चाद्यपादादावक्षरद्वयं ॥ ४३ ॥
 चतुष्कृदे भवेदष्टच्छदे वर्णत्रयं पुनः ।
 स्यात् षोडशच्छदे त्वेकान्तरक्षेदेकमक्षरं ॥ ४४ ॥
 कर्णिकां तोलयेदूर्ध्वं पत्राकाराक्षरावलिं ।
 प्रवेशयेत् कर्णिकायाञ्चतुष्पत्रसरोरुहे ॥ ४५ ॥
 कर्णिकायां लिखेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
 प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टच्छदेऽम्बुजे ॥ ४६ ॥
 विश्वम्बिषमवर्णानां तावत् पत्रावलीजुषां ।
 मध्ये समाक्षरन्यासः सरोजे षोडशच्छदे ॥ ४७ ॥
 द्विधा चक्रं चतुररं षडरन्तत्र चादिमं ।
 पूर्वाद्धं सदृशा वर्णाः पादप्रथमपञ्चमाः ४८ ॥
 अयुजोऽश्वयुजश्चैव तुर्यावप्यष्टमावपि ॥ ।
 तस्योपपादप्राक्प्रत्यगरेषु च यथाक्रमं ॥ ४९ ॥
 स्यात्पादार्षचतुष्कन्तु नाभौ तस्याद्यमक्षरं ।
 पश्चिमारावधि नयेन्नेमौ शेषे पदद्वयी ॥ ५० ॥

तृतीयं तुर्यपादान्ते प्रथमो सदृशावुभौ ।
 वर्णौ पादत्रयस्यापि दशमः सदृशो यदि ॥ ५१ ॥
 प्रथमे चरमे तस्य षड्वर्णाः पश्चिमे यदि ।
 भवन्ति ह्यन्तरं तर्हि वृहच्च क्रमुदाहृतं ॥ ५२ ॥
 सम्मुखारद्वये पादमेकैकं क्रमशो लिखेत् ।
 नाभौ तु वर्णं दशमं नेमौ तुर्यपदत्रयेत् ॥ ५३ ॥
 श्लोकस्याद्यन्तदशभाः समा आद्यन्तिमौ युजोः ।
 आदौ वर्णः समौ तुर्यपञ्चमावाद्यतूर्ययोः ॥ ५४ ॥
 द्वितीयप्रातिलोभ्येन तृतीयं जायते यदि ।
 पदं विदध्यात् पत्रस्य दण्डश्चक्राजकं कृतेः ॥ ५५ ॥
 द्वितीयो प्राग्दले तुल्यौ समौ च तथापरौ ।
 सदृशावुत्तरदलौ द्वितीयाभ्यामथार्द्धयोः ॥ ५६ ॥
 द्वितीयषष्ठाः सदृशाश्चतुर्थपञ्चमावपि ।
 आद्यन्तपादयोस्तुल्यौ परार्द्धसममावपि ॥ ५७ ॥
 समौ तुर्यं पञ्चमन्तु क्रमेण विनियोजयेत् ।
 तुर्यौ योज्यौ तु तद्वच्च द्रलान्ताः क्रमपादयोः ॥ ५८ ॥
 अर्द्धयोरन्तिमाद्यौ तु मुरजे सदृशावुभौ ।
 पादार्द्धपतितो वर्णः प्रातिलोभ्यानुलोमतः ॥ ५९ ॥
 अन्तिमं परिवर्ध्नीयाद्यावत्तुर्यमिहादिमत् ।
 पादात्तुर्याद्यदेवाद्यं नवमात् षोडशादपि ॥ ६० ॥
 अक्षरात् पुटके मध्ये मध्ये ऽक्षरचतुष्टयम् ।
 कृत्वा कुर्याद्यथैतस्य मुरजाकारता भवेत् ॥ ६१ ॥
 द्वितीयं चक्रशाटूँलविक्रीडितकसम्पदम् ।

गोमूत्रिका सर्ववृत्तैरन्ये बन्धास्वनुष्टुभा ॥ ६२ ॥
 नामधेयं यदि न चेदमीषु कविकाव्ययोः ।
 मित्रधेयाभितुष्यन्ति नामिन्नः खिद्यते तथा ॥ ६३ ॥
 वाणवाणासनव्योमखड्गमुद्गरशक्तयः ।
 द्विचतुर्थत्रिंशद्गटा दम्भोलिसुषलाङ्गुशाः ॥ ६४ ॥
 पदं रथस्य नागस्य पुष्करिण्यसिपुत्रिका ।
 एते बन्धास्तथा चान्ये एवं क्रियाः स्वयं बुधैः ॥ ६५ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे शब्दालङ्कारनिरूपणं नाम
 द्विचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ००० —

अर्थालङ्काराः ।

अग्निरुवाच । अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ।
 तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥ १ ॥
 अर्थालङ्काररहिता विधवेव(१) सरस्वती ।
 स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि ॥ २ ॥
 विभावना विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा ।
 स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते ॥ ३ ॥
 निजमागन्तुकश्चेति द्विविधं तदुदाहृतम् ।
 सांसिद्धिकं निजं नैमित्तिकमागन्तुकं तथा ॥ ४ ॥

१ विधुरेवेति ख०, ट० च ।

सादृश्यं धर्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा ।
 सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात् चतुर्विधम् ॥ ५ ॥
 उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः ।
 सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वे पि विवक्षितं ॥ ६ ॥
 किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्त्तते ।
 समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः ॥ ७ ॥
 विग्रहाद्भिधानस्य ससमासाऽन्यथोत्तरा ।
 उपमाद्योतकपदेनोपमेयपदेन च ॥ ८ ॥
 ताभ्याश्च विग्रहाच्चे धा ससमासान्तिमात् त्रिधा ।
 विशिष्यमाणा उपमा भवन्त्यष्टादश स्फुटाः ॥ ९ ॥
 यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते मन्थतेऽपि वा ।
 ते धर्मवस्तुप्राधान्याद्धर्मवस्तूपमे उभे ॥ १० ॥
 तुल्यमेवोपमीयेते यत्रान्योन्येन धर्मिणौ ।
 परस्परौपमा सा स्यात् प्रसिद्धेरन्यथा तयोः ॥ ११ ॥
 विपरीतोपमा सा स्याद्वाहतेर्द्वियमोपमा ।
 अन्यत्राप्यनुवृत्तेस्तु भवेदनियमोपमा ॥ १२ ॥
 समुच्चयोपमातोऽन्यधर्मवाहुल्यकौर्त्तनात् ।
 बहोर्धर्मस्य साम्येपि बलक्षयं विवक्षितं ॥ १३ ॥
 यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा ।
 यत्रोपमा स्याद्बहुभिः सदृशैः सा बहूपमा ॥ १४ ॥
 धर्माः प्रत्युपमानश्चे दन्ये मालोपमेव सा ।
 उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा ॥ १५ ॥
 नैलोक्यासम्भवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि ।

कविनीपम्यते वा प्रथते साङ्गतोपमा ॥ १६ ॥
 प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कौर्त्तनम् ।
 उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमहचः ॥ १७ ॥
 उभयोर्धर्मिणोस्तथ्यानिचयात् संशयोपमा ।
 उपमेयस्य संशय्य निचयान्निचयोपमा ॥ १८ ॥
 वाक्याद्यनैव वाक्यार्थोपमा स्यादुपमानतः ।
 आत्मनोपमानादुपमा साधारण्यतिशायिनी ॥ १९ ॥
 उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता ।
 यद्युत्तरोत्तरं याति तदाऽसौ गगनोपमा (१) ॥ २० ॥
 प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
 किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया उपमा पञ्चधा पुनः ॥ २१ ॥
 उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
 गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २२ ॥
 उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा ।
 सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणां ॥ २३ ॥
 भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनोत्तरेण सः ।
 अन्यथोपस्थिता वृत्तिचेतनस्येतरस्य च ॥ २४ ॥
 अन्यथा मन्यते यत्र तासुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ।
 लोकसौमानिहत्तस्य वस्तुधर्मस्य कौर्त्तनम् ॥ २५ ॥
 भवेदतिशयो नाम सन्भवासम्भवाद्दिधा ।
 गुणजातिक्रियादीनां यत्र बैकल्यदर्शनं ॥ २६ ॥
 विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते ।

१ पवनोपमेति ख० । गगनोपमेति क०, ट० च ।

प्रसिद्धहेतुव्याप्त्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम् ॥ २७ ॥
 यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।
 सङ्गतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः ॥ २८ ॥
 विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतं ।
 सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः ॥ २९ ॥
 कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते ।
 प्रवर्त्तते कारकाख्यः प्राक् पश्चात् कार्य्यजन्मनः ॥ ३० ॥
 पूर्वशेष इति ख्यातस्तयोरेव विशेषयोः ।
 कार्य्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ॥ ३१ ॥
 ज्ञापकाख्यस्य भेदोऽस्ति नदीपूरादिदर्शनात् ।
 अविनाभावनियमो ह्यविनाभावदर्शनात् ॥ ३२ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे अर्थालङ्कारनिरूपणं नाम
 त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ००० —

शब्दार्थालङ्काराः ।

अग्निरुवाच । शब्दार्थयोरलङ्कारो हावलङ्कुरते समं ।
 एकत्र निहितो हारः स्तनं शीवामिव स्त्रियाः ॥ १ ॥
 प्रशस्तिः कान्तिरोचित्यं संचेपो यावदर्थता ।
 अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जायति ॥ २ ॥
 प्रशस्तिः परवन्मर्मद्रवीकरणकर्मणः ।
 वाचो युक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्तिस्ततिभेदतः ॥ ३ ॥

प्रेमाङ्गिस्तुतिपर्यायी प्रियोक्तिगुणकीर्त्तने ।
 कान्तिः सर्वमनोरुच्यवाच्यवाचकसङ्गतिः ॥ ४ ॥
 यथा वस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्तथा रसः ।
 जर्जस्विसृदुसन्दर्भादौचित्यमुपजायते ॥ ५ ॥
 संक्षेपो वाचकैरल्पैर्वहोरर्थस्य संग्रहः ।
 अन्यनाधिकता शब्दवस्तुनोर्यावदर्थता ॥ ६ ॥
 प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि ।
 तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शब्दं स्वार्थसमर्पणम् ॥ ७ ॥
 भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा ।
 सङ्घे तः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी ॥ ८ ॥
 मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा ।
 स्वाभिधेयस्वत्वलङ्घित्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ॥ ९ ॥
 यथा शब्दो निमित्तेन केनचिद्व्यौपचारिकी ।
 सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणागुणयोगतः ॥ १० ॥
 अभिधेयाविनाभूता प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
 अभिधेयेन सम्बन्धात्सामीप्यात्समवायतः ॥ ११ ॥
 वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ।
 गौणीगुणानामानन्यादनन्ता तद्विचक्षया ॥ १२ ॥
 अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
 सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः ॥ १३ ॥
 श्रूतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।
 स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥ १४ ॥
 शब्देनार्थेन यच्चार्यः कृत्वा स्वयमुपार्जनम् ।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्तया ॥ १५ ॥

तमाक्षेपं ब्रुवन्वत्र स्तुतं स्त्रीचमिदं पुनः ।

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ॥ १६ ॥

यत्रोक्तं गम्यते नार्थस्तत्समानविशेषणं ।

सा समासोक्तिरुदिता सङ्क्षेपार्थतया बुधैः ॥ १७ ॥

अपङ्कतिरपङ्कत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् ।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।

एषामेकंतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः । १८ ॥

इत्यान्वेये महापुराणे अलङ्कारे शब्दार्थालङ्कारनिरूपणं नाम
चतुस्रत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

काव्यगुणविवेकः ।

अग्निह्वाच । अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।

वपुष्यलक्षिते स्त्रीणां हारो भारायते परं ॥ १ ॥

न च वाच्यं गुणो दोषो भाव एव भविष्यति ।

गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढार्थाद्याः पृथक् कृताः ॥ २ ॥

यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।

सम्भवत्पेष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा ॥ ३ ॥

सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते ।

शब्दमर्थसुभौ प्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा ॥ ४ ॥

शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः ।

श्लोषो लालित्यगाभीर्थसौकुमार्यमुदारता ॥ ५ ॥
 सत्येव योगिकी चेति गुणाः शब्दस्य समष्टा ।
 सुश्लिष्टसन्निवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते ॥ ६ ॥
 गुणादेशादिना पूर्व्वं पदसम्बन्धमक्षरं ।
 यत्र सम्बन्धीयते नैव तज्जालित्यमुदाहृतं ॥ ७ ॥
 विशिष्टलक्षणोक्तेखलेस्यमुत्तानशब्दकम् ।
 गाभीर्थं कथयन्त्यार्यास्तदेवान्येषु शब्दतां ॥ ८ ॥
 अग्निष्टुराक्षरप्रायशब्दता सुकुमारता ।
 उत्तानपदतोदार्थयुतस्त्राघ्यैर्विशेषणैः ॥ ९ ॥
 भोजः समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादिजीवितं ।
 भ्रात्रह्यस्तभ्रपर्यन्तभोजसैकेन पौरुषं ॥ १० ॥
 उच्यमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः ।
 उत्कर्षमावहन्नर्थी गुण इत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
 माधुर्यं सम्बिधानञ्च कोमलत्वमुदारता ।
 प्रौढिः सामयिकत्वञ्च तदभेदाः षट्चकाशति ॥ १२ ॥
 क्रोधैर्थाकारगाभीर्थास्माधुर्यं धैर्यगाह्विता ।
 सम्बिधानं परिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये ॥ १३ ॥
 यत्काठिन्यादिनिर्मुक्त सन्निवेशविशिष्टता ।
 तिरस्कृत्यैव श्रुतता भाति कोमलतेति सा ॥ १४ ॥
 लक्ष्यते स्थूललक्षत्वप्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम् ।
 गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यातिसौष्ठवं ॥ १५ ॥
 अभिप्रेतं प्रति यतो निर्वाहस्योपपादिकाः ।
 युक्तयो हेतुगर्भिन्यः प्रौढाप्रौढिबुदाह्वता ॥ १६ ॥

स्रतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य वाङ्मान्तःसमयोगतः ।
 तन्न व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकतेति सा ॥ १७ ॥
 शब्दार्थावपकुर्वीणो नास्त्रोभयगुणः स्मृतः ।
 तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासङ्ख्यं प्रशस्तता ॥ १८ ॥
 पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपश्चिताः ।
 सुप्रसिद्धान्पदता प्रसाद इति गीयते ॥ १९ ॥
 उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
 तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनोषिणः ॥ २० ॥
 यथासङ्ख्यमनुद्देशः सामान्यमतिदिश्यते ।
 समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः ॥ २१ ॥
 अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनं ।
 उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते ॥ २२ ॥
 मृहीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाश्चतुर्विधः ।
 आदावन्ते च सौरस्यं मृहीकापाक एव सः ॥ २३ ॥
 काव्येच्छया विशेषो यः स राग इति गीयते ।
 अभ्यासीपहितः कान्तिं महजामपि वर्त्तते ॥ २४ ॥
 हारिद्रस्यैव कौमुभो नीली रागस्य स त्रिधा ।
 वैशेषिकः परिज्ञेयो यः स्वलक्षणगोचरः ॥ २५ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे काव्यगुणविवेको नाम पञ्चचत्वारिंश

दधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षट्त्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— 000 —

काव्यदोषविवेकः ।

अग्निरुवाच । उद्देगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ।

वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनिर्णयगतः ॥ १ ॥

तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथमे स च भेदतः ।

सन्दिहानोऽविनीतः सन्नज्ञो ज्ञाता चतुर्विधः ॥ २ ॥

निमित्तपरिभाषाभ्यामर्थसंस्पर्शिवाचकम् ।

तदुभेदो पदवाक्ये हे कथितं लक्षणं द्वयोः ॥ ३ ॥

असाधुत्वाप्रयुक्तत्वे द्वावेव पदनिग्रहौ ।

शब्दशास्त्रविरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

व्युत्पन्नै रनिबद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते ।

छान्दसत्वमविस्पष्टत्वञ्च कष्टत्वमेव च ॥ ५ ॥

तदसामयिकत्वञ्च ग्राम्यत्वञ्चेति पञ्चधा ।

छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमबोधतः ॥ ६ ॥

गूढार्थता विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता ।

अविष्यष्टार्थता भेदास्तत्र गूढार्थतेति सा ॥ ७ ॥

यत्रार्थो दुःखसवेद्यो विपर्यस्तार्थता पुनः ।

विवक्षितान्यशब्दार्थप्रतिपत्तिर्मलीमसा (१) ॥ ८ ॥

अन्यार्थत्वासमर्थत्वे एतामिवोपसर्पतः ।

सन्दिग्धमानवाचत्वमाहुः संशयितार्थतां ॥ ८ ॥
 दीप्तत्वमनुबध्नाति सम्बन्धोद्देशनादृते ।
 असुखोच्चार्यमाणत्वं कष्टत्वं समयाच्युतिः ॥ १० ॥
 असामयिकता नेयामेताश्च मुनयो जगुः ।
 ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता ॥ ११ ॥
 वक्तव्यग्राम्यवाच्यस्य वचनात्स्मरणादपि ।
 तद्वाचकपदेनाभिसाम्याद्भवति सा त्रिधा ॥ १२ ॥
 द्वेषः साधारणः प्रातिखिकोऽर्थस्य स तु द्विधा ।
 अनेकभागुपालम्भः साधारण इति स्मृतः ॥ १३ ॥
 क्रियाकारकयोर्भ्रंशो विसन्धिः पुनरुक्तता ।
 व्यस्तसम्बन्धता चेति पञ्च साधारणा मताः (१) ॥ १४ ॥
 अक्रियत्वं क्रियाभ्रंशो भ्रष्टकारकता पुनः ।
 कर्त्तृादिकारकाभावो विसन्धिः सन्धिदूषणम् ॥ १५ ॥
 विगतो वा विरुद्धो वा सन्धिः स भवति द्विधा ।
 सन्धेर्विरुद्धता कष्टपादादर्थान्तराममात्(२) ॥ १६ ॥
 पुनरुक्तत्वमाभीष्टपादभिधानं द्विधैव तत् ।
 अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरर्थावृत्तिरपि द्विधा ॥ १७ ॥
 प्रयुक्तवरशब्देन (३) तथा शब्दान्तरेण च ।
 नावर्त्तते पदावृत्तौ वाच्यमावर्त्तते पदम् ॥ १८ ॥
 व्यस्तसम्बन्धता सुष्ठु सम्बन्धो व्यवधानतः ।
 सम्बन्धान्तरनिर्भावात् सम्बन्धान्तरजन्यतः ॥ १९ ॥

१ मन्त्रा इति क०, ज० च ।

२ कष्टपादादर्थान्तरकृतादिति ट० ।

३ प्रयुक्तवरशब्देनेति ज०, ज० च ।

अभावेपि तयोरन्तर्व्यवधानान्निधैव सा ।
 अन्तरा पदवाक्याभ्यां प्रतिभेदं पुनर्हिंघा ॥ २० ॥
 वाच्यमर्थार्थमानत्वात्तदुद्दिधा पदवाक्ययोः ।
 व्युत्पादितपूर्ववाच्यं व्युत्पाद्यश्चेति भिद्यते ॥ २१ ॥
 दृष्टव्याघातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता ।
 असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा ॥ २२ ॥
 एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसङ्करः ।
 पक्षे सपक्षेनास्तित्वं विपक्षे ऽस्तित्वमेव तत् ॥ २३ ॥
 काव्येषु परिषद्यानां न भवेदप्यरन्तुदम् ।
 एकादशनिर्णयत्वं(१) दुष्करादौ नदुष्यति ॥ २४ ॥
 दुःखीकरोति दोषज्ञानगूढार्थत्वं न दुष्करे ।
 न ग्राम्यतोद्देशकारौ प्रसिद्धेर्लोकशास्त्रयोः ॥ २५ ॥
 क्रियाभ्रंशेन लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः ।
 भ्रष्टकारकताच्चे पबलाध्याहृतकारके ॥ २६ ॥
 प्रगृह्ये गृह्यते नैव क्षतं विगतसन्धिना ।
 कष्टपाठाद्विसन्धित्वं दुर्व्वचादौ न दुर्भगम् ॥ २७ ॥
 अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धता शुभा ।
 नार्थसंग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यैर्न शिष्यते ॥ २८ ॥
 विभक्तिसंग्रालिङ्गानां यत्रोद्देशो न धीमतां ।
 संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः ॥ २९ ॥
 अनेकस्य तद्यैकेन बहूनां बहुभिः शुभा ।
 कवीनां समुदाचारः समयो नाम गीयते ॥ ३० ॥

सामान्यं च विशिष्टं च धर्मवद्भवति द्विधा ।
 सिद्धसैद्धान्तिकानाञ्च कवीनाञ्चाविवादतः ॥ ३१ ॥
 यः प्रसिध्यति सामान्य इत्यसौ समयो मतः ।
 सर्वं सिद्धान्तिका येन सञ्चरन्ति निरत्ययं ॥ ३२ ॥
 कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन स द्विधा ।
 छेदसिद्धान्ततोऽन्याः स्यात् केषाञ्चिद्भ्रान्तितो यथा ॥ ३३ ॥
 तर्कज्ञानं मुनेः कस्य कस्यचित् क्षणभङ्गिका ।
 भूतचैतन्यता कस्य ज्ञानस्य सुप्रकाशता ॥ ३४ ॥
 प्रज्ञातस्थूलताशब्दानेकान्तत्वं तथार्हतः ।
 शैववैष्णवशाक्तेयसौरसिद्धान्तिनां मतिः ॥ ३५ ॥
 जगतः कारणं ब्रह्म साङ्ख्यानां सप्रधानकं ।
 अस्मिन् सरस्वतीलोके सञ्चरन्तः परस्परम् ॥ ३६ ॥
 बध्नन्ति व्यतिपश्यन्तो यदिशिष्टः स उच्यते ।
 परिग्रहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात् ॥ ३७ ॥
 भिद्यमानस्य तस्यायं द्वैविध्यमुपगम्यते ।
 प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद्बाधितं तदसद्बिदुः ॥ ३८ ॥
 कविभिस्तत् प्रतिपाद्यं ज्ञानस्य द्योतमानतां ।
 यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ॥ ३९ ॥
 अज्ञानाज्ज्ञानतस्त्वेकं ब्रह्मैव परमार्थसत् ।
 विष्णुः स्वर्गादिहेतुः स शब्दालङ्काररूपवान् ।
 अपरा च परा विद्या तां ज्ञात्वा मुच्यते भवात् ॥ ४० ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे अलङ्कारे काव्यदोषविवेको नाम
 षट्चत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकविंशततमोऽध्यायः ।

—000—

एकाक्षराभिधानं ।

अग्निरुवाच । एकाक्षराभिधानञ्च मातृकान्तं वदामि ते ।
अ विष्णुः प्रतिषेधः स्यादा पितामहवाक्ययोः ॥ १ ॥
सीमायामथाव्ययं आ भवेत्संक्रोधपीडयोः ।
इः कामे रतिलक्ष्मणोरी उः शिवे रक्षकाय जः(१) ॥ २ ॥
ऋ शब्दे चादितौ ऋस्यात् लृ लृ ते वै दितौ गुहे ।
ए देवी ऐ योगिनी स्यादो ब्रह्मा औ महेश्वरः ॥ ३ ॥
अङ्गामः अः प्रशस्तः स्यात्(२) को ब्रह्मादौ कु कुक्विते ।
खं शून्येन्द्रियं खङ्गो गन्धर्व्वं च विनायके ॥ ४ ॥
गङ्गीते गो गायने स्याद् घो घण्टा किङ्किणीमुखे ।
ताङ्गने ङश्च विषये स्पृहायाश्चैव भैरवे ॥ ५ ॥
चो दुर्जने निर्मले छम्बे दे जिर्जयने तथा ।
जं गीते भः प्रशस्ते स्यादबले(३) जो गायने च टः ॥ ६ ॥
ठश्चन्द्रमण्डले शून्ये शिवे चोद्ध्वने मतः ।
डश्च रुद्रे ध्वनौ चासे ठक्तायां ढी ध्वनौ मतः ॥ ७ ॥
णो निष्कर्षे निषये च तथोरे क्रोडपुच्छके ।
भक्षणे थम्बे दने दी धारणे शोभने मतः ॥ ८ ॥

१ ब्रह्मकाय करिति च० ।

२ प्रशान्तः स्यादिति च० ।

३ धने इति च० ।

धो धातरि च धूसूरे नो वृन्दे सुगते तथा ।
 प उपवने विख्यातः फस भ्रज्भानिले मतः ॥ ८ ॥
 फुः फुत्कारे निष्कले च विः पञ्ची भञ्ज तारके ।
 मा श्रीर्मानञ्ज माता स्वाद्याज यो यादवीरणे ॥ १० ॥
 रो वक्रौ च सः शक्ने च लो विधातरि ईरितः ।
 विज्ञेवथे वो वरुणे शक्ने शञ्ज शं सुखे ॥ ११ ॥
 षः श्रेष्ठे सः परोक्षे च सा शङ्गीः सं कचे मतः ।
 धारणे हस्तभा रुद्रे षः शक्ने चाक्षरे मतः ॥ १२ ॥
 शो वृसिंहे हरी तद्वत् क्षेत्रपालकयोरपि ।
 मन्त्र एकाक्षरो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥ १३ ॥
 हैहयशिरसे नमः सर्वविद्याप्रदो मनुः ।
 अकाराद्यास्तथा मन्त्रा मादकामन्त्र उत्तमः ॥ १४ ॥
 एकपद्मेऽर्चयेदेताञ्चव दुर्गाञ्च पूजयेत् ।
 भगवती कात्यायनी कौशिकी चाथ चण्डिका ॥ १५ ॥
 प्रचण्डा सुरनायिका उषा पार्वती दुर्गया ।
 श्रीं चण्डिकायै विद्महे भगवत्यै धीमहि तन्नो दुर्गा प्रचीदयात् ।
 क्रमादि तु षडङ्गं स्याद्गणो गुरुगुरुः क्रमात् ॥ १६ ॥
 अजितापराजिता चाथ जया च विजया ततः ।
 कात्यायनी भद्रकाली मङ्गला सिद्धिरेवती ॥ १७ ॥
 सिद्धादिवटुकाः पूज्या हेतुकञ्च कपालिकः ।
 एकपादो भीमरूपो दिक्पालान्मध्यतो नव ॥ १८ ॥
 श्रीं दुर्गे दुर्गे रक्षणि स्वाहामन्त्रार्थसिद्धये ।
 गौरी पूज्या च धर्मार्थाः स्कन्दाद्याः शक्तयो यजेत् ॥ १९ ॥

प्रज्ञा ज्ञाना क्रिया वाचा वागीशी ज्वालिनी तथा ।
कामिनी काममाला च इन्द्राद्याः शक्तिपूजनं ॥ २० ॥

श्रीं गं स्वाहा मूलमन्त्रोऽयं गं वा गणपतये नमः ।

षडङ्गो रत्नशुक्लश्च दन्ताक्षपरशूत्कटः ॥ २१ ॥

समोदकोऽथ (१) गन्धादिगन्धोल्कायेति च क्रमात् ।

गजो. महागणपतिर्भ्रह्मीलकः पूज्य एव च ॥ २२ ॥

कुशाण्डाय एकदन्तत्रिपुरान्तकाय श्यामदन्तविकटहरहासाय ।

लम्बनाशाननाय पद्मदंष्ट्राय मेघोल्काय धूमोल्काय ।

वक्रतुण्डाय विघ्नेश्वराय विकटोत्कटाय गजेन्द्रगमनाय ।

भुजगेन्द्रहाराय शशाङ्कधराय गणाधिपतये स्वाहा ।

एतैर्भ्रानुभिः स्वाहान्तैः पूज्य तिलहोमादिनार्थभाक् ।

काद्यैर्वा वीजसंयुक्तैस्त्रैराद्यैश्च नमोऽन्तकैः ॥ २३ ॥

मन्त्राः पृथक् पृथग्वा स्युर्द्विरेफद्विर्मुखाक्षिणः(२)* ।

कात्यायनं स्कन्द आह यत्तद्व्याकरणं वदे ॥ २४ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे एकाक्षराभिधानं नाम सप्तचत्वारिंश-
दधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

१ समो देशेऽथेति ज० ।

२ द्वे द्वे रेखाय दक्षिणा इति ज० ।

* द्विरेफद्विर्मुखाक्षिण इत्ययं पाठ आदर्शदीपिक समीचीनी मवितुं नार्हति ।

अथाष्टचत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

व्याकरणं ।

स्तम्भोवाच । वक्ष्ये व्याकरणं सारं सिद्धशब्दस्वरूपकम् ।

कात्यायनविबोधाय बालानां बोधनाय च ॥ १ ॥

प्रत्याहारादिकाः संज्ञाः शास्त्रसंव्यवहारगाः ।

अ ई उ ण ऋ ॠ क ए ङ ऐ औ च ह य व र ट ण न ज
म ङ ण नम भ भ ज घ ध ष ज व ग ङ द श ख फ छ ठ थ च
ट त क प य श ष स र ह ल इति प्रत्याहारः ।

उपदेश इद्वलन्तं भवेदजनुनासिकः ॥ २ ॥

आदिवर्णी गृह्यमाणोऽप्यन्त्येनेता सहैव तु ।

तयोर्मध्यगतानां स्यादुयाहकः स्वस्य तद्यथा ॥ ३ ॥

अण् एङ् अट् यङ् क्व् भक् भष् अक् इक् अण् इण् यण्
परेण णकारेण । अम् यम् ङम् अच् इच् ऐच् अय् मय् भय् खय्
जय् भय् खय् चय् शय् अस् हस् वस् भस् अल् हल् बल् रल्
भल् सल् इति प्रत्याहारः ।

इत्याम्बे महापुराणे व्याकरणे प्रत्याहारो नामाष्टचत्वारिंश-
दधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथोनपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

सन्धिसिद्धरूपं ।

स्कन्दउवाच । वक्ष्ये सन्धिसिद्धरूपं स्वरसन्धिमयादितः ।

दण्डायं सागता दधीदं नदीहते मधूदकं ॥ १ ॥

पिटृषभः लृकारश्च तवेदं सकलीदकं ।

अर्धर्षीऽयं तवस्कारः सैषा सैन्द्री तवीदनम् ॥ २ ॥

खट्वीघोऽभवदित्येवं व्यसुधीर्वस्त्रलङ्घृतं ।

पित्रर्षीपवनं दात्री नायकी लावकी नयः ॥ ३ ॥

तद्ग्रह तयिहेत्यादि तेऽत्र योऽत्र जलेऽकजं ।

प्रकृतिर्नी अहो एहि च अवेहि इ इन्द्रकं ॥ ४ ॥

उ उत्तिष्ठ कवी एतौ वायु एतौ वने इमे ।

अमी एते यज्ञभूते एहि देव इमन्नय ॥ ५ ॥

वक्ष्ये सन्धिं ब्रह्मनाथां वास्यतोऽजेकमाटकः ।

षडेते तदिमे वादिवाङ्नीतिः षण्मुखादिकम् ॥ ६ ॥

वाङ्मनसं वग्भावादिर्वाक् स्रष्टुं तद्धरीरकं ।

तद्गुनाति तच्चरेच्च क्रुडुङ्गास्ते च सुगण्डिह ॥ ७ ॥

भवाञ्चरन् भवाञ्छात्रो भवांष्टीका भवाञ्छकः ।

भवांस्तीर्थं भवांस्त्रेयात् भवांस्त्रेखा भवाञ्छयः ॥ ८ ॥

भवाञ्छेते भवाञ्छेते भवाञ्छेते भवाञ्छीनः ।

त्वभर्त्ता त्वद्धरोष्यादिः सन्धिर्ज्ञेयो विसर्गजः ॥ ९ ॥

कश्चिन्द्वात् कश्चेत् कष्टः कष्टः कश्चिच्च कश्चलेत् ।
 क × खनेत् क × करोति स्म क ३ पठेत् क ३ फलेत् वा ॥१०॥
 कश्श्शशुरः कःश्शशुरः कस्सावरः कःसावरः ।
 कः फलेत् कः शयिता कोऽत्र योधः क उत्तमः ॥ ११ ॥
 देवा एते भो इह सोदरा यान्ति भगो ब्रज ।
 सुपूः सुदूरात्रिरत्र वायुर्याति पुनर्न हि ॥ १२ ॥
 पुनरेति स यातीह एष याति क ईश्वरः ।
 ज्योतीरूपं तवच्छत्रं स्तेच्छधीश्चिद्रमच्छिदत् ॥ १३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे सन्धिसिद्धरूपं नामो-
 नपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

सुब्विभक्तिसिद्धरूपं ।

स्कन्दउवाच । विभक्तिसिद्धरूपञ्च कात्यायन वदामि ते ।
 हे विभक्ती सुप्तिङ्सु सुपः सप्त विभक्तयः ॥ १ ॥
 सुञ्चौजसिति प्रथमा अमौट्शसो द्वितीया ।
 टाभ्यां भिसिति तृतीया ङेभ्यांभ्यसश्चतुर्थ्यपि ॥ २ ॥
 ङसिभ्यांभ्यसः पञ्चमी स्यात्ङसोसामिति षष्ठ्यपि ।
 ङिञ्चोस्सुविति सप्तमी स्यात् स्युः प्रातिपदिकात्पराः ॥३॥
 द्विविधं प्रातिपदिकं ह्यजन्तश्च हलन्तकं ।

(३१)

प्रत्येकं त्रिविधं तत् स्यात् पुमांस्त्री च नपुंसकं ॥ ४ ॥
 दर्शन्ते नायकास्तेषामनुत्तानाञ्च वीर्यतः ।
 वृद्धः सर्वोऽथ पूर्वश्च प्रथमश्च द्वितीयकः ॥ ५ ॥
 तृतीयः खण्डपा वङ्गः सखापतिरहर्षतिः ।
 पटुर्नीर्ग्रामणीन्द्रश्च खलपूर्न्धितभूः स्वभूः ॥ ६ ॥
 सुश्रीः सुधीः पिता भ्राता ना कर्ता क्रोष्टुनमृकौ ।
 सुरा रा गोस्तथा द्यौर्ग्लोः स्वरान्ताः पुंसि नायकाः ॥७॥
 सुवाक् त्वक् पृषत् सन्नाट् जन्मभाक् च अवेडपि ।
 आपो मरुद्भवन् दीव्यन् भवांश्च मघवान् पिवन् ॥ ८ ॥
 भगवानघवानर्वान्वह्निमत् सर्व्ववित्सुपृत् ।
 सुसीमा कुण्डो राजा च श्वा युवा मघवा तथा ॥ ९ ॥
 पूषा सुकर्मा यज्वा च सुवर्मा च सुधर्मणा ।
 अर्थ्यमा वृत्रहा पत्याः सुककुदादिपञ्च च ॥ १० ॥
 प्रशान् सुतांश्च पञ्चाद्याः सुगौः सुराः सुपूरपि ।
 चन्द्रमाः सुवचाः श्रेयान् विहांशोशनसा सह ॥ ११ ॥
 पेशिवान् गौरवानडान् गोधूक्षितद्रुहो श्लिल् ।
 स्त्रियां जाया जरा बाला एडका सह वृद्धया ॥ १२ ॥
 क्षत्रिया बहुराजा च बहुदा माऽथ बालिका ।
 माया कौमुदगन्धा च सर्वा पूर्वा सहान्यया ॥ १३ ॥
 द्वितीया च तृतीया च बुद्धिः स्त्री श्रीर्नदी सुधीः ।
 भवन्ती चैव दीव्यन्ती भाती भान्ती च यान्यपि ॥ १४ ॥
 शृण्वती तुदती कर्त्री तुदन्ती कुर्वती मही ।
 रन्धती क्रीडती दान्ती पालयन्ती सुराण्यपि ॥ १५ ॥

गौरी पुत्रवती नीच वधूर्ह्वतया भुवा ।
 तिस्रो द्वे कति वर्षाभूः स्वसा माता वरा च गौः ॥ १६ ॥
 नीर्वाक्त्वक्प्राच्यवाचीति तिरश्ची समुदीच्यपि ।
 शरद्विद्युत् सरियोषित् अग्निवित् सस्यदा दृश्यत् ॥ १७ ॥
 यैषा सा वेदवित्संबित् बह्वी राज्ञी त्वया मया ।
 सीमा पञ्चादयो राजी धूः पूषैव दिशा (१)गिरा ॥ १८ ॥
 चतस्रो विदुषी चैव केयं दिक् दृक्च तादृशी ।
 असौ स्त्रियां नायकाश्च नायकाश्च नपुंसके ॥ १९ ॥
 कुण्डं सर्वं सोमपञ्च दधि वारि खलप्वथ ।
 मधु त्रपु कर्त्तृ भक्तृ अतिवक्तृ पयः पुरः ॥ २० ॥
 प्राक्प्रत्यक् च तित्यगुदक् जगद् जाग्रत्तथा सकृत् ।
 सुसम्पन्न सुदण्डीह अहः किञ्चेदमित्यपि ॥ २१ ॥
 षट्सर्पिः श्रेयश्चत्वारि अदोऽन्ये हीदृशाः परे ।
 एतेभ्यः प्रथमादयश्च स्युः प्रातिपदिकात्पराः ॥ २२ ॥
 धातुप्रत्ययहीनं यत्स्यात् प्रातिपदिकन्तु तत् ।
 प्रातिपदिकात् स्वलिङ्गार्थवचने प्रथमा भवेत् ॥ २३ ॥
 सम्बोधने च प्रथमा उक्ते कर्मणि कर्त्तरि ।
 कर्म यत् क्रियते तत्स्यात् द्वितीया कर्मणि स्मृता ॥ २४ ॥
 क्रियते येन करणं कर्त्ता यश्च करोति सः ।
 अनुक्ते तिङ्गुत्तद्वितैस्तृतीया करणे भवेत् ॥ २५ ॥
 कारके कर्त्तरि च सा सम्प्रदाने चतुर्थ्यपि ।
 यस्मै दिक्षा धारयते सम्प्रदानं तदोरितं ॥ २६ ॥

अपादानं यतोऽपैति आदत्ते च भयं यतः ।
 अपादाने पञ्चमी स्यात् स्वस्वाम्यादौ च षष्ठ्यपि ॥ २७ ॥
 आधारी योऽधिकरणं विभक्तिस्तत्र सप्तमी ।
 एकार्थं चैकवचनं द्वयर्थे द्विवचनं भवेत् ॥ २८ ॥
 बहुषु बहुवचनं सिद्धरूपाख्यथो वदे ।
 वृत्तः सूर्योऽम्बुवाहोऽर्कं हेरवे हेहिजातयः ॥ २९ ॥
 विप्रौ गजान्महेन्द्रेण यमाभ्यामनलैः कृतं ।
 रामाय सुनिर्वर्याभ्यां केभ्यो धर्मात् हरी रतिः ॥ ३० ॥
 शराभ्यां पुस्तकेभ्यश्च अर्थस्येश्वरयोर्गतिः ।
 बालानां सज्जने प्रीतिर्हंसयोः कमलेषु च ॥ ३१ ॥
 एवं काममहेशाद्याः शब्दा ज्ञेयाश्च वृत्तवत् ।
 सर्वे विश्वे च सर्वस्मै सर्वस्मात्कतरो मतः ॥ ३२ ॥
 सर्वेषां स्वच्च विश्वस्मिन् शेषं रूपञ्च वृत्तवत् ।
 एवञ्चोभयकतरकतमान्यतरादयः ॥ ३३ ॥
 पूर्वं पूर्वाश्च पूर्वस्मै पूर्वस्मात् सुसमागतः ।
 पूर्वं बुद्धिश्च पूर्वस्मिन् शेषरूपन्तु सर्ववत् ॥ ३४ ॥
 एवं परावराद्याश्च दक्षिणोत्तरकान्तराः ।
 अपरश्चाधरो नेमाः प्रथमाः प्रथमेऽर्कवत् ॥ ३५ ॥
 एवं चरमायतया अल्पाद्यां नेमत्रादयः ।
 द्वितीयस्मै द्वितीयाय द्वितीयस्मात् द्वितीयकात् ॥ ३६ ॥
 द्वितीयस्मिन् द्वितीये च तृतीयश्च तथाऽर्कवत् ।
 सोमपाः सोमपौ ज्ञेयो सोमपाः सोमपां व्रज ॥ ३७ ॥
 कीलालपौ सोमपश्च सोमपा सोमपे दद ।

सोमपाभ्यां सोमपाभ्यः सोमपः सोमपोः कुलं ॥ ३८ ॥
 एवं कीलालपाद्याः स्युः कविरग्निस्तथाऽरयः ।
 हेकवे कविमग्नी तान् हरीन् सात्यकिना हृतं ॥ ३९ ॥
 रविभ्यां रविभिर्द्द्वि वल्लये यः समागतः ।
 अग्नेरग्नीस्तथाग्नीनां कवौ कव्योः कविष्वऽथ ॥ ४० ॥
 एवं सुसृतिरभ्रान्तिः सुकीर्त्तिः सुसृतिस्तथा ।
 सखा सखायौ सखायः हेसखे व्रज सत्पतिं ॥ ४१ ॥
 सखायश्च सखायौ च सखीन् सख्या गतो दद ।
 सख्ये संख्युश्च सख्युश्च सख्योः शेषः कवेरिव ॥ ४२ ॥
 पत्या पत्ये च पत्युश्च पत्युः पत्योस्तथाऽग्निवत् ।
 द्वौ द्वौ द्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वित्वाद्यर्थे द्वयोर्द्वयोः ॥ ४३ ॥
 त्रयस्त्रींश्च त्रिभिस्त्रिभ्यस्तथाश्च त्रिषु क्रमात् ।
 कविवत् कतिकतीतिशेषं बहुवचनं स्मृतम् ॥ ४४ ॥
 नीर्नियौ च नियो हेनीः नियं नियौ नियो निया ।
 नीभ्यां नीभिर्निये नीभ्यः नियान्नियि नियोस्तथा ॥ ४५ ॥
 सुश्रीः सुधीः प्रभृतयो ग्रामणीः पूजयेद्भरिं ।
 ग्रामण्यौ ग्रामण्यौ ग्रामण्यं ग्रामण्या ग्रामणीभिः ॥ ४६ ॥
 ग्रामण्यो ग्रामण्यामेवं सेनानीप्रमुखाः सुभूः ।
 सुभुवौ च स्वयम्भुवः स्वयम्भुश्च स्वयम्भुवः ॥ ४७ ॥
 स्वयम्भुवा स्वयम्भुवि एवं प्रतिभुवादयः ।
 खलपूः खलप्वौ श्रेष्ठौ खलप्वश्च खलप्वि च ॥ ४८ ॥
 एवं शरपूसुखाः स्युः क्रोष्टा क्रोष्टार ईरिताः ।
 क्रोष्टूंश्च क्रोष्टुना क्रोष्ट्रा क्रोष्टूनां क्रोष्टरीदृशं ॥ ४९ ॥

पिता पितरौ पितरः हेपितः पितरौ शुभौ ।
 पितृन् पितुः पितुः पित्रोः पितृणां पितरीदृशं ॥ ५० ॥
 एवं भ्राता च जामातृमुखा नृणां नृणां तथा ।
 कर्ता कर्तारौ कर्तृषु कर्तृणां कर्तरीदृशं ॥ ५१ ॥
 पितृवच्चैवमुक्ताता स्वसा नम्रादयः स्मृताः ।
 सुराः सुरायौ सुरायः सुरायाञ्च सुराय्यपि ॥ ५२ ॥
 गौः गावौ गाङ्गा गवा च गोर्गवोश्च गवां गवि ।
 एवं द्यौर्ग्लौञ्चापि तथा स्वरान्ताः पुंसि नायकाः ॥ ५३ ॥
 सुवाक् सुवाचौ सुवाचा सुवाग्भ्याञ्च सुवाक्ष्वपि ।
 एवं दिक्प्रमुखाः प्राङ् च प्राञ्चौ प्राञ्चञ्च भो व्रज ॥ ५४ ॥
 प्राग्भ्यां प्राग्भिः प्राचाञ्च प्राचि च प्राङ्सु प्राङ्क्ष्वपि ।
 एवं ह्युदङ्मुदीची वा सम्यङ् प्रत्यक्समीच्यपि ॥ ५५ ॥
 तिर्यङ् तिरश्च सध्रङ् च विश्वद्रङ् पूर्ववत् स्मृताः ।
 अदद्रङ् अदमुयङ् स्यात् तथासुमुयङ्गीरितः ॥ ५६ ॥
 अदद्राञ्चौ ह्यमुद्रीचः अदद्राग्भ्याञ्च पूर्ववत् ।
 तच्चट्ट् तच्चट्टषौ च तच्चट्टङ्भ्यां समागतः ॥ ५७ ॥
 तच्चट्टपि तच्चट्टसु एवं काष्ठतडादयः ।
 भिषक् भिषग्भ्यां भिषजि जन्मभागादयस्तथा ॥ ५८ ॥
 मरुत् मरुद्ग्रां मरुति एवं शत्रुजिदादयः ।
 भवान् भवन्तौ भवतां भवञ्चैव भवत्यपि ॥ ५९ ॥
 महान्महान्तौ महतामेवं भगवदादयः ।
 एवं मघवान्मघवन्तौ अग्निचिञ्चाग्निचित्यपि ॥ ६० ॥
 अग्निचित्स्वमेवान्यत् वेदवित्त्वित्त्वपि ।

वेदविदामेवमन्यत् यः समस्तेन सर्व्ववित् ॥ ६१ ॥
 राजा राजानौ राज्ञः राज्ञि राजनि राजन् ।
 यज्वा यज्वानस्तद्वत् करी दण्डी च दण्डिनो ॥ ६२ ॥
 पन्याः पन्यानौ च पथः पथिभ्यां पथि चेट्टशम् ।
 मन्या ऋभुक्षाः पथ्याद्याः पञ्च पञ्च च पञ्चभिः ॥ ६३ ॥
 प्रतान् प्रतानौ प्रतान्भ्यां हेप्रतांश्च सुशर्मणः ।
 आपः अपः अह्निरप्ये वं प्रशांश्चैव प्रशाम्यपि ॥ ६४ ॥
 कः केन सर्व्ववत् केषु अयं चेमे इमान्नयः ।
 अनेन चाभ्यामेभिश्च अस्मै चैभ्यः स्वमस्य च ॥ ६५ ॥
 अनयोरेषामेषु स्याच्चत्वारश्चतुरस्तथा ।
 चतुर्णाञ्च चतुर्ष्व ऽस्ति सुगीः श्रेष्ठः सुगिर्य्यपि ॥ ६६ ॥
 सुद्यौः सुदिवी सुद्युभ्यां विड् विषौ विट्सु यादृशः ।
 यादृग्भ्याश्चैव विड्भ्याश्च षट् षट् षष्ठाञ्च षट्सपि ॥ ६७ ॥
 सुवचाः सुवचसा च सुवचीभ्यामथेट्टशम् ।
 हे सुवची हे उशनन् उशना वीशनस्यपि ॥ ६८ ॥
 पुरदंशा अनेहा हेविहन् विहांस उत्तमाः ।
 विदुषे नमो विहदभ्यां विहत्सु च वभूविवान् ॥ ६९ ॥
 एवञ्च पेचिवान् श्रेयान् श्रेयांसौ श्रेयसस्तथा ।
 असौ अमू अमी श्रेष्ठा अमुं अमूनिहामुना ॥ ७० ॥
 अमीभिरमुस्मै वामुस्मादमुस्य वामुयोस्तथा ।
 अमीषाममुस्मिन्नित्ये वं गोधुक् गोधुग्भिरागतः ॥ ७१ ॥
 गोधुस्मित्येवमन्येपि मितद्रुहो मित्रदुहा ।
 मितद्रुग्भ्यां मित्रद्रुग्भिरेवं चित्तद्रुहादयः ॥ ७२ ॥

स्खलिट् स्खलिङ्भ्यां स्खलिहि अनङ्गाननङ्कु च ।
अजन्ताश्च हलन्ताश्च पुंस्थयोऽथ स्त्रियां वदे ॥ ७३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे पुंलिङ्गशब्दसिद्धरूपं नाम
पञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथैकपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

स्त्रीलिङ्गशब्दसिद्धरूपं ।

स्कन्द उवाच । रमा रमे रमाः शुभा रमां रमे रमास्तथा ।

रमया च रमाभ्याञ्च रमाभिः क्ततमव्ययं ॥ १ ॥

रमायै च रमाभ्याश्च रमाया रमयोः शुभं ।

रमाणाञ्च रमायाञ्च रमास्त्वेवं कलादयः ॥ २ ॥

जरा जरसौ जर इति जरसश्च जरा जरां ।

जरसञ्च जरास्त्वेवं सर्वा सर्वे च सर्वया ॥ ३ ॥

सर्वस्यै देहि सर्वस्याः सर्वस्याः सर्वयोस्तथा ।

शेषं रमादद्द्रूपं स्याद् हे हे तिस्रश्च तिस्रणां ॥ ४ ॥

बुद्धीर्बुद्ध्या बुद्ध्ये च बुद्धै बुद्धेश्च हेमते ।

कविवत्स्यान्मनूनाञ्च नदी नद्यो नदीं नदीः ॥ ५ ॥

नद्या नदीभिर्नद्यै च नद्याश्चैव नदीषु च ।

कुमारी जृम्भणीत्येवं श्रीः श्रियो च श्रियः श्रिया ॥ ६ ॥

त्रियै त्रिये स्त्रीं स्त्रियश्च स्त्रीश्च स्त्रिवः स्त्रिया स्त्रिये ।
 स्त्रियाः स्त्रीणां स्त्रियाश्च ग्रामस्थां धेन्वै च धेनवे ॥ ७ ॥
 जम्बूर्जम्बू च जम्बूश्च जम्बूनाश्च फलम्बिव ।
 वर्षाम्बो च पुनर्म्बो च मातृर्व्यापि च गोत्र नोः ॥ ८ ॥
 वाग्वाचा वाग्भिश्च वाचु अग्भ्यां स्रजि स्रजोस्तथा ।
 विहङ्गग्राश्चैव विहत्सु भवती स्याद् भवन्त्यपि ॥ ९ ॥
 दौव्यन्ती भाती भान्ती च तुदन्ती च तुदत्यपि ।
 रुदती रुन्धती देवी गृह्णती चौरयन्त्यपि ॥ १० ॥
 दृषत् दृषद्भ्यां दृषदि विशेषविदुषी कृतिः ।
 समित् समिद्ग्रां समिधि सीमा सीम्नि च सीमनि ॥ ११ ॥
 दामनीभ्यां ककुद्ग्राश्च केयनाभ्यां तथासु च ।
 गीर्भ्याश्चैव गिरा गीर्षु सुभूः सुपूः पुरा पुरि ॥ १२ ॥
 द्यौर्युभ्यां दिवि द्युषु तादृश्या तादृशी दिशः ।
 यादृश्यां यादृशी तद्वत् सुवचोभ्यां सुवचःस्त्रपि ।
 चसो चामूममू चामूरमूभिरसुयाऽसुयोः ॥ १३ ॥

इत्याम्बये महापुराणे व्याकरणे स्त्रीलिङ्गशब्दसिद्धरूपं नामैक-
 पञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ द्विपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

नपुंसकशब्दसिद्धरूपं ।

स्कान्दउवाच । नपुंसके किं के कानि किं के कानि ततो जलं ।

सर्वं सर्वं च पूर्वाद्याः सोमपं सोमपानि च ॥ १ ॥

ग्रामणि ग्रामणिनी च ग्रामणि ग्रामणोन्यपि ।

वारि वारिणी वारौणि वारिणां वारिणीदृशं ॥ २ ॥

शुचये शुचिने देहि सृदुने सृदवे तथा ।

चपु त्रपुणि चपुणाञ्च खलपूनि खलप्वि च ॥ ३ ॥

कर्त्ता च कर्त्तणे कर्त्तं अतिर्यतिरिणान्तथा ।

अभिन्याभिनिनी चैव सुवचांसि सुवास्तु च ॥ ४ ॥

यद्यत्त्विममे तत् कर्त्माणि इदञ्चे मे त्विमानि च ।

ईदृक्त्वदोऽमुनी अमूनि अमुना स्यादमीषु च ॥ ५ ॥

अहमावां वयं मां वै आबामस्माभ्या कृतं ।

आवाभ्याञ्च तथास्माभिर्भृष्टमस्मभ्यमेव च ॥ ६ ॥

मदावाभ्यां मदस्मञ्च पुत्रोऽयं मम चावयोः ।

अस्माकमपि चास्मासु त्वं युवां यूयमीजरे ॥ ७ ॥

त्वां युवाञ्च युष्माञ्च त्वया युस्माभिरीरितं ।

तुभ्यं युवाभ्यां युस्मभ्यं त्वत् युवाभ्याञ्च युष्मत् ॥ ८ ॥

तव युवयोर्युष्माकं त्वयि युष्मासु भारती ।

उपलक्षणमचैव अऽभलन्ताश्च ते स्मृताः ॥ ९ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे नपुंसकशब्दसिद्धरूपं नाम

द्विपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ त्रिपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

कारकं ।

स्फुट उवाच । कारकं सम्यक्ख्यामि विभक्त्यर्थसमन्वितं ।
यामोऽस्ति हेमहाकेह नौमि विष्णुं त्रिया सह ॥ १ ॥
स्वतन्त्रः कर्त्ता विद्यान्तं कृतिनः समुपासते ।
हेतुकर्त्तालभ्यते हितं वै कर्मकर्त्तरि ॥ २ ॥
स्वयं भिद्येत् प्राक्ततधीः स्वयञ्च ह्रियते तरुः ।
कर्त्ताऽभिहित उत्तमः कर्त्ताऽनभिहितोऽधमः ॥ ३ ॥
कर्त्ताऽनभिहितो धर्मः शिष्ये व्याख्यायते यथा ।
कर्त्ता पञ्चविधः प्रोक्तः कर्म सप्तविधं शृणु ॥ ४ ॥
ईप्सितं कर्म च यथा अहधाति हरिं यतिः ।
अनीप्सितं कर्म यथा अहिं लङ्घयते भृशं ॥ ५ ॥
नैवेप्सितं नानीप्सितं दुग्धं सन्धयन्नृजः ।
भक्षयेदप्यकथितं गोपालो दोग्धि गां पयः ॥ ६ ॥
कर्तृकर्माऽथ गमयेच्छिष्यं ग्रामं गुरुर्यथा ।
कर्म चाभिहितं पूजा क्रियते वै श्रिये हरेः ॥ ७ ॥
कर्मानभिहितं स्तोत्रं हरेः कुर्यात्तु सर्व्वदं ।
करणं द्विविधं प्रोक्तं वाङ्ममभ्यन्तरं तथा ॥ ८ ॥
चक्षुषा रूपं गृह्णाति वाङ्मं दात्रेण तन्मुनेत् ।
सम्प्रदानं त्रिधा प्रोक्तं प्रेरकं ब्राह्मणाय गां ॥ ९ ॥

नरो ददाति नृपतये दासन्तदनुमन्तृकं ।
 अनिराकर्तृकं भर्त्से दद्यात् पुष्याणि सज्जनः ॥ १० ॥
 अपादानं हिधा प्रोक्तं चलमश्वात्तु घावतः ।
 पतितश्चाचलं ग्रामादागच्छति स वैष्णवः ॥ ११ ॥
 चतुर्धा चाधिकरणं व्यापकन्दन्नि वै हृतम् ।
 तिलेषु तैलं देवार्थमौपश्लेषिकमुच्यते ॥ १२ ॥
 गृहे तिष्ठेत् कपिहृत्से स्मृतं वैशयिकं यथा ।
 जले मस्यो वने सिंहः स्मृतं सामीप्यकं यथा ॥ १३ ॥
 गङ्गायां घोषो वसति औपचारिकमीदृशं ।
 तृतीया वाद्य वा षष्ठी स्मृताऽनभिहिते तथा ॥ १४ ॥
 विष्णुः सम्पूज्यते लोकैर्गन्तव्यन्तेन तस्य वा ।
 प्रथमाऽभिहितकर्त्तृकर्म्मणोः प्रथमेद्वरिम् ॥ १५ ॥
 द्वेतो तृतीया चान्नेन वसेदृक्षाय वै जलं ।
 चतुर्थी तादर्थ्येऽभिहिता पञ्चमी पर्युपास्तु खैः ॥ १६ ॥
 योगे वृष्टः परि ग्रामाद्देवोऽयं बलवत् पुरा ।
 पूर्व्वीं ग्रामादृते विष्णीर्न मुक्तिरितरो हरेः ॥ १७ ॥
 पृथग्विनाद्यैस्तृतीया पञ्चमी च तथा भवेत् ।
 पृथग्ग्रामाद्दिहारेण विना श्रीश्च त्रिया त्रियः ॥ १८ ॥
 कर्म्मप्रवचनीयाख्यैर्द्वितीया योगतो भवेत् ।
 अन्वर्जुनश्च योद्धारो ह्यभितो ग्राममीरितं ॥ १९ ॥
 नमःस्वाहास्वधास्वस्तिवषडाद्यैश्चतुर्थ्यपि ।
 नमो देवाय ते स्वस्ति तुमर्थाद्भाववाचिनः ॥ २० ॥
 पाकाय पक्तये याति तृतीया सद्दयोगके ।

हेत्वर्थं कुक्षितेऽङ्गे सा तृतीया च विशेषणे ॥ २१ ॥
 पिताऽगाव्ह पुत्रेण काणोऽष्टा गदया हरिः ।
 अर्थेन निवसेद्भृत्यः काले भावे च समसौ ॥ २२ ॥
 विष्णो नते भवेन्मुक्तिर्वसन्ते स गतो हरिम् ।
 नृणां स्वामी नृषु स्वामी नृणामीशः सताम्पतिः ॥ २३ ॥
 नृणां साक्षी नृषु साक्षी गोषु नाद्यो गवाम्पतिः ।
 गोषु सूतो गवां सूतो राज्ञां दाय्यादकोऽस्त्रिह ॥ २४ ॥
 अन्नस्य(१) हेतोर्वसति षष्ठी स्मृत्यर्थकर्मणि ।
 मातुः स्मरति गोप्तारं नित्यं स्यात् कर्तृकर्मणोः ।
 अपां भेत्ता तव कृतिर्न निष्ठादिषु षष्ठ्यपि ॥ २५ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे कारकं नाम त्रिपञ्चाश-
 दधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ चतुःपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

समासः ।

स्कण्डठवाच । षोढा समासं वक्ष्यामि अष्टाविंशतिधा पुनः ।
 नित्यानित्यविभागेन लुगलोपेन च द्विधा ॥ १ ॥
 कुम्भकारश्च नित्यः स्याद्देमकारादिकस्तथा ।
 राज्ञः पुमान् राजपुमान् नित्योऽयञ्च समासकः ॥ २ ॥

१ अर्थस्येति ज० ।

कष्टत्रितो लुक्समासः कण्ठिकालादिकस्त्वलुक् ।
 स्यादष्टधा तत्पुरुषः प्रथमाद्यसुपा सह ॥ ३ ॥
 प्रथमात्तत्पुरुषोऽयं पूर्वं कायस्य विग्रहे ।
 पूर्वकायोऽपरकायो ह्यधरोत्तरकायकः ॥ ४ ॥
 अर्धं कणाया अर्धकणा भिच्चातूर्यमथेष्टशम् ।
 आपन्नजीविकस्तद्वत् द्वितीया चाधरात्रितः ॥ ५ ॥
 वर्षभोग्यो वर्षभोग्यो धान्यार्थश्च तृतीयया ।
 चतुर्थी स्याद्विष्णुबलिर्द्विकभीतिश्च पञ्चमी ॥ ६ ॥
 राज्ञः पुमान् राजपुमान् षष्ठी वृक्षफलं तथा ।
 सप्तमी चाक्षशौण्डोऽयमद्विती नञ्समासकः ॥ ७ ॥
 कर्मधारयः सप्तधा नीलोत्पलमुखाः स्मृताः ।
 विशेषणपूर्वपदो विशेष्योत्तरतस्तथा ॥ ८ ॥
 वैयाकरणखसृचिः शीतोष्णं द्विपदं शुभम् ।
 उपमानपूर्वपदः शङ्खपाण्डुर इत्यपि ॥ ९ ॥
 उपमानीत्तरपदः पुरुषव्याघ्र इत्यपि ।
 सम्भावनापूर्वपदो गुणवृद्धिरितीष्टशम् ॥ १० ॥
 गुण इति वृद्धिर्वाच्या सुष्टदेव सुवन्भुक्तः ।
 अवधारणपूर्वपदो बहुव्रीहिस्य सप्तधा ॥ ११ ॥
 द्विपदश्च बहुव्रीहिरारूढभवनी नरः ।
 अर्चिताशेषपूर्व्वयं बहुङ्घ्रिः परिकीर्तितः ॥ १२ ॥
 एते विप्राद्योपदशाः सङ्ख्यात्तरपदस्त्वयम् ।
 सङ्ख्याभयपदो यद्वद्विवा हेरकत्रयो नरः ॥ १३ ॥
 सहपूर्वपदीऽयं स्यात् समूलीकृतकास्त रः ।

व्यतिहारलक्षणार्थः केशाकेशि नखानखि ॥ १४ ॥

दिग्लक्ष्या स्याद्दक्षिणपूर्वा दिगुराभाषितो द्विधा ।

एकवद्भावि द्विगुणं पञ्चमूली त्वनेकधा ॥ १५ ॥

इन्दः समासो द्विविधो हीतरेतरयोगकः ।

रुद्रविष्णू समाहारी भेरीपटहमीदृशम् ॥ १६ ॥

द्विधाख्यातोऽव्ययीभावो नामपूर्वपदो यथा ।

शाकस्य मात्रा शाकप्रति यथाऽव्ययपूर्वकः ॥ १७ ॥

उपकुम्भश्चोपरथ्यं प्राधान्येन चतुर्विधः ।

उत्तरपदार्थमुख्यो इन्दश्चोभयमुख्यकः ।

पूर्वार्थोऽव्ययीभावो बहुव्रीहिस्य वाह्यगः ॥ १८ ॥

इत्यान्वये महापुराणे व्याकरणे समासो नाम चतुःपञ्चाश-
दधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

तद्धितं ।

स्कन्द उवाच । तद्धितं त्रिविधं वक्ष्ये सामान्यवृत्तिरीदृशी ।

ले व्यंसलो वक्षलः स्यादिलचि स्यात्तुफेनिलं ॥ १ ॥

लोमशः श्रे पामनो ने इलचि स्यात्तु पिच्छिलं ।

अणि प्राञ्ज आर्चकः स्यात् दन्तादुरचि दन्तुरः ॥ २ ॥

रे स्यान्मधुरं सुशिरं रे स्यात् केशर ईदृशः ।

हिरण्यं ये मालवी वे वलचि स्याद्रजस्रलः ॥ ३ ॥
 इनो धनी करी हस्ती धनिका टिकनीरितं ।
 पयस्वी विनि मायावी ऊर्णायुर्युचि ईरितं ॥ ४ ॥
 वाग्मी मिनि भालचि स्याद्वाचालघाटचौरितं ।
 फलिनी वर्हिणः केकी इन्दारकस्तथा कनि ॥ ५ ॥
 भालुचि शीतन्न सहते शीतालुः भालुरीट्टशः ।
 हिमालुरालुचि स्याच्च हिमं न सहते तथा ॥ ६ ॥
 रूपं वातादुलचि स्याद् वातुलघानपत्यके ।
 वाशिष्ठः कौरवी वासः पाञ्चालः सीस्य वासकः ॥ ७ ॥
 तत्र वासी माधुरः स्याद्वैत्यधीते च चान्द्रकः ।
 व्युत्क्रमं वेत्ति क्रमकः नरचक्राम कौशकः ॥ ८ ॥
 प्रियङ्गूनां भवं चेत्रं प्रियङ्गवीनकं खञ्जि ।
 मौञ्जीनं कौद्रवीणञ्च वैदेहघानपत्यके ॥ ९ ॥
 इञ्जि दाक्षिर्दाशरथिः कचि नारायणादिकं ।
 आश्वायनः स्याच्च फञ्जि यचि गार्ग्यश्च वास्तकः ॥ १० ॥
 ठकि स्याद्देनतेयादिषाटकेरस्तथैरकि ।
 ठ्रकि गौधेरको रूपं गौधारशारकीरितं ॥ ११ ॥
 चत्रियो वे कुलीनः खे ण्ये कैरव्यादयः स्मृताः ।
 यति मूर्धन्यमुख्यादिः सुगन्धिरिति रूपकं ॥ १२ ॥
 तारकादिभ्य इतचि नभस्तारकितादयः ।
 अनङ्कि स्याच्च कुण्डोष्ठी पुष्यधन्वसुधन्वनी ॥ १३ ॥
 चञ्चुपि वित्तचञ्चुः स्याद्वित्तमस्य च शब्दके ।
 चणपि स्यात् केशचणः रूपे स्यात् पटरूपकम् ॥ १४ ॥

ईयसो च पटीयान् स्यात् तरप्यचतरादिकम् ।
 पचतितराच्च तरपि तमप्यटतितमामपि ॥ १५ ॥
 ऋहीतमा कल्पपि स्यादिन्द्रकल्पोऽर्ककल्पकः ।
 राजदेशीयो देशीये देश्ये देश्यादिरूपकम् ॥ १६ ॥
 पटुजातीयो जातीये जानुमात्रञ्च मात्रचि ।
 ऊरुहयसो हयसचि उरुदन्नञ्च दन्नचि ॥ १७ ॥
 तयटि स्यात् पञ्चतयः दौवारिकष्ठकीरितं ।
 सामान्यवृत्तिरुक्ताऽथ अव्ययाख्यश्च तद्धितः ॥ १८ ॥
 यस्माद्यतस्तसिलि च यत्र तत्र त्रलीरितं ।
 अस्मिन् काले ह्यधुनास्यादिदानीञ्चैव दान्यपि ॥ १९ ॥
 सर्वस्मिन् सर्वदा दास्यात्तस्मिन्काले हिंलीरितं ।
 तर्हि होऽस्मिन् काल इह कर्हि कस्मिंश्च कालके ॥ २० ॥
 यथा थालि थमि कथं पूर्वस्यान्दिशि सञ्चयेत् ।
 अस्ताति चैव पूर्वस्याः पूर्वादिग्रामणीयकाः ॥ २१ ॥
 पुरस्तात् सञ्चरेद् गच्छेत् सद्यस्तुल्येऽहनीरितं ।
 उति पूर्वाब्दे च परत् पूर्वतरे परार्थ्यपि ॥ २२ ॥
 एषमोऽस्मिन् संवत्सरे रूपं समसि चेरितं ।
 एयवौ परेयवि स्यात् परस्मिन्नहनीरितं ॥ २३ ॥
 अथास्मिन्नहनि ये स्यात् पूर्वेषुश्च तथैद्युसि ।
 दक्षिणस्यान्दिशि वसेत् दक्षिणाहक्षिणाद्युभौ ॥ २४ ॥
 उत्तरस्यान्दिशि वसेदुत्तरादुत्तराद्युभौ ।
 उपरि वसेदुपरिष्ठाद् भवेद्विष्ठाति ऊर्ध्वकात् ॥ २५ ॥
 उत्तरेण च पित्रोक्तं प्राचि च स्याच्च दक्षिणा ।

आहो दक्षिणाहि वसेद्विप्रकारं द्विधा च धा ॥ २६ ॥
 ध्वमुञ्जि चैकध्वं कुरु त्वं द्वैधन्वमुञ्जि चेदृशं ।
 द्वौ प्रकारौ द्विधा धाचि(१) आसुसुरतरं यथा(२)* ॥२७॥
 निपातास्तद्धिताः प्रोक्ताः तद्धितो भाववाचकः ।
 पटोर्भावः पटुत्वन्त्वे पदुता तल्लिचेरितं ॥ २८ ॥
 प्रथिमा चेमनि पृथोः सौख्यं सुखात् अञ्जीरितम् ।
 स्तेयं याति च स्तेनस्य ये सख्युः सख्यमीरितं ॥ २९ ॥
 कपेर्भावश्च कापेयं सैन्यं पथ्यं यकीरितं ।
 आश्वं कौमारकं चाणि रूपं चाणि च यौवनम् ।
 आचार्यकं कणि प्रोक्तमेवमन्येपि तद्धिताः ॥ ३० ॥
 इत्याम्नेये महापुराणे व्याकरणे तद्धितसिद्धरूपं नाम
 पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षट्पञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

उणादिसिद्धरूपम् ।

कुमार उवाच । उणादयोऽभिधास्यन्ते प्रत्यया धातुतः परे ।
 उणि कारुश्च शिल्पी स्यात् जायुर्न्नायुश्च पित्तकं ॥ १ ॥
 गोमायुर्वायुर्वेदेषु बहुलं स्युरुणादयः ।

१ पाठोऽयं पीनरुक्तादीषेण दुष्टः ।

२ स्वयं सुष्ठुतरा यथेति ज० । असुसुतरा यथेति ङ० ।

● पाठोऽयं, एतत्पाठस्यशाभिहितपाठान्तरं न सम्यक् प्रतिभाति ।

आयुः स्वादुश्च हेत्वाद्याः किंशारुर्धान्यशूककः ॥ २ ॥
 ककवाकुः कुक्कुटः स्याद् गुरुर्मर्त्ता मरुस्तथा ।
 शयुश्चाजगरो ज्ञेयः स हरायुधमुच्यते ॥ ३ ॥
 स्वरुर्वज्रं नपुरुसि समसारं फल्गुरीरितं ।
 गृध्रश्च क्रानि किरचि मन्दिरं तिमिरं तमः ॥ ४ ॥
 इलाचि सलिलं वारि कल्याणं भण्डिलं स्मृतं ।
 बुधो विहान् कसो स्याच्च शिविरं गुप्तसंस्थितिः ॥ ५ ॥
 श्रोतुर्विडालश्च तुनि अभिधानादुगादयः ।
 कर्णः कामी च गृहभूर्वास्तुजवाढकः स्मृतः ॥ ६ ॥
 अनड्वान् वहतेर्विनि स्याज्जातो जीवार्णवीषधं ।
 नौ वल्लिरिननि हरिणः सृगः कामी च भाजनम्(१)॥७॥
 कम्बोजी भाजनश्चाण्डं सरण्डश्च चतुष्पदः ।
 तरुरेरण्डः सङ्घातो वरूङ्गः साम निर्भरं ॥ ८ ॥
 स्फारं प्रभूतं स्यान्नान्तप्रत्यये चीरवल्कलं ।
 कातरो भौरुग्रस्तु प्रचण्डो जवसं लणं ॥ ९ ॥
 जगश्चैव तु भूर्लीको कृशानुर्ज्योतिरर्ककः ।
 वर्वरः कुटिलो धूर्त्तश्चत्वरश्च चतुष्पदं ॥ १० ॥
 चीवरं भिक्षुप्रावृत्तिरादित्यो मित्र ईरितः ।
 पुत्रः सनुः पिता तातः पृदाकुर्व्यान्नृषिके ।
 गर्त्तोऽवटोऽथ भरतो नटोऽपरेप्युणादयः ॥ ११ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे उणादिसिद्धरूपं नाम षट्-
 पञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

क्रीडतिर्हृत्तो ग्रहिवीरिः पा नीरर्चिश्च नायकाः ।
 भुवि स्यात् तिङ् भवति सः भवतस्तौ भवन्ति ते ॥ १० ॥
 भवसि त्वं युवां भवद्यो यूयं भवथ चाप्यहं ।
 भवाम्यावां भवावस्य भवामो ह्येधते कुलं ॥ ११ ॥
 एधेते द्वे तथैधन्ते एधसे त्वं हि मेधया ।
 एधेथे च समेधध्वे एधे ह्येधावहे धिया ॥ १२ ॥
 एधामहे हरेर्भक्त्या पचतीत्यादि पूर्व्ववत् ।
 भूयतेऽनुभूयते ऽसौ भावे कर्मणि वै यकि ॥ १३ ॥
 बुभूषति समीत्येवं णिचि भावयतीश्वरं ।
 यङि वोभूयते वाचं वोभोति स्याच्च यङ्लुकि ॥ १४ ॥
 पुत्रोयति पुत्रकाम्यत्वेवं पटपटायते ।
 घटयत्यऽथ सनि णिचि बुभूषयति रूपकं ॥ १५ ॥
 भवेद्भवेताच्च लिङि भवेयुश्च भवेः परे ।
 भवेतश्च भवेतैवं भवेयश्च भवेव च भवेम च ॥ १६ ॥
 एधेत एधेयातामेधेरन् मनसा त्रिधा ।
 एधेयाश्च एधेयाथामेधेध्वमेधेय एधेवहि एधेमहि ॥ १७ ॥
 अस्तु तावद्भवता लोटि भवन्तु भवताद्भव ।
 भवतं भवत भवानि भवाव च भवाम च ॥ १८ ॥
 एधतामेधेतामेधन्तामेधै पचावहे पचामहे ।
 अभ्यनन्दपचतामधन्नपचस्तथा ॥ १९ ॥
 अभवतमभवतापचमपचावापचाम च ।
 ऐधतैधेतामैधध्वं ऐधे चैधामहीरितं ॥ २० ॥
 अभूद्भूतामभूवनभूषाभूवमेव लुङ् ।

ऐधिष्टैधिषातां नरावैधिष्ठा ऐधिषीदृशं ॥ २१ ॥
 लिटि बभूव बभूवतुः बभूवुश्च बभूविय ।
 बभूवथुर्वभूव च बभूविव बभूविम ॥ २२ ॥
 पेचे पेचाति पेचिरे त्वमेधाञ्चकषे तथा ।
 एधाञ्चक्राथे पेचिध्वे पेचे पेचिमहे तथा ॥ २३ ॥
 लुटि भविता भवितारौ भवितारौ हरादृयः ।
 भवितासि भवितास्यौ भवितास्त्रस्तथा वयं ॥ २४ ॥
 पक्ता पक्तारौ पक्तादः पक्तासे त्वं शुभौदनं ।
 पक्ताध्वे पक्ताहे चाहं पक्तास्त्रहे हरेष्वरं ॥ २५ ॥
 लिङ्गाशिषि सुखं भूयात् मूयास्तां हरिशङ्करौ ।
 भूयासुस्ते च भूयास्त्वं युवां भूयास्तमौश्वरौ ॥ २६ ॥
 भूयास्त यूयं भूयासमहं भूयास्त्र सर्व्वदा ।
 यच्चीष्ट ह्ये धिषीयास्तां यच्चीरन्ने धिसीय च ॥ २७ ॥
 यच्चीवह्ये धिसीमहि लिङ्गि चायस्यतेति लृङ् ।
 अयस्येतामयस्यन्तायस्ये ऽयस्येथां युवां ॥ २८ ॥
 अयस्यध्वमैधिष्यावह्यै धिष्याम ह्यरेर्वयम् ।
 लृटि स्याद्भविष्यतीति एधिष्यामह ईदृशम् ॥ २९ ॥
 एवं विभावयिष्यन्ति बोभविष्यति रूपकं ।
 घटयेत् पटयेत्तद्वत् पुत्रीयति च काम्यति ॥ ३० ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे तिङ्शिक्षरूपं नाम
 सप्तपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

कृतसिद्धरूपम् ।

कुमार उवाच । कृतस्त्रिंशपि विज्ञेया भावे कर्मणि कर्त्तरि ।

अज्ज्युट् क्तिन् वज्रो भावे युजकारत एव च ॥ १ ॥

अचि धर्मस्य विनय उत्करः प्रकरस्तथा ।

देवो भद्रः श्रीकरश्च ल्युटि रूपन्तु शोभनम् ॥ २ ॥

क्तिनि वृद्धिस्तुतिमती घञि भावोऽथ युच्यपि ।

कारणा भावनेत्यादि अकारे च चिकित्स्या ॥ ३ ॥

तथा तव्यो ह्यनीयश्च कर्त्तव्यं करणीयकम् ।

देयं ध्येयश्चैव यति ष्यति कार्यश्च कृत्यकाः ॥ ४ ॥

कर्त्तरि क्तादयो ज्ञेया भावे कर्मणि च क्वचित् ।

गती ग्रामं गती ग्राम आश्लिष्टश्च गुरुस्त्वया ॥ ५ ॥

शठ्ङ् शानचौ भवन् एधमानो भवन्त्यपि ।

युष् ह्यचौ सर्वधातुभ्यो भावको भविता तथा ॥ ६ ॥

क्तिवन्तश्च स्वयम्भूश्च भूते लिटः कान्सु कान च ॥

बभूविवान् पेचिवांश्च पेचानः अहृधानकः ॥ ७ ॥

अणि स्युः कुम्भकाराद्या भूतेष्युणादयः स्मृताः ।

त्रायुः पायुश्च कारुः स्याद्दुलं कन्दसौरितं ॥ ८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे व्याकरणे कृतसिद्धरूपं नामा-

ष्टपञ्चाशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथोनषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

स्वर्गपातालादिवर्गाः ।

अग्निर्वाच । स्वर्गादिनामलिङ्गो यो हरिस्त्वं प्रवदामि ते ।

स्वःस्वर्गनाकत्रिदिवा द्योदिवो हे त्रिपिष्टपं ॥ १ ॥

देवा इन्दारका लेखा रुद्राद्या गणदेवताः ।

विद्याधरोऽसुरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ॥ २ ॥

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।

देवद्विषोऽसुरा दैत्याः सुगतः स्यात्तथागतः ॥ ३ ॥

ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठो विष्णुर्नारायणो हरिः ।

रेवतीशो हली रामः कामः पञ्चशरः अरः ॥ ४ ॥

लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा सर्व्वः सर्व्वेश्वरः शिवः ।

कपर्दीऽस्य जटाजूटः पिनाकोऽजगवन्धनुः ॥ ५ ॥

प्रमथाः स्युः पारिषदा मृडानी चण्डिकाऽम्बिका ।

हैमातुरो गजास्यथ सेनानीरग्निभूर्गृहः ॥ ६ ॥

आखण्डलः सुनासीरः सूत्रामाणो दिवस्पतिः ।

पुलोमजा शचीन्द्राणी देवी तस्य तु वल्लभा ॥ ७ ॥

स्यात् प्रासादो वैजयन्तो जयन्तः पाकशासनिः ।

ऐरावतेऽभ्रमातङ्गै रावणाभ्रमुवल्लभाः ॥ ८ ॥

ऋदिनी वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशम्बिदुरं पविः ।

व्योमयानं विमानोऽस्त्री पीयूषममृतं सुधा ॥ ९ ॥

स्यात् सुधर्म्या देवसभा स्वर्गङ्गा सुरदीर्घिका ।
 स्त्रियां बहुष्वप्सः स्वर्वेश्या उर्व्वशीमुखाः ॥ १० ॥
 हाहा ह्रह्रश्च गन्धर्व्वा अग्निर्वक्त्रिर्धनञ्जयः ।
 जातवेदाः कृष्णवर्मा आश्रयाशश्च पावकः ॥ ११ ॥
 हिरण्यरेताः समाधिः शुक्रश्चैवाशुशुच्यणिः ।
 शुचिरप्पित्तमौर्व्वस्तु वाडवो वडवानलः ॥ १२ ॥
 वङ्गेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्धिर्हेतिः शिखा स्त्रियां ।
 त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणो धर्मराजः परेतराट् ॥ १३ ॥
 कालोऽन्तको दण्डधरः आद्देवोऽथ राक्षसः ।
 कौणपास्रपक्रव्यादा यातुधानश्च नैर्ऋतिः ॥ १४ ॥
 प्रचेता वरुणः पाशी श्वसनः स्पर्शनोऽनिलः ।
 सदागतिर्मातरिश्वा प्राणो मरुत् समीरणः ॥ १५ ॥
 जवो रंहस्तरसी तु लघुच्चिप्रमरन्दुतम् ।
 सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च ॥ १६ ॥
 सततेऽनारताश्रान्तसन्तताविरतानिशं ।
 नित्यानवरताजस्रमप्यथातिशयो भरः ॥ १७ ॥
 अतिवेलभृशाल्यर्धातिमातीद्गाटनिर्भरम् ।
 तीत्रैकान्तनितान्तानि गाढवाट्टट्टानि च ॥ १८ ॥
 गुञ्जकेशो यक्षराजो राजराजो धनाधिपः ।
 स्यात् किन्नरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः ॥ १९ ॥
 निधिर्ना सेवधिव्योम त्वभ्रं पुष्करमम्बरम् ।
 द्योदिवो चान्तरीचं खं काष्ठाशककुभो दिशः ॥ २० ॥
 अभ्यन्तरन्वन्तरालश्चक्रवाङ्गन्तु मण्डलं ।

तडित्वान् वारिदो मेघस्तनयिद्भुर्वलाहकः ॥ २१ ॥
 कादम्बिनी मेघमाला स्तनितं गर्जितं तथा ।
 शम्पाशतक्रदाङ्गादिन्धैरावत्यः क्षणप्रभाः ॥ २२ ॥
 तडित्क्षौदामिनी विदुश्चञ्चला चपलाऽपि च ।
 स्फुर्जथुर्व्वर्जनिष्वेषी वृष्टिघातस्त्ववग्रहः ॥ २३ ॥
 धारा सम्पात आशारः शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः ।
 वर्षोपलस्तु करका मेघक्रेऽङ्गि दुर्हितं ॥ २४ ॥
 अन्तर्धा व्यवधा पुंसि त्वन्तर्द्विरपवारणं ।
 अपिधानतिरोधानपिधानच्छदनानि च ॥ २५ ॥
 अजो जैवाहकः सोमो ग्लौर्गङ्गाङ्गः कलानिधिः ।
 विधुः कुमुदवन्धुश्च विम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु ॥ २६ ॥
 कला तु षोडशी भागो भिक्तं शकलखण्डके ।
 चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना प्रसादस्तु प्रसन्नता ॥ २७ ॥
 लक्ष्यं लक्ष्मकं चिह्नं शोभा कान्तिर्युतिश्छविः ।
 सुषमा परमा शोभा तुषारस्तुहिनं हिमं ॥ २८ ॥
 अवशायस्तु नौहारः प्रालेयः शिशिरो हिमः ।
 नक्षत्रमृच्चं भन्तारा तारका प्युडु वा स्त्रियां ॥ २९ ॥
 गुरुर्जीव आङ्गिरस उग्रना भार्गवः कविः ।
 विधुस्तुदस्तमो राहुर्लम्बं राशुदयः स्मृतः ॥ ३० ॥
 सप्तर्षयो मरीच्यत्रिसुखाच्चित्रशिखण्डिनः ।
 हरिदश्वत्रध्रुपूष्युमणिर्भिहिरो रविः ॥ ३१ ॥
 परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले ।
 क्लिरोऽस्त्रमयूखांशुगभस्तिष्टुणिष्टुण्ययः ॥ ३२ ॥

भानुः करो मरुचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियां ।
 स्युः प्रभा बभ्रुचिस्त्रिवड्भाभाञ्छ्विद्युतिदौसयः ॥ ३३ ॥
 रोचिः शोचिरुभे क्लीवे प्रकाशो द्योत आतपः ।
 कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति ॥ ३४ ॥
 तिग्मं तीक्ष्णं खरं तद्दृष्टोऽनेहा च कालकः ।
 वस्रो दिनाहनी चैव सायंसन्ध्या पितृप्रसूः ॥ ३५ ॥
 प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्पमुषःप्रत्यूषसी अपि ।
 प्राज्ञापराह्णमध्याह्नास्त्रिसन्ध्यमथ शर्व्वरी ॥ ३६ ॥
 यामी तमी तमिस्त्रा च ज्योत्स्नी चन्द्रिकयान्विता ।
 आगामिवर्त्तमानाह्युक्तायां निशि पक्षिणी ॥ ३७ ॥
 अर्द्धरात्रनिशीथी द्वौ प्रदोषो रजनौमुखं ।
 स पर्व्वसन्धिः प्रतिपत्पञ्चदशोर्यदन्तरम् ॥ ३८ ॥
 पक्षान्तो पञ्चदशो द्वे पौर्णमासी तु पूर्णिमा ।
 कलाह्वीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे ॥ ३९ ॥
 अमावास्या त्वमावस्या दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः ।
 सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुङ्कः ॥ ४० ॥
 संबर्त्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि ।
 कलुषं वृजिनैनोऽघमंहोदुरितदुष्कृतम् ॥ ४१ ॥
 स्याद्वर्ष्मस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वषः ।
 सुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्भवाः ॥ ४२ ॥
 स्यादानन्दधुरानन्दः शर्ष्मशातसुखानि च ।
 ऋः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम् ॥ ४३ ॥
 भावुकं भविकं भव्यं कुशलं चेममस्त्रियां ।

देवं दिष्टं मागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः ॥ ४४ ॥
 क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियां ।
 हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम् ॥ ४५ ॥
 चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृत्मानसम्भनः ।
 बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा श्रेमुषी मतिः ॥ ४६ ॥
 प्रेक्षोपलब्धिसिद्धित्सम्बित्प्रतिपज्जसिचेतनाः ।
 धीर्धारणावती मेधा सङ्कल्पः कर्म मानसं ॥ ४७ ॥
 सङ्ख्या विचारणा चर्चा विचिकित्सा तु संशयः ।
 अध्याहारस्तर्क ऊहः समी निर्णयनिश्चयो ॥ ४८ ॥
 मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता भ्रान्तिर्निर्मिथ्यामतिर्भ्रमः ।
 अङ्गीकाराभ्युपगमप्रतिश्रवसमाधयः ॥ ४९ ॥
 मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।
 मुक्तिः कैवल्यनिर्व्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतं ॥ ५० ॥
 मोक्षोऽपवर्गोऽथाज्ञानमविद्याहृन्मतिः स्त्रियां ।
 विमर्दीत्ये परिमलो गन्धे जनमनोहरे ॥ ५१ ॥
 आमोदः सोऽतिर्निर्हरी सुरभिर्घ्राणतर्पणः ।
 शुकुशुभ्रशुचिश्चेतविशदश्चेतपाण्डुराः ॥ ५२ ॥
 अवदातः सितो गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः ।
 हरिणः पाण्डुरः पाण्डुरीषत्पाण्डुस्तु धूसरः ॥ ५३ ॥
 कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः ।
 पीतो गौरो हरिद्राभः पालाशो हरितो हरित् ॥ ५४ ॥
 रोहितो लोहितो रक्तः शोणः कोकनदच्छविः ।
 अव्यक्तरागस्वरुणः श्वेतरक्तसु पाटलः ॥ ५५ ॥

श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते ।
 कङ्कारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौकट्टुपिङ्गलौ ॥ ५६ ॥
 चित्रं किर्णैरिक्लमाषश्वलैताश्च कर्बुरे ।
 व्याहार उक्तिर्लपितमपभ्रंशोऽपशब्दकः ॥ ५७ ॥
 तिङ्सुवन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता ।
 इतिहासः पुरातत्तं पुराणं पञ्चलक्षणं ॥ ५८ ॥
 आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबन्धः कल्पना कथा ।
 समाहारः संग्रहस्तु प्रवह्निका प्रहेलिका ॥ ५९ ॥
 समस्या तु समासार्था स्मृतिस्तु धर्मसंहिता ।
 आख्याङ्गे चाभिधानञ्च वार्त्ता हत्तान्त ईरितः ॥ ६० ॥
 हृतिराकारणाद्धानमुपन्यासस्तु वाङ्मुखं ।
 विवादी व्यवहारः स्यात् प्रतिवाक्योत्तरे समे ॥ ६१ ॥
 उपोद्घात उदाहारो ह्यथ मिथ्याभिसंश्रनम् ।
 अभिशपो यशः कीर्त्तिः प्रश्रः पृच्छानुयोगकः ॥ ६२ ॥
 आम्नेडितं द्विस्त्रिरुक्तं कुत्सानिन्दे च गर्हणे ।
 स्यादाभाषणमालापः प्रलापोऽनर्थकं वचः ॥ ६३ ॥
 अनुलापो मुहुर्भाषा विलापः परिदेवनं ।
 विप्रलापो विरोधीक्तिः संलापो भाषणं मिथः ॥ ६४ ॥
 सुप्रलापः सुवचनमपलापस्तु निह्ववः ।
 उषती वागकल्याणी सङ्गतं हृदयङ्गमं ॥ ६५ ॥
 अत्यर्थमधुरं सान्त्वमवद्यं स्यादनर्थकं ।
 निष्ठुरास्त्रीलपरुषं ग्राम्यं वै सुमृतं प्रिये ॥ ६६ ॥
 सत्यं तथ्यमृतं सम्यङ्नादनिस्वाननिस्वनाः ।

आरवारावसंरावविरावा अथ मर्भरः ॥ ६७ ॥
 खनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानाम् शुश्रितं ।
 वीणाया निक्षणः क्वाणः तिरथां वाश्रितं रतं ॥ ६८ ॥
 कीलाहलः कलकलो गीतं गानमिमे समे ।
 स्त्री प्रतिश्रुत् प्रतिध्वाने तन्त्रीकण्ठान्निसादकः ॥ ६९ ॥
 काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्तुटे ।
 कली मन्त्रस्तु गम्भीरे तारोऽत्युच्चैस्त्रयस्त्रिषु ॥ ७० ॥
 समन्वितलयस्त्रे कताली वीणा तु वल्लकी ।
 विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी ॥ ७१ ॥
 ततं वीणादिकं वाद्यमानव्यं सुरजादिकं ।
 वंश्यादिकन्तु शुभिरं कांस्यतालादिकं घनं ॥ ७२ ॥
 चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकं ।
 मृदङ्गा सुरजा भेदास्त्वङ्ग्यालिङ्गोऽर्षकास्त्रयः ॥ ७३ ॥
 स्याद्यशःपटहो टक्का भेर्यामानकदुन्दुभिः ।
 आनकः पटहो भेदा भूर्भरौडिण्डिमादयः ॥ ७४ ॥
 मर्दलः पणवस्तुष्वौ क्रियामानन्तु तालकः ।
 लयः साम्यं ताण्डवन्तु नाट्यं लास्यञ्च नर्तनं ॥ ७५ ॥
 तीर्थत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम् ।
 राजा भट्टारको देवः साभिषेका च देव्यपि ॥ ७६ ॥
 शृङ्गारवीरकरुणाङ्गुतहास्यभयानकाः ।
 वीभत्सरोद्रे च रसाः शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः ॥ ७७ ॥
 उक्ताहवर्षनो वीरः कारुण्यं करुणा घृणा ।
 कृपा दया चानुकम्पाऽप्यनुक्रोशोऽप्यथो हसः ॥ ७८ ॥

हासो हास्यश्च वीभक्षं विकृतं त्रिष्विदं द्वयं ।
 विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रमप्यथ भैरवं ॥ ६६ ॥
 दारुणं भीषणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकं ।
 भयङ्करं प्रतिभयं रौद्रन्तूपममी त्रिषु ॥ ६७ ॥
 चतुर्दश दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसन्धयं ।
 विकारो मानसो भावोऽनुभावो भावबोधनः ॥ ६८ ॥
 गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः ।
 अनादरः परिभवः परिभावस्तिरस्त्रिया ॥ ६९ ॥
 क्रीडा लज्जा त्रपा क्रीः स्यादभिधानं धने स्पृहा ।
 कौतूहलं कौतुकश्च कुतुकश्च कुतूहलं ॥ ७० ॥
 स्त्रीणां विलासविष्णोक्विभ्रमा ललितन्तथा ।
 हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः ॥ ७१ ॥
 द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा लीला च कूर्हनं ।
 स्यादाकुरितकं हासः सीत्प्रासः समनाक्स्मितं ॥ ७२ ॥
 अधोभुवनपातालं च्छिद्रं श्वभ्रं वपा शशिः ।
 गर्त्तावटौ भुवि श्वभ्रे तमिन्नन्तिमिरं तमः ॥ ७३ ॥
 सर्पः पृदाकुर्भुजगो दन्दशूको विलेशयः ।
 विषं श्वेडश्च गरलं निरयो दुर्गतिः स्त्रियां ॥ ७४ ॥
 पयः कौलालममृतमुदकं भुवनं वनं ।
 भङ्गस्तरङ्ग जर्भिर्व्या कम्प्लीलीक्रीलकौ च तौ ॥ ७५ ॥
 पृषन्तिविन्दुपृषताः कूलं रोधश्च तीरकं ।
 तोयोत्थितं तत् पुलिनं जम्बालं पङ्ककर्दमौ ॥ ७६ ॥
 जलीच्छासाः परीवाहाः कूपकास्तु विदारकाः ।

आतरस्तरपख्यं स्याद्द्रीणी काष्ठाब्जुवाहिनी ॥ ७७ ॥
 कलुषश्याविलोऽच्छस्तु प्रसन्नोऽथ गभीरकं ।
 अगाधं दासकैवर्त्तौ शम्बूका जलशुक्तयः ॥ ७८ ॥
 सौगन्धिकस्तु कङ्कारं नीलमिन्दीवरं कजं ।
 स्यादुत्पलं कुवलयं सिते कुमुदकैरवे ॥ ७९ ॥
 शालूकमेषां कन्दः स्यात् पद्मं तामरसङ्गजं ।
 नीलोत्पलं कुवलयं रत्नं कोकनदं स्मृतम् ॥ ८० ॥
 करहाटः शिफा कन्दं किञ्चल्कः केशरोऽस्त्रियां ।
 खनिः स्त्रियामाकरः स्यात् पादाः प्रत्यन्तपर्वताः ॥ ८१ ॥
 उपत्यकाद्विरासना भूमिरुर्ध्वमधित्यका ।
 स्वर्गपातालवर्गाद्या उक्ता नानार्थकान् शृणु ॥ ८२ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे स्वर्गपातालादिवर्गा नामो नवम्य-
 धिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ००० —

अव्ययवर्गाः ।

अन्नित्वाच्च । आङ्गीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे ।

आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येऽप्यास्तु स्यात् कोपपीडयोः ॥ १ ॥

पापकुत्सेषदर्थे कु धिग्जुगुप्सननिन्दयोः ।

चान्वाचयसमाहारेतरेतरसमुच्चये ॥ २ ॥

स्वस्थाशौःक्षेमपुण्यादौ प्रकर्षे लङ्घनेऽप्यति ।
 स्त्रित्प्रश्ने च वितर्के च तु स्याद्भेदेऽवधारणे ॥ ३ ॥
 सकृत्सहैकवारे स्यादाराहूरसमीपयोः ।
 प्रतीच्यां चरमे पश्चादुताप्यर्थविकल्पयोः ॥ ४ ॥
 पुनःसदार्थयोः शश्वत् साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः ।
 खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे वत ॥ ५ ॥
 हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्वारभविषादयोः ।
 प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः ॥ ६ ॥
 इति हेतौ प्रकरणे प्रकाशादिसमाप्तिषु ।
 प्राच्यां पुरस्तात् प्रथमे पुरार्थेऽग्रत इत्यपि ॥ ७ ॥
 यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे ।
 मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्नेष्वऽथोथ च ॥ ८ ॥
 वृथा निरर्थकाविध्योर्नानाऽनेकीभयार्थयोः ।
 नु पृच्छायां विकल्पे च पश्चात्मादृश्योरनु ॥ ९ ॥
 प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु ।
 गर्हासमुच्चयप्रश्नयङ्कासम्भावनास्तऽपि ॥ १० ॥
 उपमायां विकल्पे वा सामित्वेर्जुगुप्सिते ।
 अमा सह समीपे च कं वारिणि च मूर्धनि ॥ ११ ॥
 इवेत्थमर्थयोरेवं नूनं तर्केऽर्थनिश्चये ।
 तूष्णीमर्थे सुखे जीषं किम्पृच्छायां जुगुप्सने ॥ १२ ॥
 नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रीधोपगमकुत्सने ।
 अलं भूषणपर्यामिशक्तिवारणवाचकम् ॥ १३ ॥

(३५)

हं वितर्कं धरिप्रश्ने समयाऽन्तिकमध्ययोः ।
 पुनरप्रथमे भेदे निर्निषयनिषेधयोः ॥ १४ ॥
 स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा ।
 उर्युं रौ चोररौ च निस्तारेऽङ्गीकृते ष्यम् ॥ १५ ॥
 स्वर्गे परे च लोके स्वर्वात्तासम्भावयोः किल ।
 निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासावसरे (१) खलु ॥ १६ ॥
 समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः ।
 नामप्रकाशयोः प्रादुर्मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि ॥ १७ ॥
 तिरोऽन्तर्हीतिर्यमर्थे हा विषादशुर्गर्तिसु ।
 अहहेत्यद्भुते खेदे हि हेतावधारणे ॥ १८ ॥
 चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः ।
 मुहुः पुनः पुनः शब्दभौष्यमसकृत् समाः ॥ १९ ॥
 स्नाग्भटित्यस्त्रसाहाय्य सपदि द्राक्षद्भु च द्रुते ।
 बलवत् सुष्ठु किमुत विकल्पे किं किमूत च ॥ २० ॥
 तु हि च स्म ह वै पादपूरणे पूजनेऽप्यति ।
 दिवाङ्गीत्यथ दीषा च नक्तञ्च रजनाविति ॥ २१ ॥
 तिर्यगर्थं साचि तिरोऽप्यथ सम्बोधनार्थकाः ।
 स्युः प्याट्पाडङ्ग हे है भोः समया निकषा हिङ्क् ॥ २२ ॥
 अतर्किते तु सहसा स्यात् पुरः पुरतोऽधतः ।
 स्वाहा देवहविर्दाने श्रोषट् वोषट् वषट् स्वधा ॥ २३ ॥
 किञ्चिदीषन्नागल्पे प्रेत्याऽमुत्र भवान्तरे ।

यथा तथा चैव साम्ये अहो हो इति विद्महे ॥ २४ ॥
 मोने तु तूष्णीं तूष्णीकं सद्यः सपदि तत्त्वथे ।
 दिष्ट्या शमुपयोषष्ठेत्यानन्देऽद्यान्तरेऽन्तरा ॥ २५ ॥
 अन्तरेण च मध्ये स्युः प्रसह्य तु इटार्थकम् ।
 युक्ते हे साम्प्रतं स्वानेऽभीष्टान् शश्वदनारते ॥ २६ ॥
 अभावे नह्यनी नापि माघ्य मालञ्च वारथे ।
 प्रचान्तरे चेष्यदि च तस्त्रे त्वऽद्याऽञ्जसा ह्यम् ॥ २७ ॥
 प्राकाशे प्रादुराविः स्यादीमेवं परमं मते ।
 समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि ॥ २८ ॥
 अकामानुमती काममस्योपगमेऽस्तु च ।
 ननु च आहिरोधोक्तौ कश्चित् कामप्रवेदने ॥ २९ ॥
 निःषमं दुःषमं गर्ह्यं यथास्वन्तु यथायथं ।
 मृषा मिथ्या च वितथे यथार्थन्तु यथातथं ॥ ३० ॥
 स्युरेवन्तु पुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः ।
 प्रागतीतार्थकं नूनमवश्यं निश्चये ह्ययं ॥ ३१ ॥
 संवद्वर्षेऽवरे त्वर्वागमेवं स्वयमाजाना ।
 अल्पे नीचैर्महत्त्वुच्चैः प्रायोभून्नाऽद्भुते अनेः ॥ ३२ ॥
 सना नित्ये वह्निर्वाह्ये आतीतेऽस्तमदर्शने ।
 अस्ति सत्त्वे कृषोक्तामसुं प्रश्रेऽनुनये त्वयि ॥ ३३ ॥
 हं तर्के स्यादुषा रात्रेरवसाने नमो नती ।
 पुनरर्थेऽङ्गनिन्दायां दुष्ट, सुष्ठु, प्रशंसने ॥ ३४ ॥
 सात्रं साये प्रगे प्रातः प्रभाते निकषाऽन्तिके ।
 परुत्परार्थेसमोऽब्दे पूर्वं पूर्वतरे यति ॥ ३५ ॥

अद्यात्वाङ्गस्य पूर्वेङ्गीत्यादौ पूर्वोत्तरा परात् ।
 तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः ॥ ३६ ॥
 उभयद्युञ्जीभयेद्युः परे त्वङ्गि परेद्यवि ।
 ह्यो गतेऽनागतेऽङ्गि श्वः परश्वः श्वःपरेऽहनि ॥ ३७ ॥
 तदा तदानीं युगपदेकदा सर्वदा सदा ।
 एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतन्तथा ॥ ३८ ॥
 इत्यान्नेये महापुराणे अव्ययवर्गा नाम षष्ठ्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथैकषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

नानार्थवर्गाः ।

अग्निर्वाच । आकाशे त्रिदिवे नाको लोकस्तु भुवने जने ।
 पद्ये यशसि च श्लोकः शरे खड्गे च सायकः ॥ १ ॥
 आनकः पटही भेरी कलङ्कोऽङ्गापवादयोः ।
 मारुते वेधसि व्रध्ने पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनाः ॥ २ ॥
 स्यात् पुलाकस्तुच्छधान्ये संचेपे भक्तसिक्थके ।
 महेन्द्रगुग्गुलूलकव्यालपाहिषु कौशिकः ॥ ३ ॥
 शालावृको कपिश्वानौ मानं स्यान्मिति साधेनं ।
 सर्गः स्वभावनिर्माचनिश्चयाध्यायसृष्टिषु ॥ ४ ॥
 योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु ।

भोगः सुखे स्यादिभृतावजो शङ्कनिशाकरो ॥ ५ ॥
 काके भगण्डो करटो दुश्कर्मा शिपिविष्टकः ।
 रिष्टं क्षेमाशुभाभावेष्वरिष्टे तु शुभाऽशुभे ॥ ६ ॥
 व्युष्टिः फले समृद्धौ च दृष्टिर्ज्ञानेऽर्ह्य दशने ।
 निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ताः काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि ॥ ७ ॥
 भूगोवाचस्त्रिङ्गा इलाः प्रगाढं भृषकच्छयोः ।
 भृशप्रतिघ्नयोर्वाढं शक्तस्थूलौ दृढौ त्रिषु ॥ ८ ॥
 विन्यस्तसंहतौ व्यूढौ कृष्णो व्यासेऽर्जुने हरौ ।
 पणो दूरतादिषूत्सृष्टे भृती मूल्ये धनेऽपि च ॥ ९ ॥
 मीर्यां द्रव्याश्रिते सत्वशुक्तसन्ध्यादिके गुणः ।
 श्रेष्ठेऽधिपे ग्रामणीः स्यात् जुगुप्साकरुणे घृणे ॥ १० ॥
 दृष्ट्या सृष्ट्यापिपासे द्वे दिपणिः स्याद्वणिक्पथे ।
 विषाभिमरलोद्देषु तीक्ष्णं क्लीवे खरे त्रिषु ॥ ११ ॥
 प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमादेषु ।
 कारणं क्षेत्रगान्नादावीरिणं शून्यमूषरं ॥ १२ ॥
 यन्ता हस्तिपके सृते वङ्गिज्वाला च हेतयः ।
 श्रुतं शास्त्रावधृतयोर्युगपर्याप्तयोः कृतं ॥ १३ ॥
 ख्याते हृष्टे प्रतीतोऽभिजातस्तु कुलजे बुधे ।
 विविक्तौ पूतविजनौ मूर्च्छितौ मूढसोच्छयो ॥ १४ ॥
 अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु ।
 निदानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ ॥ १५ ॥
 प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियां ।
 स्त्री सन्निज्ज्ञानसम्भाषाक्रियाकाराजिनामसु ॥ १६ ॥

धर्मो रहस्युपनिषत् स्वाहृतो वस्तरे शरत् ।
 पदं व्यवसितिवाचस्थानलक्ष्माङ्गिवस्तुषु ॥ १७ ॥
 त्रिष्विष्टमधुरो स्वाहू मृदू चातीस्वकीमसौ ।
 सत्ये साधो विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत् ॥ १८ ॥
 विधिर्विधाने देवेऽपि प्रणिधिः प्रार्थने चरे ।
 वधूर्जाया सुषा स्त्री च सुधालेपोऽमृतं क्षुही ॥ १९ ॥
 सृष्ट्वा सम्प्रत्ययः अद्या पण्डितान्मन्वगर्वितौ ।
 ब्रह्मवन्धुरधिचेपे भानू रश्मिदिवाकरो ॥ २० ॥
 ग्रावाणौ शैलपाषाणौ मूर्खनीचौ पृथग्जनौ ।
 तरुशैलो शिखरिणो तनुस्वग्देहयोरपि ॥ २१ ॥
 आत्मा यज्ञो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्षं च ।
 उत्थानं पौरुषे तन्मे व्युत्थानं प्रतिरोधने ॥ २२ ॥
 निर्यातनं वैरशुद्धौ दाने न्यासार्पणेऽपि च ।
 व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे ॥ २३ ॥
 मृगयाश्चो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
 तीर्थत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ २४ ॥
 पेशून्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
 वाग्दण्डश्चैव पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ २५ ॥
 अकर्म्मगुह्ये कौपीनं मैथुनं सङ्गतौ रतौ ।
 प्रधानं परमार्था धीः प्रज्ञानं बुद्धिचिह्नयोः ॥ २६ ॥
 क्रन्दने रोदनाह्वाने वर्षं देहप्रमाणयोः ।
 आराधनं साधने स्याद्वाप्तौ तोषणेऽपि च ॥ २७ ॥
 रत्नं स्रजातित्रेष्ठेऽपि लक्ष्म चिह्नप्रधानयोः ।

कलापो भूषणे वर्हे तूणीरे संहतेऽपि च ॥ २८ ॥
 तल्पं शय्यादृदारेषु डिम्बो तु शिशुवालिभ्यो ।
 स्तम्भो स्थूणाजङ्घीभावो सभ्ये संसदि वै सभा ॥ २९ ॥
 किरणप्रयहो रश्मी धर्माः पुण्ययमादयः ।
 ललामं पुच्छपुच्छाश्चभूषाप्राधान्यकेतुषु ॥ ३० ॥
 प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु ।
 समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः ॥ ३१ ॥
 अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे सत्यं शपथतथ्ययोः ।
 वीर्यं बलप्रभावो च रूप्यं रूपे प्रशस्तके ॥ ३२ ॥
 दुरोदरो दूतकारे पणे दूते दुरोदरं ।
 महारण्ये दुर्गपथे कान्तारः पुत्रपुंसकं ॥ ३३ ॥
 यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहादिके हरिः ।
 दरोऽस्त्रियां भये शम्भे जठरः कठिनेऽपि च ॥ ३४ ॥
 उदारो दाढमहतीरितरस्वन्यनीचयोः ।
 चूडा किरीटं केशाद्य संयता मौलयस्त्रयः ॥ ३५ ॥
 बलिः करोपहारादौ सैन्यस्थैर्यादिके बलं ।
 स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च ॥ ३६ ॥
 शुक्लले मूषिके श्रेष्ठे सुकृते वृषभे वृषः ।
 दूताद्ये सारिफलकेऽप्याकर्षोऽथाऽक्षमिन्द्रिये ॥ ३७ ॥
 ना दूताङ्गे च कर्षे च व्यवहारे कलिद्रुमे ।
 उष्णीषः स्यात् किरीटादौ कर्षूः कुल्याभिधायिनी ॥ ३८ ॥
 प्रत्यक्षेऽधिकृतेऽध्यक्षः सूर्यवक्त्रो विभावसू ।
 ऋद्धारादौ विषे वीर्यं गुणे रागे द्रवे रसः ॥ ३९ ॥

तेजःपुरीषयोर्वच्च आगः पापापराधयोः ।
 छन्दः पद्येऽभिलाषे च साधीयान् साधुवादयोः ।
 व्यूहो वृन्देऽप्यहित्वे चेऽप्यग्नीन्वर्कास्तमीमुदः ॥ ४० ॥

इत्याग्नेये महापुराणे नानार्थवर्गा नामैक-
 षष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ द्विषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— 080 —

भूमिवनौषध्यादिवर्गाः ।

अग्निरुवाच । वक्ष्ये भूपुराद्विवनौषधिसिंहादिवर्गकान् ।
 भूरनन्ता क्षमा धात्री क्ष्माप्याकुः स्याद्वरित्रपि ॥ १ ॥
 मृन्मृत्तिका प्रशस्ता तु मृत्ता मृत्क्षा च मृत्तिका ।
 जगत्त्रिपिष्टपं लोकं भुवनं जगती समा ॥ २ ॥
 अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्यानः पदवी सृतिः ।
 सरणिः पद्मतिः पद्या वर्त्तन्येकपदीति च ॥ ३ ॥
 पूः स्त्री पुरीनगर्थी वा पत्तनं पुटभेदनम् ।
 स्थानीयं निगमोऽन्यत्तु यन्मूलनगरात्पुरम् ॥ ४ ॥
 तच्छाखानगरं वेशो वेश्याजनसमाश्रयः ।
 आपणस्तु निषद्यायां विपणिः पण्यवीथिका ॥ ५ ॥
 रथ्या प्रतौली विशिखा स्याच्चयो वप्रमस्त्रियां ।
 प्राकारो वरणः शालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिः ॥ ६ ॥

भित्तिः स्त्री कुण्डमेडूकं यदन्तनस्तकीकसं ।
 वासः कूटो द्वयोः शाला सभा सञ्चवनन्विदम् ॥ ७ ॥
 चतुःशालं मुनीनाम्तु पर्णशालोटजोऽस्त्रिया ।
 चैत्यमायतनन्तुष्ये वाजिशाला तु मन्दुरा ॥ ८ ॥
 हर्म्यादि धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजा ।
 स्त्री दार्दरं प्रतीहारः स्नाहितर्हिस्तु वेदिका ॥ ९ ॥
 कपोतपालिकायान्तु विटङ्कं पुं नपुंसकं ।
 कवाटमवरन्तुष्ये निःश्रेणिस्वधिरोहिणी ॥ १० ॥
 सन्मार्जनौ शोधनी स्यात् सङ्करोऽवकरस्तथा ।
 अद्रिगोत्रगिरियावा गहनं काननं वनं ॥ ११ ॥
 आरामः स्यादुपवनं कृत्रिभं वनमेव यत् ।
 स्यादेतदेव प्रमदवनमन्तःपुरोचितं ॥ १२ ॥
 वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिश्रेणीलेखास्तु राजयः ।
 वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाहनस्पतिः ॥ १३ ॥
 ओषध्यः फलपाकान्ताः पलाशी द्रुद्रुमागमाः ।
 स्याणु वा ना ध्रुवः शङ्खुः प्रफुल्लोत्फुल्लसंस्फुटाः ॥ १४ ॥
 पलाशं छदनं पर्णमिधमेधः समित् स्त्रियां ।
 बोधिद्रुमश्चलदलो दधित्यथाहिमन्मथाः ॥ १५ ॥
 तस्मिन् दधिफलः पुष्पफलदन्तशठावपि ।
 उडुम्बरे हेमदुग्धः कोविदारो द्विपत्रकः ॥ १६ ॥
 सप्तपर्णी विशालत्वक् कृतमालं सुवर्णकः ।
 आरेवतव्याधिघातसम्पाकचतुरङ्गुलाः ॥ १७ ॥
 स्याज्जम्बीरे दन्तशठो वरुणे तिलशायकः ।

(३६)

पुत्रागे पुरुषस्तुङ्गः केशरो देववल्गुः ॥ १८ ॥
 पारिभद्रे निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः ।
 वज्रुलखितकृष्णाय द्वी पीतनकपीतनौ ॥ १९ ॥
 आम्रातके मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ ।
 पीली गुडफलः खंसी नादेयी चाम्बुवेतसः ॥ २० ॥
 शोभाञ्जने शिशुतीक्ष्णगन्धकाक्षीरमोचकाः ।
 रक्तोऽसौ मधुशिशुः स्यादरिष्टः फेणिलः समौ ॥ २१ ॥
 गालवः शावरो लोभ्रस्तिरीटस्तिल्वमार्जनौ ।
 श्लेःश्लुः श्लेष्मातकः शीत उहाली बहुवारकः ॥ २२ ॥
 वैकङ्कतः शुवावृक्षो ग्रन्थिलो व्याघ्रपादपि ।
 तिन्दुकः स्फूर्जकः कालो नादेयी भूमिजम्बुकः ॥ २३ ॥
 काकतिन्दौ पीलुकः स्यात् पाटलिर्मोक्षमुष्ककौ ।
 क्रमुकः पट्टिकाख्यः स्यात्कुम्भी कैट्यकट्फले ॥ २४ ॥
 वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखी भस्मातकी त्रिषु ।
 सर्जकासनजीवाश्च पीतसालेऽथ मालके ॥ २५ ॥
 सर्जाश्वकर्णौ वीरेन्द्रौ इन्द्रद्वुः ककुभोऽर्जुनः ।
 इङ्गुदी तापसतरुर्मोचा शाल्मलिरिव च ॥ २६ ॥
 चिरविल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके ।
 प्रकीर्यः पूतिकरजो मर्कटाङ्गारवल्गुरी ॥ २७ ॥
 रोही रोहितकः ग्रीहशत्रुर्दाडिमपुष्पकः ।
 गायत्री बालतनयः खदिरो दन्तधावनः ॥ २८ ॥
 अरिभेदी विट्खदिरे कदरः खदिरे सिते ।
 पञ्चाङ्गुली वर्षमानश्चुर्गन्धर्वहस्तकः ॥ २९ ॥

पिण्डीतकी मरुवकः पीतदारु च दारु च ।
 देवदारुः पूतिकाष्ठं श्यामा तु महिलाद्वया ॥ ३० ॥
 लता गोवन्दनी गुन्दा प्रियङ्गुः फलिनी फली ।
 मण्डूकपर्णपत्रोर्णनटकटुङ्गटुण्डुकाः ॥ ३१ ॥
 श्योनाकशुकनासर्षदीर्घवृन्तकुटन्नटाः ।
 पीतद्वः सरलस्राथ निचुलोऽम्बुज इज्जलः ॥ ३२ ॥
 काकोडुम्बरिका फल्गुररिष्टः पिचुमर्दकः ।
 सर्वतोभद्रको निम्बे शिरीषस्तु कपीतनः ॥ ३३ ॥
 वकुली वञ्जुलः प्रोक्तः पिच्छिलाऽगुरुशिंशपाः ।
 जया जयन्ती तर्कारी कणिका गणिकारिका ॥ ३४ ॥
 श्रीपर्णमग्निमन्यः स्याद्वत्सको गिरिमल्लिका ।
 कालस्कन्धस्तमालः स्यात् तण्डुलीयोऽल्पमारिषः ॥ ३५ ॥
 सिन्धुवारस्तु निर्गुण्डी सैवास्फोता वनोज्जवा ।
 गणिका यूथिकाऽम्बुष्ठा सप्तला नवमालिका ॥ ३६ ॥
 अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्यात्कुमारी तरणिः सहा ।
 तत्र शोणे कुरुवकस्तत्र पीते कुरुण्टकः ॥ ३७ ॥
 नीला भ्रिण्टी द्वयोर्वाणा भ्रिण्टी सैरीयकस्तथा ।
 तस्मिन्नूक्ते कुरुवकः पीते सहचरी द्वयोः ॥ ३८ ॥
 धुस्तूरः कितवो धूर्त्ती रुचको मातुलङ्गके ।
 समीरणो मरुवकः प्रस्थपुष्पः फणिज्भकः ॥ ३९ ॥
 कुठेरकस्तु पर्णासिऽथास्फोतो वसुकार्कके ।
 शिवमल्ली पाशपती वृन्दा वृन्दादनी तथा ॥ ४० ॥
 जीवन्तिका वृक्षरुहा गुडूची तन्त्रिकाऽमृता ।

सोमवल्ली मधुपर्णी मूर्वा तु मोरटी तथा ॥ ४१ ॥
 मधूलिका मधुश्रेणी गोकर्णी पीलुपर्ण्यपि ।
 पाठाऽम्बुष्ठा विद्धकर्णी प्राचीना वनतिलिका ॥ ४२ ॥
 कटुः कटुभरा चाथ चक्राङ्गी शकुलादनी ।
 आत्मगुप्ता प्राहृषायी कपिकच्छुच मर्कटी ॥ ४३ ॥
 अपामार्गः शैखरिकः प्रत्यक्पर्णी मयूरकः ।
 फञ्जिका ब्राह्मणी भार्गी द्रवन्ती शम्बरी वृषा ॥ ४४ ॥
 मण्डूकपर्णी भण्डीरी समङ्गा कालमेधिका ।
 रोदनी कच्छुराऽनन्ता समुद्रान्ता दुरालभा ॥ ४५ ॥
 पृथ्वीपर्णी पृथक्पर्णी कलशिर्धावनिर्गुहा ।
 निदिग्धिका स्पृशी व्याघ्री क्षुद्रा दुस्पर्शया सह ॥ ४६ ॥
 अवल्गुजः सोमराजौ सुवलिः सोमवल्लिका ।
 कालमेधी कृष्णफला वाकुची पूतिफल्यऽपि ॥ ४७ ॥
 कण्ठीषणोपकुल्या स्याच्छेयसी गजपिप्पली ।
 चव्यन्तु चविका काकचिञ्ची गुञ्जे तु कृष्णला ॥ ४८ ॥
 विश्वा विषा प्रतिविषा वनशृङ्गाटमोक्षुरौ ।
 नारायणी शतमूली कालेयकहरिद्रवः ॥ ४९ ॥
 दार्वी पचम्यचा दारु शक्ता हैमवती वचा ।
 वचोगन्धा घङ्गान्या गोलोमी शतपर्बिका ॥ ५० ॥
 आस्कोता गिरिकर्णी स्यात् सिंहास्यो वासको वृषः ।
 मिश्री मधुरिकाच्छत्रा कोकिलाच्छेखुरक्षुरा ॥ ५१ ॥
 विडङ्गीऽस्त्री कृमिघ्नः स्यात् वज्रदृक्कुक्षुही सुधा ।
 सृष्टीका गोस्तनी द्राक्षा वला वाट्यालकस्तथा ॥ ५२ ॥

काला मसूरविदला त्रिपुटा त्रिवृता त्रिवृत् ।
 मधुकं क्लीतकं यष्टिमधुका मधुयंष्टिका ॥ ५३ ॥
 विदाररी क्षीरशुक्ले क्षुगन्धा क्रोष्ट्री च या सिता ।
 गोपी श्यामा शारिवा स्यादनन्तोत्पलशारिवा ॥ ५४ ॥
 मोचा रन्धा च कदली भण्टाकी दुष्प्रधर्षिणी ।
 स्थिरा ध्रुवा सालपर्णी शृङ्गी तु वृषभो वृषः ॥ ५५ ॥
 गाङ्गेरुकी नागबला मुषली तालमूलिका ।
 ज्योत्स्नी पंटोलिका जाली अजशृङ्गी विषाणिका ॥ ५६ ॥
 श्याम्लाङ्गलिक्यग्निशिखा ताम्बूली नागवस्त्रपि ।
 हरेणू रेणुका कौन्ती क्लीवेरो दिव्यनागरं ॥ ५७ ॥
 कालानुसार्यं वृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु ।
 शैलेयं तालपर्णी तु दैत्या गन्धकुटी मुरा ॥ ५८ ॥
 अन्ध्रपर्णं शुकं बर्हं वला तु त्रिपुटा श्रुटिः ।
 शिवा तामलकी चाथ हनुर्हृदविलासिनी ॥ ५९ ॥
 कुटं नटं दशपुरं वानेयं परिपेलवम् ।
 तपस्विनी जटामांसी पृक्का देवी लता लशूः ॥ ६० ॥
 कर्चुरको द्राविड़को गन्धमूली शठी स्मृता ।
 स्वाहृच्चगन्धा कृगलान्धा बेगी वृद्धदारकः ॥ ६१ ॥
 तुण्डिकेरी रक्तफला विम्बिका पीलुपर्ण्यं ऽपि ।
 चाङ्गेरी चुक्रिकाम्बष्टा स्वर्णक्षीरी हिमावती ॥ ६२ ॥
 सहस्रवेधी चुक्रोऽस्त्रवेतसः शतवेध्यपि ।
 जीवन्ती जीवनी जीवा भूमिनिम्बः किरातकः ॥ ६३ ॥
 कूर्चशीर्षो मधुकरचन्द्रः कपिष्ठकस्तथा ।

दद्रुघ्नः स्यादेङ्गजो वर्षाभूः शीथहारिणी ॥ ६४ ॥
 कुनन्दती निकुशंस्त्रा(१) यमानी वार्षिका तथा ।
 लशुनङ्गुञ्जनारिष्टमहाकन्दरसोनकाः ॥ ६५ ॥
 वाराही वदरा गृष्टिः काकमाची तु वायसी ।
 शतपुष्पा सितच्छत्रा ऽतिच्छत्रा मधुरा मिसिः ॥ ६६ ॥
 अवाक्पुष्पी कारवी च सरणा तु प्रसारणी ।
 कटभरा भद्रवला कर्वूरश्च शटी ह्यथ ॥ ६७ ॥
 पटोलः कुलकस्तिक्तः कारवेल्लः कटिलकः ।
 कुष्माण्डकस्तु कर्कारिर्वाहः कर्कटी स्त्रियौ ॥ ६८ ॥
 इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्याद्दिशाला त्विन्द्रवारुणी ।
 अशोन्नः शूरणः कन्दो मुस्तकः कुरुविन्दकः ॥ ६९ ॥
 वंशे त्वक्सारकम्भारवेषुमस्करतेजनाः ।
 छत्रातिच्छत्रपालघ्नौ मालाढणकभृस्तृणे ॥ ७० ॥
 दणराजाङ्गयस्तालो घोण्टा क्रमुकपुगकौ ।
 शार्दूलहीपिनौ व्याघ्रे ह्यर्थक्षः केशरी हरिः ॥ ७१ ॥
 कोलः फौली वराहः स्यात् कोक ईहामृगो वृकः ।
 लूतीर्णनाभौ तु समौ तन्तुवायश्च मर्कटे ॥ ७२ ॥
 वृषिकः शूककीटः स्यात्सारङ्गस्तोककौ समौ ।
 ककवाकुस्ताम्बचूडः पिकः कोकिल इत्यपि ॥ ७३ ॥
 काके तु करटारिष्टौ वकः कङ्क उदाहृतः ।
 कोकश्चक्रश्चक्रवाकी कादम्बः कलहंसकः ॥ ७४ ॥
 पतङ्गिका पुत्तिका स्यात्सरवा मधुमक्षिका ।

१ चकुलदन्तौ निर्देष्टुं ति ष० ।

द्विरेफपुष्पलिङ्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलयः ॥ ७५ ॥
 केकी शिख्यस्य वाक्केका शकुन्तिशकुनिद्विजाः ।
 स्त्री पक्षतिः पक्षमूलञ्चक्षुस्तोटरुभे स्त्रियौ ॥ ७६ ॥
 गतिरुड्डीनसण्डीनो कुलायो नीडमस्त्रियां ।
 पेशी कोषो द्विहीनेऽण्डं पृथुकः शावकः शिशुः ॥ ७७ ॥
 पोतः पाकोऽर्भको डिम्बः सन्दोहव्यूहको गणः ।
 स्तोमौघनिकरत्राता निकुरम्बं कदम्बकं ।
 सङ्घातसञ्चयौ वृन्दं पुञ्जराशी तु कूटकं ॥ ७८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे भूमिवनौषध्यादिवर्गा नाम द्विषष्ट्य-
 धिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ त्रिषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

नृब्रह्मचरविट्शूद्रवर्गाः ।

अग्निरुवाच । नृब्रह्मचरविट्शूद्रवर्गान्वक्ष्येऽथ नामतः ।

नरः पञ्चजना मर्त्या यदयोषाऽवला वधूः ॥ १ ॥
 कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साऽभिसारिका ।
 कुलटा पुंस्यसती नग्निका स्त्री च कोटवी ॥ २ ॥
 कात्यायन्यर्धहृदा या सैरिन्ध्री परवेश्मगा ।
 असिक्ती स्यादहृदा या मलिनी तु रजस्वला ॥ ३ ॥
 वारस्त्री गणिका वेष्ट्या भ्रातृजायास्तु यातरः ।
 ननान्दा तु स्वसा पत्युः सपिण्डास्तु सनाभयः ॥ ४ ॥

समानोदर्यसोदर्यसगर्भसहजास्रमाः ।
 सगोत्रबान्धवजातिबन्धुस्त्रजनाः समाः ॥ १ ॥
 दम्पती जम्पती भार्यापती जायापती च तौ ।
 गर्भाशयो जरायुः स्यादुल्बश्च कललोऽस्त्रियां ॥ ६ ॥
 गर्भो भ्रूण इमौ तुल्यौ क्लीवं शण्डो नपुंसकम् ।
 स्यादुत्तानशया डिम्बा बालो माणवकः स्मृतः ॥ ७ ॥
 पिचिण्डिलो वृहत्कुक्षिरवभ्रटो नतनासिके ।
 विकलाङ्गस्तु पीगण्ड आरोग्यं स्यादनामयम् ॥ ८ ॥
 स्यादेडे वधिरः कुब्जं गडुलः कुकरे कुनिः ।
 क्षयः शोषश्च यक्ष्मा च प्रतिश्यायस्तु पीनसः ॥ ९ ॥
 स्त्री क्षुत्क्षुतं क्षयं पुंसि कासस्तु क्षवथुः पुमान् ।
 शोथस्तु श्वयथुः शोफः पादस्फीटो विपादिका ॥ १० ॥
 किलासं सिन्नकच्छान्तु पाम पामा विचर्चिका ।
 कोठो मण्डलकं कुष्ठं श्वित्रे दुर्न्नामकार्गसी ॥ ११ ॥
 अनाहस्तु विबन्धः स्यादग्रहणी रुक्प्रवाहिका ।
 वीजवीर्येन्द्रियं शुक्रं पललं क्रव्यमामिषं ॥ १२ ॥
 बुक्काऽग्रमांसं हृदयं हस्मेदस्तु वपा वसा ।
 पश्चादृषीवा शिरा मन्या नाडी तु धमनिः शिरा ॥ १३ ॥
 तिलकं क्लोम मस्तिष्कं दूषिका नेत्रयोर्मलम् ।
 अन्नं पुरी तद्गुल्मस्तु भ्रौहा पुंस्यऽथ वस्त्रसा ॥ १४ ॥
 स्त्रायुः स्त्रियां कालखण्डयुक्तौ तु ऽसमे इमे ।
 स्यात् कर्पूरः कपालोऽस्त्री कीकसङ्गुल्यमस्थि च ॥ १५ ॥
 स्याच्छरीरास्थि कङ्कालः पृष्ठास्थि तु कशेरुका ।

शिरोऽस्थनि करोटिः स्त्री पार्श्वस्थनि तु पशुंका ॥ १६ ॥
 अङ्गं प्रतीकोऽवयवः शरीरं वर्मं विग्रहः ।
 कटो ना त्र्योष्णफलकं कटिः त्र्योष्णः ककुभती ॥ १७ ॥
 पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः ।
 कूपकौ तु नितम्बस्थौ हयहीने ककुभदरे ॥ १८ ॥
 स्त्रियां स्फिची कटिप्रोधावुपस्थो वक्ष्यमाणयोः ।
 भगं योनिहंयोः शिग्रो मेट्रो मेहनशेफसी ॥ १९ ॥
 पिचिण्डकुक्षी जठरोदरं तुम्हं कुक्षी स्तनौ ।
 चूचुकन्तु कुचाग्रं स्यान्न ना क्लीबं भुजान्तरम् ॥ २० ॥
 स्कन्धो भुजशिरोऽग्रोऽस्त्री सन्धौ तस्यैव जनुषी ।
 पुनर्भवः करबहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियां ॥ २१ ॥
 प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्त्यादियुते तते ।
 अङ्गुष्ठे सक्निष्ठे स्याद्विह्विह्विर्हादशाङ्गुलः ॥ २२ ॥
 पाणौ च पेटप्रतलप्रहस्ता विस्तृताङ्गुली ।
 बह्वसुष्टिकरो रत्निररत्निः स कनिष्ठवान् ॥ २३ ॥
 कम्बुधीवा निरेखा साऽवटुर्घाटा ककाटिका ।
 अथः स्याद्विबुक्कक्षोष्ठादथ गण्डौ गलो हनुः ॥ २४ ॥
 अपाङ्गी नेत्रयोरन्ती कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने ।
 चिकुरः कुम्तलो बालः प्रतिकर्म प्रसाधनम् ॥ २५ ॥
 आकल्पवेशौ नेपथ्यं प्रत्यक्षं खेलयोगजम् ।
 चूडामणिः शिरोरत्नं तरलो द्वारमध्यगः ॥ २६ ॥
 कर्णिका तालपत्रं स्यात्तम्बनं स्यात्तलन्तिका ।
 मञ्जरी नूपुरं पादे किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका ॥ २७ ॥

दैर्घ्यमायाम आरोहः परिणाहो विशालता ।
 पटञ्चरं जीर्णवस्त्रं संव्यानञ्चीत्तरीयकम् ॥ २८ ॥
 रचना स्यात् परिस्रन्द आभोगः परिपूर्णता ।
 समुत्तकः सम्पुटकः प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः ॥ २९ ॥
 इत्यान्वये महापुराणे नृवर्गी नाम त्रिषष्ट्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ चतुःषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— 080 —

ब्रह्मवर्गः ।

अग्निर्वाच । वंशोऽन्ववायो गोत्रं स्यात् कुलान्यभिजनान्वयी ।
 मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य्य आदेष्टा त्वध्वरे व्रती ॥ १ ॥
 यष्टा च यजमानः स्यात् ज्ञात्वारभ उपक्रमः ।
 सतीर्थाश्चैकगुरवः सभ्याः सामाजिकास्तथा ॥ २ ॥
 सभासदः सभास्तारा ऋत्विजो याजकाश्च ते ।
 अध्वर्यून्नाटहोतारो यजुःसामग्विदः क्रमात् ॥ ३ ॥
 चषालो यूपकटकः समे स्थण्डिलचत्वरे ।
 आमिक्षा सा नृतोष्णे या क्षीरे स्याद्विधियोगतः ॥ ४ ॥
 धृषदाज्यं सदध्याज्ये परमावन्तु पायसम् ।
 उपाकृतः पशुरसो योऽभिमन्त्र्य क्रतौ हतः ॥ ५ ॥
 परम्पराकं समनं प्रोक्षणञ्च बधार्थकम् ।

पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्य्यार्चाहृणाः समाः ॥ ६ ॥
 बरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासनम् ।
 नियमो व्रतमस्त्री तक्षीपवासादि पुण्यकम् ॥ ७ ॥
 मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः ।
 कल्पे विधिक्रमो ज्ञेयो विवेकः पृथगात्मता ॥ ८ ॥
 संस्कारपूर्वं ग्रहणं स्यादुपाकरणं श्रुतेः ।
 भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी पाराशर्य्यपि मस्करौ ॥ ९ ॥
 ऋषयः सत्यवचसः ज्ञातकक्षाप्रुतत्रती ।
 ये निर्जितेन्द्रियप्राप्ता यतिनो यतयश्च ते ॥ १० ॥
 शरीरसाधनापेक्षं नित्यं घत् कर्म तद्यमः ।
 नियमस्तु स यत् कर्मानित्यमागन्तुसाधनम् ।
 स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं ब्रह्मसायुज्यमित्यपि ॥ ११ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे ब्रह्मवर्गो नाम चतुःषष्ट्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ००० —

चत्रविट्शूद्रवर्गाः ।

अग्निह्वाच । मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट् ।
 राजा तु प्रथताशेषसामन्तः स्याद्धीश्वरः ॥ १ ॥
 चक्रवर्ती सार्वभौमो तृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः ।
 मन्त्री धीसचिवीऽमात्यो महामात्राः प्रधानकाः ॥ २ ॥

इष्टरि व्यवहाराणां प्राङ्निवाकाऽक्षदशको ।
 भौरिकः कनकाध्यक्षीऽथाध्यक्षाधिकततो समो ॥ ३ ॥
 अन्तःपुरे त्वधिकतः स्यादन्तर्वेशिको जनः ।
 सौविदक्षाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः सौविदाश्च ते ॥ ४ ॥
 षण्ढो वर्षवरस्तुत्याः सेवकार्यनुजीविनः ।
 विषयानन्तरो राजा शत्रुर्मित्रमतः परं ॥ ५ ॥
 उदासीनः परतरः पार्श्विग्राहस्तु पृष्ठतः ।
 चरः स्रग्ः स्यात्प्रणिधिहत्तरः काल आयतिः ॥ ६ ॥
 तत्कालस्तु तदालं स्यादुदकः फलमुत्तरं ।
 अदृष्टं वक्रितोयादि दृष्टं स्रपरचक्रजम् ॥ ७ ॥
 भद्रकुम्भः पूर्णकुम्भो मृङ्गारः कनकालुका ।
 प्रभिक्षी गर्जितो मन्तो वमथुः करशीकरः ॥ ८ ॥
 स्त्रियां शृण्विस्वहृशोऽस्त्री परिस्तोमः कुथो हयोः ।
 कर्णारथः प्रवहणं दोला मेरुखादिका स्त्रियां ॥ ९ ॥
 आधीरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः ।
 भटा योधाश्च योधारः कञ्चुको वारणोऽस्त्रियां ॥ १० ॥
 शीर्षण्यश्च शिरस्त्रेऽथ तनुत्रं वर्षं दंशनं ।
 आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनहस्यापिनहवत् ॥ ११ ॥
 व्यूहस्त बलविन्यासश्चक्रचानीकमस्त्रियां ।
 एकैभैकरथा त्रयशाः पत्तिः पञ्चपदातिकाः ॥ १२ ॥
 पथ्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरं ।
 सेनामुखं गुल्मगणो वाहिनी पृतना चमूः ॥ १३ ॥
 अनीकिनी दशानीकिन्योऽक्षोद्विष्टो गजादिभिः ।

धनुः कोदण्डद्वयासी कोटिरस्याटनी स्मृता ॥ १४ ॥
 नस्तकस्तु धनुर्मध्यं मौर्वी ज्या शिञ्चिनी गुणः ।
 घृषत्कवाणविशिखा अजिह्वगखगाशुगाः ॥ १५ ॥
 तूष्णीपासङ्गतूष्णीरनिषङ्गा इषुधिर्हयोः ।
 असिर्द्धृष्टिश्च निस्त्रिंशः करवालः कृपाणवत् ॥ १६ ॥
 सरुः खड्गस्य मुष्टौ स्यादीली तु करपालिका ।
 हयोः कुठारः सुधितिः छुरिका चासिपुत्रिका ॥ १७ ॥
 प्रासस्तु कुन्तो विज्ञेयः सर्वला तोमरोऽस्त्रियां ।
 वैतालिका बोधकरा मागधा वन्दिनस्तुतो ॥ १८ ॥
 संश्रसकास्तु समयात्सङ्ग्रामादनिवर्तिनः ।
 पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियां ॥ १९ ॥
 अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियां ।
 अहमहमिका सा स्याद्योऽहङ्कारः परस्परम् ॥ २० ॥
 शक्तिः पराक्रमः प्राणः शौर्यं स्थानसहोबलं ।
 मूर्च्छा तु कश्मलं मोहोऽप्यवमर्हस्तु पीडनं ॥ २१ ॥
 अभ्यवस्तान्दनस्त्वभ्यासादनं विजयो जयः ।
 निर्वासनं सङ्गपनं सारणं प्रतिघातनं ॥ २२ ॥
 स्यात्पञ्चता काणधर्मी दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः ।
 विद्यो भुमिस्तयो वैश्या वृत्तिर्वर्तनजीवने ॥ २३ ॥
 कृष्यादिवृत्तयो ज्ञेयाः कुसीदं वृद्धिजीविका ।
 उच्चारोऽर्थप्रयोगः स्यात्कण्ठियं सस्यमञ्जरी ॥ २४ ॥
 किंशारुः सस्यशूकं स्यात् स्तम्बो गुल्मस्तृणादिनः ।
 धान्यं व्रीहिः स्तम्बकरिः कण्डकरो वुषं स्मृतं ॥ २५ ॥

माषादयः शमीधान्ये शुकधान्ये यवादयः ।
 तण्डधान्यानि नीवाराः शूर्पं प्रस्फोटनं स्मृतं ॥ २६ ॥
 स्यूतप्रसेवो कण्ठीलपिटौ कटकिनिष्कौ ।
 समानो रसवत्यान्तु पाकस्थानमहानवे ॥ २७ ॥
 पीरोगवस्तदध्यक्षः सूपकारास्तु वक्त्रवाः ।
 आरालिका आन्धसिकाः सुदा औदनिका गुणाः ॥ २८ ॥
 क्लीवेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना कर्कर्यालुर्गलन्तिका ।
 आलिष्णुरः स्यान्मणिकं सुषवी कृष्णजीरके ॥ २९ ॥
 आरनालस्तु कुष्माषंवाङ्गीकं हिङ्गुरामठं ।
 निशा हरिद्रा पीता स्त्री खण्डे मत्स्यण्डिफाणिते ॥ ३० ॥
 कूर्षिका क्षीरविक्रतिः स्निग्धं मसृणचिकणं ।
 पृथुकः स्याच्चिपिटको धाना भ्रष्टयवास्त्रियः ॥ ३१ ॥
 जेमनं लेप आहारो मादृशी सौरभी च गौः ।
 युगादीनाञ्च वोढारो युग्यप्रासङ्ग्याटकाः ॥ ३२ ॥
 चिरसूता वक्ष्यथी धेनुः स्यान्नवसूतिका ।
 सन्धिनी वृषभाक्रान्ता वेहृन्नर्भोपघातिनी ॥ ३३ ॥
 पश्याजीवो ह्यापणिको न्यासञ्चोपनिधिः पुमान् ।
 विपथो विक्रयः सङ्ख्या सङ्ख्ये च्छादश्च त्रिषु ॥ ३४ ॥
 विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः ।
 संख्यार्थं द्विवहुत्वे स्तस्मात् चानवतेः स्त्रियः ॥ ३५ ॥
 पङ्क्तेः शतसहस्रादि क्रमाद्दशगुणोत्तरं ।
 मानन्तु लाङ्गुलिप्रस्थैर्गुप्ताः पञ्चाद्यभाषकः ॥ ३६ ॥
 ते षोडशान्नः कर्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम् ।

सुवर्णविस्ती हेज्जोऽचे कुरुविस्तस्तु तत्पले ॥ ३७ ॥
 तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः ।
 कार्पापणः कार्षिकः स्यात् कार्षिके ताम्रिके पणः ॥ ३८ ॥
 द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्त्यमृथक्यं धनं वसु ।
 रीतिः स्त्रियामारकूटो न स्त्रियामथ ताम्रकम् ॥ ३९ ॥
 शुक्लमौदुम्बरं लीहे तीक्ष्णं कालायसायसी ।
 चारः काचीऽथ चपलो रसः सूतश्च पारदे ॥ ४० ॥
 गरलं माहिषं शृङ्गं तपुसीसकपिचटं ।
 ह्रिण्डीरोऽम्बिकफः फेणो मधूच्छिष्टन्तु सिक्थकम् ॥ ४१ ॥
 रङ्गवङ्गं पित्रुस्थूलो कूलटो तु मनःशिला ।
 यवचारश्च पाक्यः स्यात् त्वक्क्षीरा वंशलोचनाः ॥ ४२ ॥
 वृषला जधन्यजाः शूद्राशाण्डालान्याश्च शङ्कराः ।
 कारुः शिल्पी संहतेस्त्रैर्हयोः श्रेणिः सजातिभिः ॥ ४३ ॥
 रङ्गाजीवश्चित्करस्वष्टा तच्चा च वर्धकिः ।
 नाडिन्धमः स्वर्णकारो नापितान्तावसायिनः ॥ ४४ ॥
 जावालः स्यादजाजीवी देवाजीवस्तु देवलः ।
 जायाजीवास्तु शैलूषा भृतको भृतिभुक्तया ॥ ४५ ॥
 विवर्णः पामरो नीचः प्राक्ततश्च पृथग्जनः ।
 विहीनोपसदो जाल्मो भृत्ये दासेरचेटकाः ॥ ४६ ॥
 पटुस्तु पेशलो दक्षो मृगयुर्लुब्धकः स्मृतः ।
 चाण्डालस्तु दिवाकीर्त्तिः पुस्तं लेप्यादिकर्मणि ॥ ४७ ॥
 पञ्चालिका पुन्निका स्याद्द्वर्करस्वरुणः पशुः ।
 मञ्जूषा पेटकः पेडा तुल्यसाधारणो समो ।

प्रतिमा स्यात् प्रतिज्ञतिर्वर्गा ब्रह्मादयः स्मृताः ॥ ४८ ॥
इत्याग्नेये महापुराणे चतुर्विंशत्युद्भवर्गा नाम पञ्चषष्ट्यधिक-
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ षट्षष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ०००@००० —

सामान्यनामलिङ्गानि ।

अग्निरुवाच । सामान्यान्यस्य वक्ष्यामि नामलिङ्गानि तच्छृणु ।

सुकृती पुष्यवान् धन्यो महेच्छस्तु महाययः ॥ १ ॥

प्रवीणनिपुणाभिन्नविन्ननिष्णातशिक्षिताः ।

स्युर्वदान्यस्यूललक्षदानशौण्डा बहुप्रदे ॥ २ ॥

कृती कृतज्ञः कुशल आसक्तोद्युक्त उक्तुकः ।

इभ्य आढ्यः परिहृती अग्निभूर्नायकोऽधिपः ॥ ३ ॥

लक्ष्मीवान् लक्ष्मणः श्रीलः सतन्त्रः स्वैर्यस्यपाहतः ।

खलपूः स्याद्दुष्टकरो दीर्घसूचिचरिः ॥ ४ ॥

जासोऽसमीक्ष्यकारी स्यात् कुण्ठी मन्दः क्रियासु यः ।

कर्म्मशूरः कर्म्मठः स्याद्दक्षको घञ्जरोऽग्ररः ॥ ५ ॥

सोलुपो गर्धलो गृध्रुर्विनीतप्रञ्चितो तथा ।

धृष्टे धृष्ट्यार्वियातश्च निभृतः प्रतिभान्विते ॥ ६ ॥

प्रगल्भो भीरुको भीरुर्वन्दाररभिवादके ।

भूष्णुर्भविष्णुर्भविता ज्ञाता विदुरविन्दुकौ ॥ ७ ॥

मत्तशौण्डीत्कटक्षीवाश्चण्डस्वत्यन्तकोपनः ।

देवानश्चति देवद्रष्टृ विश्वद्रष्टृ विश्वगश्चति ॥ ८ ॥
 यः सहाश्चति स सध्रष्टृ स तिर्यङ् वक्षिरोऽश्चति ।
 वाचोयुक्तिः पटुर्वाग्मी वाबदूकश्च वक्षरि ॥ ९ ॥
 स्याज्जल्पकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्हवाक् ।
 अपध्वन्तो धिक्कृतः स्याद्दधे कौलितसंयतो ॥ १० ॥
 वरणः शब्दो नान्दीवादी नान्दीकरः समाः ।
 व्यसनार्त्तोपरत्तो ही बधे कौलितसंयतो(१) ॥ ११ ॥
 विहस्तव्याकुलो तुल्यो नृशंसक्रूरघातुकाः ।
 पापो धूर्त्तो वञ्चकः स्यान्मूर्खं वैदेहवालिशो ॥ १२ ॥
 कदर्यो कपणचुट्टो मार्गणो याचकार्थिनो ।
 अहङ्कारवानहंयुः स्याच्छुभंयुस्तु शुभान्वितः ॥ १३ ॥
 कान्तं मनोरमं रथं ह्वयाभीष्टे ह्यभीषिते ।
 असारं फलगु शून्यं वै मुख्यवर्त्यवरेण्यकाः ॥ १४ ॥
 श्रेयान् श्रेष्ठः पुष्कलः स्यात्प्रायश्रयश्रीयमशिमं ।
 बहोरु विपुलं पीनपीव्नी तु स्थूलपीवरे ॥ १५ ॥
 स्तोकाल्पश्लोकाः सूक्ष्मं श्लेषं दम्भं क्षयन्तनु ।
 माचाकुटीलवकणा भूयिष्ठं पुरुहं पुरु ॥ १६ ॥
 अखण्डं पूर्णसकलमुपकण्ठान्तिकाभितः ।
 समीपे सन्निधाभ्यासो नेदिष्टं सुसमीपकं ॥ १७ ॥
 ईदूरे तु दविष्ठं स्याद्दृत्तं निस्तलवतुले ।
 उच्चप्रांशून्नतोदद्या ध्रुवो नित्यः सनातनः ॥ १८ ॥
 आविष्टं कुटिलं भुम्भं वेक्षितं वक्रमित्यपि ।

१ पाठोऽयं पुनरुक्तिदोषेण दुष्टः ।

चक्षुषं तरलञ्चैव कठोरं जठरं दृक् ॥ १८ ॥
 प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः ।
 एकतानोऽनन्यवृत्तिरुच्चण्डमविलम्बितं ॥ २० ॥
 उच्चावचं नैकभेदं सस्वाधकलिलं तथा ।
 तिमितं स्तिमितं क्लिन्नमभियोगस्त्वभिग्रहः ॥ २१ ॥
 स्फातिर्ब्रह्मो प्रथा स्यातो समाहारः समुच्चयः ।
 अपहारस्त्वपचयो विहारस्तु परिक्रमः ॥ २२ ॥
 प्रत्याहार उपादानं निर्हारीऽभ्यवकर्षणं ।
 विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः स्यादास्यात्वासना स्थितिः ॥ २३ ॥
 सन्निधिः सन्निकर्षः स्यात्संक्रमो दुर्गसञ्चरः ।
 उपलम्बस्त्वनुभवः प्रत्यादेशो निराकृतिः ॥ २४ ॥
 परिरन्धःपरिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनं ।
 अनुमा पक्षहेत्वाद्यैर्हिंसे भ्रमरविप्लवो ॥ २५ ॥
 असन्निकृष्टार्थज्ञानं शब्दादि शब्दमीरितं ।
 सादृश्यदर्शनात्तुल्ये बुद्धिः स्यादुपमानकं ॥ २६ ॥
 कार्यं दृष्ट्वा विना नस्यादर्थापत्तिः परार्थधीः ।
 प्रतियोगिन्यऽगृहीते भुवि नास्तीत्यभावकः ।
 इत्यादिनामलिङ्गो हि हरिरक्तो नृबुद्धये ॥ १७ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे सामान्यनामलिङ्गानि नाम
 षट्षट्षधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ सप्तषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

नित्यनैमित्तिकप्राकृतप्रलयः ।

अग्निरुवाच । चतुर्विधस्तु प्रलयो नित्यो यः प्राणिनां लयः ।

सदा विनाशो जातानां ब्राह्मी नैमित्तिको लयः ॥ १ ॥

चतुर्युगसहस्रान्ते प्राकृतः प्राकृतो लयः ।

लय आत्यन्तिको ज्ञानादात्मनः परमात्मनि ॥ २ ॥

नैमित्तिकस्य कल्पान्ते वक्ष्ये रूपं लयस्य ते ।

चतुर्युगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले ॥ ३ ॥

अनावृष्टिरतीवोष्णं जायते शतवार्षिकी ।

ततः सत्त्वक्षयः स्याच्च ततो विष्णुर्जगत्पतिः ॥ ४ ॥

स्थितो जलानि पिवति भानोः सप्तसु रश्मिषु ।

भूपातालसमुद्रादितोयं नयति संक्षयं ॥ ५ ॥

ततस्तस्यानुभावेन तोयाहारोपहृष्टिताः ।

त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त भास्कराः ॥ ६ ॥

दृश्यन्त्येषं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विज ।

कूर्मपृष्ठसमा भूः स्यात्ततः कालाग्निरुद्रकः ॥ ७ ॥

शिवाहिंसाससम्पातात् पातालानि दृश्यन्धः ।

पातालेभ्यो भुवं विष्णुर्भुवः स्वर्गं दृश्यतः ॥ ८ ॥

अम्बरीषमिवाभाति त्रैलोक्यमखिलं तथा ।

ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः ॥ ९ ॥

गच्छन्ति ते महर्लीकं महर्लीकाञ्जनं ततः ।
 रुद्ररूपी जगद्गन्धा मुखनिश्वासतो हरेः ॥ १० ॥
 उत्तिष्ठन्ति ततो भिधा नानारूपाः सविद्युतः ।
 शतं वर्षाणि वर्षन्तः शमयन्त्यग्निमुत्थितम् ॥ ११ ॥
 सप्तर्षिस्थानमाक्रम्य स्थितेऽभसि शतं मरुत् ।
 मुखनिश्वासतो विष्णोर्नाशं नयति तान्घनान् ॥ १२ ॥
 वायुं पीत्वा हरिः श्रेष्ठे श्रेते चैकार्षवे प्रभुः ।
 ब्रह्मरूपधरः सिद्धैर्जलगैर्मुनिभिस्तुतः ॥ १३ ॥
 आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः ।
 आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन्मधुसूदनः ॥ १४ ॥
 कल्पं श्रेते प्रबुद्धोऽथ ब्रह्मरूपी सृजत्यऽसौ ।
 द्विपरार्धन्ततो व्यक्तं प्रकृतौ लीयते द्विज ॥ १५ ॥
 स्थानात् स्थानं दशगुणमेकस्मान्मुष्यते स्थले ।
 ततोऽष्टादशमे भागे परार्धमभिधौयते ॥ १६ ॥
 परार्धं द्विगुणं यत्तु प्राकृतः प्रलयः स्मृतः ।
 अनावृष्ट्याऽग्निसम्पर्कात् कृते संज्वलने द्विज ॥ १७ ॥
 महदादेर्विकारस्य विशेषान्तस्य संचये ।
 कृष्णे च्छाकारिते तस्मिन् सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ॥ १८ ॥
 आपो असन्ति वै पूर्वं भूमिर्गन्धादिकं गुणं ।
 आत्मगन्धात्ततो भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते ॥ १९ ॥
 रसात्मिकाश्च तिष्ठन्ति ह्यापस्तासां रसो गुणः ।
 पीयते ज्योतिषा तासु नष्टास्त्वग्निश्च दीप्यते ॥ २० ॥
 ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुर्घसति भास्करं ।

३६७ अध्यायः ।] आत्यन्तिकलयगर्भीत्वत्तिनिरूपणम् । ३०९]

नष्टे ज्योतिषि वायुश्च बली दीधूयते महान् ॥ २१ ॥

वायोरपि गुणं स्वर्गमाकाशं प्रसते ततः ।

वायौ नष्टे तु चाकाशनीरवं तिष्ठति द्विज ॥ २२ ॥

आकाशस्याथ वै शब्दं भूतादिर्ग्रसते च खं ।

अभिमानात्मकं खञ्च भूतादिं प्रसते महान् ॥ २३ ॥

भूमिर्याति लयञ्चाप्सु आपो ज्योतिषि तद्भजेत् ।

वायौ वायुश्च खे खञ्च अहङ्कारे लयं स च ॥ २४ ॥

महत्तत्त्वे महान्तश्च प्रकृतिर्ग्रसते द्विज ।

व्यक्ताऽव्यक्ता च प्रकृतिर्व्यक्तस्याव्यक्तके लयः ॥ २५ ॥

पुमानेकाक्षरः शुद्धः सोऽप्यंशः परमात्मनः ।

प्रकृतिः पुरुषश्चैतौ लीयेते परमात्मनि ॥ २६ ॥

न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पनाः ।

सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे ॥ २७ ॥

इत्यान्वेये महापुराणे नित्यनैमित्तिकप्राकृतप्रलया नाम
सप्तषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथाष्टषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

आत्यन्तिकलयगर्भीत्वत्तिनिरूपणम् ।

अग्निदवाच । आत्यन्तिकं लयं ब्रह्मे ज्ञानादात्यन्तिको लयः ।

आध्यात्मिकादिसन्तापं ज्ञात्वा स्वस्य विरागतः ॥ १ ॥

आध्यात्मिकस्तु सन्तापः शारीरो मानसो हिधा ।
 शारीरो बहुभिर्भेदैस्तापोऽसौ श्रूयतां हिज ॥ २ ॥
 त्यक्त्वा जीवो भोगदेहं गर्भमाप्नोति कर्मभिः ।
 आतिवाहिकसंज्ञस्तु देहो भवति वै हिज ॥ ३ ॥
 केवलं स मनुष्याणां सत्यकाल उपस्थिते ।
 याम्यैः पुंभिर्मनुष्याणां तच्छरीरं द्विजोत्तमाः ॥ ४ ॥
 नीयते याम्यमार्गेण नान्येषां प्राणिनां सुने ।
 ततः स्वर्थातिं नरकं स भ्रमेदुघटयन्भवत् ॥ ५ ॥
 कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ स्मृता ।
 यमो योनीश्च नरकं निरूपयति कर्मणा ॥ ६ ॥
 पूरणीयाश्च तेनैव यमश्चैवानुपश्यतां ।
 वायुभूताः प्राणिनश्च गर्भन्ते प्राप्नुवन्ति हि ॥ ७ ॥
 यमदूतैर्मनुष्यस्तु नीयते तच्च पश्यति ।
 धर्मी च पूज्यते तेन पापिष्ठस्ताडयते गृहे ॥ ८ ॥
 शुभाशुभं कर्म तस्य चित्रगुप्तो निरूपयेत् ।
 बान्धवानामशौचे तु देहे खल्व्वातिवाहिके ॥ ९ ॥
 तिष्ठन्नयति धर्मज्ञ दत्तपिण्डं प्रनन्ततः ।
 तन्त्यक्त्वा प्रेतदेहन्तु प्राप्यान्यं प्रेतलोकतः (१) ॥ १० ॥
 वसेत् क्षुधा तृषा युक्तं आमत्राह्वातभुङ्क्नरः ।
 आतिवाहिकदेहात्तु प्रेतपिण्डैर्विना नरः ॥ ११ ॥
 न हि मोक्षमवाप्नोति पिण्डांस्तत्रैव सोऽश्रुते ।
 कृते सपिण्डीकरणे नरः संवत्सरात्परं ॥ १२ ॥

प्रेतदेहं समुत्सृज्य भोगदेहं प्रपद्यते ।
 भोगदेहावुभौ प्रोक्तावशुभशुभसंज्ञितौ ॥ १३ ॥
 मुक्ता तु भोगदेहेन कर्मबन्धान्निपात्यते ।
 तं देहं परतस्तस्मान्नक्षयन्ति निशाचराः ॥ १४ ॥
 पापे तिष्ठति चेत् स्वर्गं तेन भुक्तं तदा द्विज ।
 तदा द्वितीयं गृह्णाति भोगदेहन्तु पापिनां ॥ १५ ॥
 मुक्ता पापन्तु वै पश्चाद्येन भुक्तं त्रिपिष्टपं ।
 शुचीनां श्रीमतां गेहे स्वर्गं भ्रष्टोऽभिजायते ॥ १६ ॥
 पुण्ये तिष्ठति चेत्पापान्तेन भुक्तं तदा भवेत् ।
 तस्मिन् सन्धिते देहे शुभं गृह्णाति विषहम् ॥ १७ ॥
 कर्मण्यल्पावशेषे तु नरकादपि मुच्यते ।
 मुक्तस्तु नरकाद्याति तिर्यग्योनिं न संशयः ॥ १८ ॥
 जीवः प्रविष्टो गर्भन्तु कललेऽप्यत्र तिष्ठति(२) ।
 घनीभूतं द्वितीये तु तृतीयेऽवयवास्ततः ॥ १९ ॥
 चतुर्थेऽस्थीनि त्वङ्मांसम्यञ्चमे रोमसन्धवः ।
 षष्ठे चेतोऽथ जीवस्य दुःखं विन्दति सप्तमे ॥ २० ॥
 जरायुवेष्टिते देहे मूर्ध्नि बह्वाक्षलिस्तथा ।
 मध्ये क्लीवस्तु वामे स्त्री दक्षिणे पुरुषस्थितिः ॥ २१ ॥
 तिष्ठत्युदरभागे तु पृष्ठस्याभिसुखस्तथा ।
 यस्यां तिष्ठत्यसौ योनौ तां स वेत्ति न संशयः ॥ २२ ॥
 सर्वञ्च वेत्ति हृत्तान्तमारभ्य नरजन्मनः ।

अन्वकारश्च महतीं पीडां विन्दति मामवः ॥ २३ ॥
 मातुराहाणपीतन्तु सप्तमे मास्युपाश्रुते ।
 अष्टमे नवमे मासि भृशमुद्दिजते तथा ॥ २४ ॥
 व्यवये पीडामाप्नोति मातुर्व्यायामके तथा ।
 व्याधिश्च व्याधितायां स्यान्मुहूर्त्तं शतवर्षवत् ॥ २५ ॥
 सप्तप्यते कर्मभिस्तु कुरुतेऽथ मनोरथान् ।
 गर्भाद्दिनिर्गतो ब्रह्मन् मोक्षज्ञानं करिष्यति ॥ २६ ॥
 सृतिवातैरधीभूतो निःसरेद्योनियन्त्रतः ।
 पीड्यमानो मासमात्रं करस्पर्शेन दुःखितः ॥ २७ ॥
 खण्ड्यात् क्षुद्रश्रोतांसि देहे श्रोत्रं विविक्तता ।
 श्वासोच्छ्वासी गतिर्वायोर्वक्रसंस्पर्शनं तथा(१) ॥ २८ ॥
 अम्भेरूपं दर्शनं स्यादूष्मा पङ्क्तिश्च पित्तकं ।
 मेधा वर्णं बलं छाया तेजः शौर्यं शरीरके ॥ २९ ॥
 जलात्स्नेदश्च रसनन्देहे वै संप्रजायते ।
 क्लेदो वसा रसा रक्तं शुक्रमूत्रकफादिकं ॥ ३० ॥
 भूमेर्घ्राणं केशनखं गौरवं स्थिरतोऽस्थितः ।
 मातृजानि मृदून्यत्र त्वङ्मांसहृदयानि च ॥ ३१ ॥
 नाभिर्मज्जा(२) शकन्मेदःक्लेदान्यामाशयानि च ।
 पितृजानि शिरास्त्रायुशुक्रश्चैवात्मजानि तु ॥ ३२ ॥
 कामक्रीडौ भयं हृषीं धर्माधर्मात्मता तथा ।
 आकृतिः स्वरवर्णौ तु मेहनाद्यं तथा च यत् ॥ ३३ ॥

१ श्वासोच्छ्वासौ सनिर्वापौ नाद्यसंस्पर्शनमिति अ० ।

२ नाभिर्मेढमिति च, अ० च ।

तामसानि तथाऽन्नानं प्रमादालस्यदृच्छुधाः ।
 मोहमात्सर्यवैगुण्यशोकायासभयानि च ॥ ३५ ॥
 कामक्रोधौ तथा शौर्यं यज्ञेष्वा बहुभाषिता ।
 अहङ्कारः परावज्ञा राजसानि महामुने ॥ ३६ ॥
 धर्मेषा मोक्षकामित्वं परा भक्तिश्च केशवे ।
 दाक्षिण्यं व्यवसायित्वं सात्विकानि विनिर्दिशेत् ॥ ३७ ॥
 चपलः क्रोधनो भीरुर्बहुभाषी कलिप्रियः ।
 स्वप्ने गगनगश्चैव बहुवातो नरो भवेत् ॥ ३८ ॥
 अकालपलितः क्रोधो महाप्राज्ञो रणप्रियः ।
 स्वप्ने च दीप्तिमत्प्रेक्षी बहुपित्तो नरो भवेत् ॥ ३९ ॥
 स्थिरमित्रः स्थिरोत्साहः स्थिराङ्गो द्रविणान्वितः ।
 स्वप्ने जलसितालोकी बहुश्लेष्मा नरो भवेत् ॥ ४० ॥
 रसस्तु प्राणिनां देहे जीवनं रुधिरं तथा ।
 लेपनञ्च तथा मांसमेहस्त्रेहकरन्तु तत् ॥ ४१ ॥
 धारणत्वंऽस्थि मज्जा स्यात्पूरणं वीर्यवर्धनं ।
 शुक्रवीर्यकरं स्त्रीजः प्राणकृञ्जीवसंस्थितिः ॥ ४२ ॥
 भोजः शुक्रात् सारतरमापीतं हृदयोपगं ।
 षडङ्गशक्तिनी बाहुर्मूर्धा जठरमीरितं ॥ ४३ ॥
 षट्त्वचा वाह्यतो यद्दन्त्या रुधिरधारिका ।
 विलासधारिणी चान्या चतुर्थी कुण्डधारिणी ॥ ४४ ॥
 पञ्चमी विद्रुधिस्थानं षष्ठी प्राणधरा मता ।
 कलासप्तमी मांसधरा द्वितीया रक्तधारिणी ॥ ४५ ॥
 यकृत्प्रीहाश्रया चान्या मेदोधराऽस्थिधारिणी ।

मज्जास्ने अपुरीषाणां धरा पक्ताशयस्थिता ।

षष्ठी पित्तधरा शुक्रधरा शुक्राशयाऽपरा ॥ ४६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे आत्यन्तिकलयगर्भोत्पत्तिनिरूपणं नामा
ष्टषष्ट्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथोनसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— 000 —

शरीरावयवाः ।

अग्निरुवाच । श्रीनं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं धीः खञ्ज भूतगं ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः खादिषु तद्गुणाः ॥ १ ॥

पायूपस्थौ करो पादौ वाग्भवेत् कर्मखन्तथा ।

उत्सर्गानन्दकादानगतिवागादि कर्म तत् ॥ २ ॥

पञ्चकर्मेन्द्रियान्यत्र पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि च ।

इन्द्रियार्थाश्च पञ्चैव महाभूता मनोऽधिपाः ॥ ३ ॥

आत्माऽव्यक्तश्चतुर्विंशत्त्वानि पुरुषः परः ।

संयुक्तश्च वियुक्तश्च यथा मत्स्योदके उभे ॥ ४ ॥

अव्यक्तमाश्रितानीह रजःसखतमांसि च ।

आन्तरः पुरुषो जीवः स परं ब्रह्म कारणं ॥ ५ ॥

स याति परमं स्थानं यो वेत्ति पुरुषं परं ।

सप्ताशयाः स्मृता देहे रुधिरस्यैक आशयः ॥ ६ ॥

स्नेहणसामपित्ताभ्यां पक्ताशयस्तु पञ्चमः ।

वायुमूत्राशयः सप्तः स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः ॥ ७ ॥
पित्तात्पक्वाशयोऽग्नेः स्याद्योनिर्विकशिता द्युती ।
पद्मवद्गर्भाशयः स्यात्तत्र धत्ते सरक्तकं ॥ ८ ॥
शुक्रं स्वशुक्रतसाङ्गं कुन्तलान्यत्र कालतः ।
न्यस्तं शुक्रमतो योनौ नेति गर्भाशयं मुने ॥ ९ ॥
ऋतावपि च योनिशेधातपित्तकफावृता ।
भवेत्तदा विकाशित्वं नैव तस्यां प्रजायते ॥ १० ॥
बुक्कात्पुक्कसकप्रीहकतकोष्ठाङ्गद्वयाः ।
तण्डकश्च महाभाग निबद्धान्याशये मतः ॥ ११ ॥
रसस्य पथ्यमानस्य साराङ्गवति देहिनां ।
प्रीहा यक्तश्च धर्मज्ञ रक्तफेणाश्च पुक्कसः ॥ १२ ॥
रक्तं पित्तश्च भवति तथा तण्डकसंज्ञकः ।
मेदोरक्तप्रसाराश्च बुक्कायाः सम्भवः स्मृतः ॥ १३ ॥
रक्तमांसप्रसाराश्च भवन्त्यन्त्राणि देहिनां ।
सार्धत्रिव्यामसंख्यानि तानि नृणां विनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥
त्रिव्यामानि तथा स्त्रीणां प्राहुर्वेदविदो जनाः ।
रक्तवायुसमायोगात् कामेयस्योद्भवः स्मृतः ॥ १५ ॥
कफप्रसाराङ्गवति हृदयं पद्ममन्निभं ।
अधोमुखं तद्दुषिरं यत्र जीवो व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
चैतन्यानुगता भावाः सर्वे तत्र व्यवस्थिताः ।
तस्य वामे तथा प्रीहा दक्षिणे च तथा यक्तत् ॥ १७ ॥
दक्षिणे च तथा क्षोम पद्मस्यैवं प्रकीर्तितं ।
श्रोतांसि यानि देहेऽस्मिन् कफरक्तवहानि च ॥ १८ ॥

तेषां भूतानुमानाच्च भवतीन्द्रियसम्भवः ।
 नेत्रयोर्मण्डलं शुक्लं कफाद्भवति पैटकं ॥ १९ ॥
 कृष्णञ्च मण्डलं वातात्तथा भवति माटकं ।
 पित्तास्त्वङ्मण्डलं ज्ञेयं मातापितृसमुद्भवं ॥ २० ॥
 मांसासृक्कफजा जिह्वा भेदोऽसृक्कफमांसजौ ।
 वृषाणौ दश प्राणस्य ज्ञेयान्यायतनानि तु ॥ २१ ॥
 मूर्धा हृन्नाभिकण्ठाश्च जिह्वा शुकृश्च शोणितं ।
 गुदं वस्तिश्च गुल्फश्च कण्डुराः षोडशरिताः ॥ २२ ॥
 द्वे करे द्वे च चरणे चतस्रः पृष्ठतो गले ।
 देहे पादादिशीर्षान्ते जालानि चैव षोडश ॥ २३ ॥
 मांसस्त्रायुशिरास्थिन्यः चत्वारश्च पृथक् पृथक् ।
 मणिवन्धनगुल्फेषु निबद्धानि परस्परं ॥ २४ ॥
 षट्कूर्चानि स्मृतानीह हस्तयोः पादयोः पृथक् ।
 ग्रीवायाञ्च तथा भेदे कथितानि मनीषिभिः ॥ २५ ॥
 पृष्ठवंशस्योपगताश्चतस्रो मांसरज्जवः ।
 नवत्यश्च तथा पेश्यस्तासां बन्धनकारिकाः ॥ २६ ॥
 सौरण्यश्च तथा सप्त पञ्च मूर्धानमाश्रिताः ।
 एकैका भेदजिह्वास्ता अस्थि षष्टिशतत्रयं ॥ २७ ॥
 सूक्ष्मैः सह चतुःषष्टिर्दशना विंशतिर्नखाः ।
 पाणिपादशलाकाश्च तासां स्थानचतुष्टयं ॥ २८ ॥
 षष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पाण्योः गुल्फेषु च चतुष्टयं ।
 चत्वार्यरत्नगोरस्थीनि जङ्घयोस्तद्देव तु ॥ २९ ॥
 द्वे द्वे जानुकपोलीरुफलकांशसमुद्भवं ।

अक्षस्थानांशकश्रेणिफलके चैवमादिशेत् ॥ ३० ॥
 भगास्तीकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
 शीवायाञ्च तथाऽस्थीनि जत्रुकञ्च तथा हनुः ॥ ३१ ॥
 तन्मूलं द्वे ललाटाक्षिगण्डनासाङ्घ्र्यवस्थिताः ।
 पर्शुकास्तालुकैः सार्द्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ३२ ॥
 द्वे शङ्खके कपालानि चत्वार्येव शिरस्तथा ।
 उरः सप्तदशास्थीनि सन्धीनां द्वे शते दश ॥ ३३ ॥
 अष्टषष्टिस्तु शाखासु षष्टिशैकविवर्जिता ।
 अन्तरा वै चाशीतिश्च स्याद्योर्ध्वशतानि च ॥ ३४ ॥
 त्रिंशाधिके द्वे शते तु अन्तराधौ तु सप्ततिः ।
 ऊर्ध्वगाः षट्शतान्येव शाखास्तु कथितानि तु ॥ ३५ ॥
 पञ्चपेशीशतान्येव(१) चत्वारिंशत्तथोर्ध्वगाः ।
 चतुःशतन्तु शाखासु अन्तराधौ च षष्टिका ॥ ३६ ॥
 स्त्रीणां चैकाधिका वै स्याद्विंशतिश्चतुरसरा ।
 स्तनयोर्दश योनी च त्रयोदश तथाशये ॥ ३७ ॥
 गर्भस्य च चतस्रः स्युः शिराणाञ्च शरीरिणां ।
 त्रिंशच्छतसहस्राणि तथान्यानि नवैव तु ॥ ३८ ॥
 षट्पञ्चाशत्सहस्राणि रसन्देहे वहन्ति ताः ।
 केदार इव कुल्याय क्लेदलेपादिकञ्च यत् ॥ ३९ ॥
 द्वासप्ततिस्तथा कोटो व्योम्नामिह महासुने ।
 मज्जाया मेदसश्चैव वसायाञ्च तथा द्विज ॥ ४० ॥
 मूत्रस्य चैव पित्तस्य श्लेष्मणः शकृतस्तथा ।

१ पञ्चपेशीशतान्येवति च० अ०, च ।

रक्तस्य सरसस्यात्र क्रमशोऽञ्जलयो मताः ॥ ४१ ॥
 अर्धार्धाभ्यधिकाः सर्वाः पूर्वपूर्वाऽञ्जलेर्मताः ।
 अर्धाञ्जलिश्च शुक्रस्य तदर्धं च तथैजसः ॥ ४२ ॥
 रजसस्तु तथा स्त्रीणाञ्चतस्रः कथिता बुधैः ।
 शरीरं मलदोषादि पिण्डं ज्ञात्वात्मनि त्यजेत्(१) ॥ ४३ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे शरीरावयवा नामो
 न सप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

नरकरूपणम् ।

अग्निह्वाच । उक्तानि यममार्गाणि वक्ष्येऽथ मरणे कृष्यां ।
 जप्त्वा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ॥ १ ॥
 शरीरमुपदध्याऽथ कृत्स्नान्दोषान्कृण्वति वै ।
 छिनत्ति प्राणस्थानानि पुनर्मर्माणि चैव हि ॥ २ ॥
 शैत्यात् प्रकुपितो वायुच्छिद्रमन्विष्यते ततः ।
 हे नेत्रे ह्यौ तथा कर्णौ ह्यौ तु नासापुटी तथा ॥ ३ ॥
 जर्हन्तु सप्त छिद्राणि अष्टमं वदनं तथा ।
 एतैः प्राणो विनिर्याति प्रायशः शुभकर्मणां ॥ ४ ॥
 अधः पायुरूपस्थञ्च अग्नेनाशुभकारिणां ।

१ पिण्डं कृत्वा तु विन्यसेदिति अ० ।

मूर्धानं योगिनी भित्त्वा जीवी यात्यथ चेच्छया ॥ ५ ॥
 अन्तकाले तु सम्प्राप्ते प्राचेऽपानमुपस्थिते ।
 तमसा संवृते ज्ञाने संवृतेषु च मर्मासु ॥ ६ ॥
 स जीवी नाभ्यधिष्टानश्चाख्यते मातरिश्चना ।
 बाध्यमाणश्चानयते अष्टाङ्गाः प्राणवृत्तिकाः ॥ ७ ॥
 च्यवन्तं जायमानं वा प्रविशन्तश्च योनिषु ।
 प्रपश्यन्ति च तं सिद्धा देवा दिव्येन चक्षुषा ॥ ८ ॥
 गृह्णाति तत्क्षणाद्योगे शरीरश्चातिवाहिकम् ।
 आकाशवायुतेजांसि विग्रहादूर्ध्वगामिनः ॥ ९ ॥
 जलं मही च पञ्चत्वमापन्नः पुरुषः स्मृतः ।
 आतिवाहिकदेहन्तु यमद्रूता नयन्ति तं ॥ १० ॥
 याम्यं मार्गं महाघोरं षड्भ्रीतिसहस्रकम् ।
 अन्नोदकं नीयमानो बान्धवैर्दत्तमश्रुते ॥ ११ ॥
 यमं दृष्ट्वा यमोक्तेन चित्रगुप्तेन चेरितान् ।
 प्राप्नोति नरकान्नौद्रान्धर्मी शुभपथैर्दिवम् ॥ १२ ॥
 भुज्यन्ते पापिभिर्वस्थे नरकांस्ताश्च यातनाः ।
 अष्टाविंशतिरेवाधःक्षिते नरककोटयः ॥ १३ ॥
 सप्तमस्य तलस्थान्ते घोरि तमसि संस्थिताः ।
 घोराख्या प्रथमाकोटिः सुघोरा तदधःस्थिता ॥ १४ ॥
 अतिघोरा महाघोरा घोररूपा च पञ्चमी ।
 षष्ठी तरलताराख्या सप्तमी च भयानका ॥ १५ ॥
 भयोत्कटा कालरात्री महाचण्डा च चण्डया ।
 कीलाहला प्रचण्डाख्या पेद्गा नरकनायिका ॥ १६ ॥

पद्मावती भीषणा च भीमा चैव करालिका ।
 विकराला महावज्रा त्रिकोणा पञ्चकोणिका ॥ १० ॥
 सुदीर्घा वर्तुला सप्तभूमा चैव सुभूमिका ।
 दीप्तमायाऽष्टाविंशतयः कोटयः पापिदुःखदाः ॥ १८ ॥
 अष्टाविंशतिकोटोनां पञ्च पञ्च च नायकाः ।
 रौरवाद्याः शतशैकं चत्वारिंशत्तुष्टयं ॥ १९ ॥
 तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवी ।
 असिपत्रं वनशैव लोहभारं तथैव च ॥ २० ॥
 नरकं कालसूत्रञ्च महानरकमेव च ।
 सञ्चोवनं महावीचि तपनं सम्प्रतापनं ॥ २१ ॥
 सङ्घातञ्च सकाकोलं कुशलं पूतिमृत्तिकं ।
 लोहशङ्कुमृजीषञ्च प्रधानं शाल्मलीं नदीम ॥ २२ ॥
 नरकान्विद्धि कोटीशनागान्वै घोरदर्शनान् ।
 पात्यन्ते पापकर्माण एकैकस्मिन्बहुष्वपि ॥ २३ ॥
 मार्जारोलूकगोमायुष्टभ्रादिवदनाश्च ते ।
 तैलद्रोण्यां नरं चिह्ना ज्वालयन्ति हुताशनं ॥ २४ ॥
 अम्बरीषेषु चैवान्यांस्ताम्रपात्रेषु चापरान् ।
 अयःपात्रेषु चैवान्यान् बहुवह्निकणेषु च ॥ २५ ॥
 शूलाधारोपितासान्ये ह्यियन्ते नरकेऽपरे ।
 ताडान्ते च कशाभिस्तु भोज्यन्ते चाप्ययोगुडान् ॥ २६ ॥
 यमदूतैर्नराः पांशून्विठारक्तकफादिकान् ।
 तप्तं मद्यं पाययन्ति पाटयन्ति पुनर्नरान् ॥ २७ ॥
 यन्त्रेषु पीडयन्ति स्म भक्ष्यन्ते वायसादिभिः ।

तैलेनोष्णं सिच्यन्ते छिद्यन्ते नैकघा शिरः ॥ २८ ॥
 हा तातेति क्रन्दमानाः स्वकन्निदन्ति कर्म्म ते ।
 महापातकजान्घोराङ्गरकः न्प्राप्य गर्हितान् ॥ २९ ॥
 कर्म्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्रिह ।
 मृगश्वशूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ३० ॥
 खरपुङ्गवश्चेच्छानां मद्यपः स्वर्णहार्यपि ।
 क्कमिकीटपतङ्गत्वं गुरुगस्तृणगुल्मतां ॥ ३१ ॥
 ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापः श्यावदन्तकः ।
 स्वर्णहारो तु कुनखी दुश्कर्मा गुरुतल्पगः ॥ ३२ ॥
 यो येन संस्पृश्यत्येषां स तन्निङ्गीऽभिजायते ।
 अन्नहर्ता मायावी स्वाम्भूको वागपहारकः ॥ ३३ ॥
 धान्यं ह्रत्वाऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।
 तैलहृत्तैलपायी स्यात् पूतिब्रह्मस्तु सूचकः ॥ ३४ ॥
 परस्य योषितं ह्रत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ।
 अरस्थे निर्जने देशे जायते ब्रह्मराक्षसः ॥ ३५ ॥
 रत्नहारी हीनजातिर्गन्धान् कुङ्कुन्दरो शुभान् ।
 पत्रं शाकं शिखी ह्रत्वा मुखरो धान्यहारकः ॥ ३६ ॥
 अजः पशुपयः काको यानमुष्टः (१) फलं कपिः ।
 मधु दंशः फलं गृध्रो गृहकाक उपस्कारं ॥ ३७ ॥
 श्वित्री वस्त्रं सारसश्च भिक्षी लवणहारकः ।
 उक्तं आध्यात्मिकस्तापः शस्त्राद्यैराधिभौतिकाः ॥ ३८ ॥
 ग्रहाम्निदेवपीडाद्यैराधिदैविक ईरितः ।

१ यानं वक्ष्यति च० ।

(४०)

त्रिधा तापं हि संसारं ज्ञानयोगाहिनाशयेत् ।

कृद्भ्रूव्रतैश्च दानाद्यैर्विष्णुपूजादिभिर्नरः ॥ १८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे नरकनिरूपणं नाम

सप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथैकसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

यमनियमाः ।

अग्निर्वाच । संसारतापमुत्तयर्थं ब्रह्माभ्यऽष्टाङ्गयोगकं ।

ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं(१) योगस्तत्रैकचित्तता ॥ १ ॥

चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥ २ ॥

यमाः पञ्च स्मृता विप्र नियमाद्भुक्तिमुक्तिदाः ।

शौचं सन्तोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने ॥ ३ ॥

भूतापीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः ।

यथा गजपदेऽन्यानि(२) पदानि पथगामिनां(३) ॥ ४ ॥

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते ।

उद्देगजननं हिंसा सन्तापकरणन्तथा ॥ ५ ॥

रुक्कतिः शोनितकतिः पैशुन्यकरणन्तथा ।

१ ब्रह्मप्रकाशनं ज्ञानमिति ज० ।

२ यथा गजपदेऽन्यामिति क० ।

३ पदगामिनामिति ज०, ज०, च ।

हितस्यातिनिषेधश्च मर्मोद्घाटनमेव च ॥ ६ ॥
 सुखापङ्कतिः संरोधो बधो दशविधा च सा ।
 यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणं ॥ ७ ॥
 सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियं ।
 प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेव धर्मः सनातनः ॥ ८ ॥
 मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्य्यन्तदष्टधा ।
 स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं ॥ ९ ॥
 सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
 एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १० ॥
 ब्रह्मचर्य्यं क्रियामूलमन्यथा विफला क्रिया ।
 वसिष्ठश्चन्द्रमाः शुक्रो देवाचार्य्यः पितामहः ॥ ११ ॥
 तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिताः ।
 गोडी पैथी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः ॥ १२ ॥
 चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत् ।
 माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति ॥ १३ ॥
 यस्माद्दृष्टमदा नारी तस्मात्तान्नावलीकयेत् ।
 यद्वा तद्वाऽपरद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ॥ १४ ॥
 अशयं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ।
 कौपीनाच्छादनं वासः कन्यां शीतनिवारिणीं ॥ १५ ॥
 पादुके चापि गृह्णीयात् कुर्यान्नान्यस्य संग्रहं ।
 देहस्थितिनिमित्तस्य वस्त्रादेः स्यात्परिग्रहः ॥ १६ ॥
 शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
 शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं वाङ्ममभ्यन्तरं तथा ॥ १७ ॥

सृज्जलाभ्यां स्मृतं वाङ्मं भावशुद्धेरथान्तरं ।
 उभयेन शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतरः शुचिः ॥ १८ ॥
 यथा कथञ्चित्प्राप्तया च सन्तोषस्तुष्टिरुच्यते ।
 मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च एकाग्रं तप उच्यते ॥ १९ ॥
 तज्जयः सर्वधर्मैर्भ्यः स धर्मैः पर उच्यते ।
 वाचिकं मन्त्रजप्यादि मानसं रागवर्जनं ॥ २० ॥
 शरीरं देवपूजादि सर्वदन्तु त्रिधा तपः ।
 प्रणवाद्यास्ततो वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः ॥ २१ ॥
 वाङ्मयः प्रणवः सर्वं तस्मात्प्रणवमभ्यसेत् ।
 अकारश्च तथोकारो मकारश्चार्धमात्रया ॥ २२ ॥
 तिस्रो मात्रास्त्रयो वेदाः लोका भूरादयो गुणाः ।
 जायतस्त्रयः सुषुप्तिश्च ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ २३ ॥
 प्रद्युम्नः श्रीर्वासुदेवः सर्वमीङ्कारकः क्रमात् ।
 अमात्रो नष्टमात्रश्च हैतस्यापगमः शिवः ॥ २४ ॥
 श्रीङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो मुनिः ।
 चतुर्थी मात्रा गान्धारी प्रयुक्ता मूर्ध्नि लक्ष्यते ॥ २५ ॥
 तत्तुरीयं परं ब्रह्म ज्योतिर्दीपो घटे यथा ।
 तथा हृत्पद्मनिलयं ध्यायेन्नित्यं जपेन्नरः ॥ २६ ॥
 प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
 अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत्तन्मायो भवेत् ॥ २७ ॥
 एतदेकाक्षरं ब्रह्म एतदेकाक्षरं परं ।
 एतदेकाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ २८ ॥
 छन्दोऽस्य देवी गायत्री अन्तर्यामी ऋषिः स्मृतः ।

देवता परमात्मास्य नियोगो भुक्तिमुक्तये ॥ २९ ॥
 भूरन्नात्मने हृदयं भुवः प्राजापत्यात्मने ।
 शिरः स्वःसूर्यात्मने च शिखा कवचमुच्यते ॥ ३० ॥
 श्रोत्रभुवः स्वःकवचं सत्यात्मने ततोऽस्त्रकं ।
 विन्द्यस्य पूजयेद्विष्णुं जपेद् वै भुक्तिमुक्तये ॥ ३१ ॥
 जुहुयाच्च तिलाज्यादि सर्वं सम्यद्यते नरे ।
 यस्तु द्वादशसाहस्रं जपमन्वहमाचरेत् ॥ ३२ ॥
 तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ।
 अग्निमादि कोटिजप्याल्लक्षारस्वतादिकं ॥ ३३ ॥
 वैदिकस्तान्त्रिको मित्रो विष्णवै त्रिविधो मखः ।
 ऋयानामीप्सितेनैकविधिना हरिमर्चयेत् ॥ ३४ ॥
 प्रणम्य दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्चयेत् ।
 स याङ्गतिमवाप्नोति न तां क्रतुशतैरपि ॥ ३५ ॥
 यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
 तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ३६ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे यमनियमा नामै-
 कसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ द्विसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

आसनप्राणायामप्रत्याहाराः ।

अग्निरवाच । आसनं कमलाद्युक्तं तद्दृष्ट्वा चिन्तयेत्परं ।

शुचीं देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥ १ ॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरं ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यातचित्तेन्द्रियक्रियः ॥ २ ॥

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।

समकायशरीरधीवं धारयन्नचलं स्थिरः ॥ ३ ॥

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्नन्दिग्रधानवलीकयन् ।

पार्श्विभ्यां वृषणी रक्षंस्तथा प्रजननं पुनः ॥ ४ ॥

उरुभ्यामुपरिस्थाप्य बाहू तिर्यक् प्रयत्नतः ।

दक्षिणं करपृष्ठञ्च न्यसेद्दामतलोपरि ॥ ५ ॥

उन्नम्य शनकैर्वक्त्रं मुखं विष्टभ्य चाग्रतः ।

प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्याग्रामो निरोधनं ॥ ६ ॥

नासिकापुटमङ्गुल्या पीड्यैव च परेण च ।

श्रीदरं रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः ॥ ७ ॥

वाञ्छेन वायुना देहं दृढिवत् पूरयेद्यथा ।

तथा पुर्णञ्च सन्तिष्ठेत् पूरणात् पूरकः स्मृतः ॥ ८ ॥

न भुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्वह्निःस्थितम् ।

सम्पूर्णकुम्भवत्तिष्ठेदचलः स तु कुम्भकः ॥ ९ ॥

कन्यकः(१) सक्तदुहातः स वै द्वादशमात्रिकः ।
 मध्यमस्य द्विरुहातश्चतुर्विंशतिमात्रिकः ॥ १० ॥
 उत्तमस्य त्रिरुहातः षट्त्रिंशत्सालमात्रिकः ।
 खेदकम्पाभिधातानां जननश्चोत्तमोत्तमः ॥ ११ ॥
 अजिताक्मारुहेद्भूमिं द्विकाशासादयस्तथा ।
 जिते प्राणेषु खल्वदीषविन्मूत्रादि प्रजायते ॥ १२ ॥
 आरोग्यं शीघ्रगामित्वसुखाहः स्वरसौष्ठवम् ।
 बलवर्णप्रसादश्च सर्वदीषक्षयः फलं ॥ १३ ॥
 जपध्यानं विनागर्भः स गर्भस्तत्समन्वितः ।
 इन्द्रियाणां जयार्थाय स गर्भं धारयेत्परं ॥ १४ ॥
 ज्ञानवैराग्ययुक्ताभ्यां प्राणायामवशेन च ।
 इन्द्रियांश्च विनिर्जित्य सर्वमेव जितं भवेत् ॥ १५ ॥
 इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ ।
 निगृहीतविस्मृतानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १६ ॥
 शरीरं रथमित्याहुरिन्द्रियाण्यस्य वाजिनः ।
 मनश्च सारथिः प्रोक्तः प्राणायामः कश्च(२) स्मृतः ॥ १७ ॥
 ज्ञानवैराग्यरश्मिभ्यां सायया विधृतं मनः ।
 शनैर्निश्चलतामेति प्राणायामैकसंहितम् ॥ १८ ॥
 जलविन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे पिवेत्तु यः ।
 संवत्सरशतं सायं प्राणायामश्च तत्समः ॥ १९ ॥
 इन्द्रियाणि प्रसक्तानि प्रविश्य विषयोद्धौ ।

१ कन्यस इति अ० ।

२ प्राणायामोऽह्म इति अ० ।

आहृत्य यो निष्टह्नाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २० ॥

उद्वरेदात्मनात्मानं मज्जमानं यथाशसि ।

भोगनद्यतिविवेगेन(१) आनवृत्तं समाश्रयेत् ॥ २१ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे आसनप्राणायामप्रत्याहारा नाम
द्विसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ त्रिसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

ध्यानम् ।

अग्निरुवाच । ध्ये चिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुचिन्ता मुहुर्मुहुः ।

अनाचितेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपधस्य च ।

ब्रह्मचिन्तासमा शक्तिर्ध्यानं नाम तदुच्यते ॥ २ ॥

ध्येयालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च ।

प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते ॥ ३ ॥

ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्र कुत्रचित् ।

ध्यानमेतत्समुद्दिष्टं प्रत्ययस्यैकभावना ॥ ४ ॥

एवं ध्यानसमायुक्तः स्वदेहं यः परित्यजेत् ।

कुलं स्वजनमित्राणि समुचृत्य हरिर्भवेत् ॥ ५ ॥

एवं मुहूर्त्तमर्धं वा ध्यायेद् यः अक्षया हरिं ।

सोपि यां गतिमाप्नोति न तां सर्वैर्महामखैः ॥ ६ ॥

१ भोगनद्यतिविवेगेति ज० ।

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनं ।
 एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत तत्त्ववित् ॥ ७ ॥
 योगाभ्यासाद्भवेन्मूर्तिरैश्वर्यञ्चाष्टधा महत् ।
 ज्ञानवैराग्यसम्पन्नः अहं धानः क्षमाञ्चितः ॥ ८ ॥
 विष्णुभक्तः सदीक्षाही ध्यातेत्यं पुरुषः स्मृतः ।
 मूर्तामूर्तं परस्वप्न हरेर्ध्यानं हि चिन्तनम् ॥ ९ ॥
 सकलो निष्कलो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमो हरिः ।
 अणिमादिगुणैश्वर्यं मुक्तिर्ध्यानप्रयोजनम् ॥ १० ॥
 फलेन योजको विष्णुरतो ध्यायेत् परेश्वरं ।
 गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रदुन्निषन् निमिषन्नपि ॥ ११ ॥
 शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि ध्यायेत् शततमीश्वरम् ।
 स्वदेहायतनस्थान्ते मनसि स्थाप्य केशवम् ॥ १२ ॥
 हृत्पद्मपीठिकामध्ये ध्यानयोगेन (१) पूजयेत् ।
 ध्यानयज्ञः परः शुद्धः सर्वदोषविवर्जितः ॥ १३ ॥
 तेनेष्टा मुक्तिमाप्नोति बाह्यशुद्धैश्च नाध्वरैः ।
 हिंसादोषविमुक्तित्वाद्दिशुद्धिश्चित्तसाधनः ॥ १४ ॥
 ध्यानयज्ञः परस्तस्मादपवर्गफलप्रदः ।
 तस्मादशुद्धं सन्त्यज्य ह्यनित्यं बाह्यसाधनं ॥ १५ ॥
 यज्ञाद्यं कर्म सन्त्यज्य योगमत्यर्बभभ्यसेत् ।
 विकारमुक्तमव्यक्तं भोग्यभोगसमन्वितं ॥ १६ ॥
 चिन्तयेद्बृहदे पूर्वं क्रमादादौ गुणत्रयं ।
 तमः प्रच्छाद्य रजसा सत्त्वेन च्छादयेद्भुजः ॥ १७ ॥

१ ध्यानसार्थेति ७०, ७० च ।

ध्यायेत्त्रिमण्डलं पूर्वं कृत्वा रत्नं सितं क्रमात् ।
 सस्त्रीपाधिगुणातीतः पुरुषः पञ्चविंशकः (१) ॥ १८ ॥
 ध्येयमेतदगृहञ्च त्यक्त्वा गृहं विचिन्तयेत् ।
 ऐश्वर्यं पद्मजं दिव्यं पुरुषोपरि संस्थितं ॥ १९ ॥
 हादशशुक्लविस्तीर्णं गृहं विकशितं सितम् ।
 नालमष्टाङ्गूलं तस्य नाभिकन्दसमुद्भवं ॥ २० ॥
 पद्मपत्राष्टकं त्रैयमणिमादिगुणाष्टकम् ।
 कर्णिकाकोशरं नालं ज्ञानवैराग्यमुत्तमम् ॥ २१ ॥
 विष्णुधर्मैश्च तत्कन्दमिति पद्मं विचिन्तयेत् ।
 तद्वर्मज्ञानवैराग्यं शिवैश्वर्यमयं परं ॥ २२ ॥
 ज्ञात्वा पद्मासनं सर्वं सर्वदुःखान्तमाप्नुयात् ।
 तत्पद्मकर्णिकामध्ये गृहदीपशिखाकृतिं (२) ॥ २३ ॥
 अङ्गुष्ठमात्रममलं ध्यायेदोद्धारमीश्वरं ।
 कदम्बगोलकाकारं तारं रूपमिव स्थितं ॥ २४ ॥
 ध्यायेद्वा रश्मिजालेन दीप्यमानं समन्ततः ।
 प्रधानं पुरुषातीतं स्थितं पद्मस्थमीश्वरं ॥ २५ ॥
 ध्यायेज्जपेच्च सततमोद्धारं परमच्चरं ।
 मनःस्थित्यर्थमिच्छन्ति खलू ध्यानमनुक्रमात् । २६ ॥
 तद्भूतं निश्चलीभूतं लभेत् सूक्ष्मेऽपि संस्थितं ।
 नाभिकन्दे स्थितं नाचं दशाङ्गुलसमायतं ॥ २७ ॥
 नालेनाष्टदलं पद्मं हादशाङ्गुलविस्तृतं ।

१ सस्त्रीपाधिसमायुक्तः चदा ध्येयश्च कोशर इति च० ।

२ कन्ददीपशिखाकृतिमिति च०, ज० च ।

सकर्णिके केसराले सूर्यसोमाम्निमण्डलं ॥ २८ ॥
 अग्निमण्डलमध्यस्थः शङ्खचक्रगदाधरः ।
 पद्मी चतुर्भुजो विष्णुरथ वाष्टभुजो हरिः ॥ २९ ॥
 शार्ङ्गाक्षवलयधरः पाशाङ्कुशधरः परः ।
 स्वर्णवर्णः श्वेतवर्णः सन्ध्रिवक्त्रः सकौस्तुभः ॥ ३० ॥
 वनमालो स्वर्णहारो स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
 रत्नोज्ज्वलकिरीटश्च पीताम्बरधरो महान् ॥ ३१ ॥
 सर्वाभरणभूषाढ्यो वितस्तिर्वा यथेच्छया ।
 अहं ब्रह्म ज्योतिरात्मा वासुदेवो विमुक्त भो ॥ ३२ ॥
 ध्यानाच्छान्तो जपेन्नन्दं जपाच्छ्रान्तश्च चिन्तयेत् ।
 जपध्यानादियुक्तस्य विष्णुः शीघ्रं प्रसीदति ॥ ३३ ॥
 जपयज्ञस्य वै यज्ञाः कलां नार्हन्ति षोडशीं ।
 जपिनं नोपसर्पन्ति व्याधयसाधयो ग्रहाः ।
 भुक्तिर्भुक्तिर्भृत्यजयो जपेन प्राप्नुयात् फलं (१) ॥ २४ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे ध्यानं नाम त्रिसप्तत्यधिक-

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।



धारणा ।

अग्निर्वाच । धारणा मनसोऽप्ये संस्थितिर्ध्यानवद्दिधा ।

मूर्त्तामूर्तहरिध्यानमनोधारणतो हरिः ॥ १ ॥

यद्वाह्यावस्थितं लक्ष्यं तस्मान्न चलते मनः ।

तावत् कालं प्रदेशेषु धारणा मनसि स्थितिः ॥ २ ॥

कालावधि परिच्छिन्नं देहे संस्थापितं मनः ।

न प्रच्यवति यत्तस्याद्धारणा साऽभिधीयते ॥ ३ ॥

धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादशधारणाः ।

ध्यानं द्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥ ४ ॥

धारणाभ्यासयुक्तात्मा यदि प्राणैर्विमुच्यते ।

कुलैकविंशमुत्तार्य स्वय्याति परमं पदं (१) ॥ ५ ॥

यस्मिन् यस्मिन् भवेदङ्गे योगिनां व्याधिसम्भवः ।

तत्तदङ्गं धिया व्याप्य धारयेत्तत्त्वधारणं ॥ ६ ॥

आग्नेयी वारुणी चैव ऐशानी चामृतात्मिका ।

साम्निः शिखा फडन्ता च विष्णोः कार्य्या द्विजोत्तम ॥ ७ ॥

नाडीभिर्विकटं दिव्यं शूलाग्रं वेधयेच्छुभम् ।

पादाङ्गुष्ठात् कपालान्तं रश्मिमण्डलमावृतं ॥ ८ ॥

१ अथ याति परं पदमिति च० ।

तिर्यक्चाधोर्ध्वभागेभ्यः प्रयान्त्योऽतीव तेजसा (१) ।
 चिन्तयेत् साधकेन्द्रस्तं यावत्सर्वं महासुने ॥ ८ ॥
 भस्मीभूतं शरीरं स्वन्ततश्चैवोपसंहरेत् ।
 शीतश्लेष्मादयः पापं विनश्यन्ति द्विजातयः ॥ १० ॥
 शिरो धीरञ्च (२) कारञ्च कण्ठं चाधोमुखे स्मरेत् ।
 ध्यायेदच्छिन्नचित्तात्मा भूयो भूतेन चात्मना ॥ ११ ॥
 स्फुरच्छीकरसंस्पर्शप्रभूते ह्रिमंगामिभिः ।
 धाराभिरखिलं विश्वमापूर्थ्य भुवि चिन्तयेत् ॥ १२ ॥
 ब्रह्मरन्ध्राच्च संचोभाद्यावदाधारमण्डलम् ।
 सुषुम्नान्तर्गतो भूत्वा संपूर्णेन्दुकृतालयं ॥ १३ ॥
 संग्राह्यं ह्रिमसंस्पर्शतोयेनास्य तमूर्तिना ।
 क्षुत्पिपासाक्रमप्रायसन्तापपरिपीडितः ॥ १४ ॥
 धारयेद्धारुणीं मन्त्रो तुष्टार्थं चाप्यतन्त्रितः ।
 वारुणीधारणा प्रोक्ता ऐशानीधारणां शृणु ॥ १५ ॥
 व्योम्नि ब्रह्ममये पद्मे प्राणापाणे क्षयङ्कते ।
 प्रसादं चिन्तयेद्दृक्विष्णोर्यावच्चिन्ता क्षयं गता ॥ १६ ॥
 महाभावश्चपेत् सर्वं ततो व्यापक ईश्वरः ।
 अर्द्धेन्दुं परमं शान्तं निराभासस्त्रिरञ्जनं ॥ १७ ॥
 असत्यं सत्यमाभाति तावत्सर्वं चराचरं ।
 यावत् स्वस्यन्दरूपन्तु न दृष्टं गुरुवक्त्रतः ॥ १८ ॥
 दृष्टे तस्मिन् परे तत्त्वे आब्रह्म सचराचरं ।

१ पाठोऽयमादर्शदोषेषु दृष्टः।

२ वीरश्चेति अ० ।

प्रमादमानमेवञ्च ध्यानहृत्पद्मकल्पनं ॥ १८ ॥
 मादमोदकवल्कवं जपहोमार्चनादिकं ।
 विष्णुमन्त्रेण वा कुर्यादमृतां धारणां वदे ॥ १९ ॥
 संपूर्णन्दुनिभं ध्यायेत् कमलं तन्निःसृष्टिगं ।
 शिरःस्थं चिन्तयेद् यद्वाच्छशाङ्गायुतवर्चसं ॥ २० ॥
 सम्पूर्णमण्डलं व्योम्नि शिवकञ्जोलपूरितं ।
 तथा हृत्कमले ध्यायेत्तन्मध्ये स्वतनुं स्मरेत् ।
 साधको विगतक्लेशो जायते धारणादिभिः ॥ २१ ॥
 इत्याम्ने ये महापुराणे धारणा नाम चतुःसप्तत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

समाधिः ।

अग्निर्वाच । यदात्ममात्रं निर्भासं स्तिमितोदधिवत् स्थितं ।
 चैतन्यरूपवद्भग्नं तत् समाधिरिहोच्यते ॥ १ ॥
 ध्यायन्ननः सन्निवेश्य यस्तिष्ठेद्दचलस्थिरः ।
 निर्वातानलवद्योगी समाधिस्थः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥
 न शृणोति न चाप्नाति न पश्यति न वस्यति ।
 न च स्पर्शं विजानाति न सङ्कल्पयते मनः ॥ ३ ॥
 न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
 एवमीश्वरसंलीनः समाधिस्थः स गीयते ॥ ४ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
 ध्यायतो विष्णुमात्मनं समाधिस्तस्य योगिनः ॥ ५ ॥
 उपसर्गाः प्रवर्त्तन्ते दिव्याः सिद्धिप्रसूचकाः ।
 पातितः श्रावणो धातुर्दशनस्त्राङ्गवेदनाः ॥ ६ ॥
 प्रार्थयन्ति च तं देवा भोगैर्दिव्यैश्च योगिनः ।
 नृपाश्च पृथिवीदानैर्धनैश्च सुधनाधिपाः ॥ ७ ॥
 वेदादिसर्वशास्त्रश्च स्वयमेव प्रवर्त्तते ।
 अभीष्टकन्दोविषयं काव्यश्चास्य प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥
 रसायनानि दिव्यानि दिव्याश्चौषधयस्तथा ।
 समस्तानि च शिल्पानि कलाः सर्वाश्च विन्दति ॥ ९ ॥
 सुरेन्द्रकन्या इत्याद्या गुणाश्च प्रतिभादयः ।
 ढणवत्ताम्यजेद् यस्तु तस्य विष्णुः प्रसीदति ॥ १० ॥
 अणिमादिगुणैर्ब्रह्मैः मिथे ज्ञानं प्रकाशय च ।
 भुक्त्वा भोगान् यथेच्छातस्तनुम्यक्त्वालयत्ततः ॥ ११ ॥
 तिष्ठेत् स्वात्मनि विज्ञान आनन्दे ब्रह्मण्यीश्वरे ।
 मलिनो हि यथादर्श आत्मज्ञानाय न क्षमः ॥ १२ ॥
 सर्वाश्रयान्निजे देहे देही विन्दति वेदनां ।
 योगयुक्तस्तु सर्वेषां योगान्नाप्नोति वेदनां ॥ १३ ॥
 आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत् ।
 तथात्मैको ह्यनेकेषु जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ १४ ॥
 ब्रह्मखानिलतेजांसि जलभूच्चितिधातवः ।
 इमे लोका एष चात्मा तस्माच्च सचराचरं ॥ १५ ॥

सृष्ट्वा चक्रसंयोगात् कुम्भकारो यथा घटं ।

करोति तृणमृत्काष्ठैर्मृहं वा गृहकारकः ॥ १६ ॥

करणान्येवमादाय तासु तस्त्रिह योनिषु ।

सृजत्यात्मानमात्मैवं सम्भूय करणानि च ॥ १७ ॥

कर्मणा दीपमोहाभ्यामिच्छयेव स बध्यते ।

ज्ञानाद्विमुच्यते जीवो धर्माद् योगी न रोगभाक् ॥ १८ ॥

वर्त्याधारस्त्रेहयोगाद् यथा दीपस्य संस्थितिः ।

विक्रियापि च दृष्ट्वैवमकाले प्राणसंचयः ॥ १९ ॥

अनन्ता रश्मवस्तस्य दीपवद् यः स्थितो हृदि ।

सितासिताः कद्रुनीलाः कपिलाः पीतखोहिताः ॥ २० ॥

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भिन्त्वा सूर्यमण्डलं ।

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति पराङ्गतिं ॥ २१ ॥

यदसान्यद्रश्मिग्रतमूर्धमेव व्यवस्थितं ।

तेन देवनिकायानि धामानि प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥

ये नैकरूपाद्याधस्ताद्रश्मयोऽस्य सृष्टुप्रभाः ।

इह कर्मीपभोगाय तैश्च सञ्चरते हि सः ॥ २३ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि सर्वाणि मनः कर्मेन्द्रियाणि च ।

अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ २४ ॥

अव्यक्त आत्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।

ईश्वरः सर्वभूतस्य सन्नसन् सदसच्च सः ॥ २५ ॥

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्ता ततोऽहङ्कारसम्भवः ।

तस्मात् खादीनि जायन्ते एकोत्तरगुणानि तु ॥ २६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।
 यो यस्मिन्नाश्रितश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ २७ ॥
 सत्त्वं रजस्तमस्यैव गुणास्तस्यैव कीर्तिताः ।
 रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्भाग्यते हि सः ॥ २८ ॥
 अनादिरादिमान् यश्च स एव पुरुषः परः ।
 लिङ्गं द्विद्वैरुपगच्छः स विकार उदाहृतः ॥ २९ ॥
 यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।
 श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं भवेत् ॥ ३० ॥
 पिष्टयानोपवीथ्याश्च यद्गस्यस्य चान्तरं ।
 तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति प्रजाकामा दिवं प्रति ॥ ३१ ॥
 ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ।
 अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ॥ ३२ ॥
 पुनरावर्त्तने वीजभूता धर्मप्रवर्त्तकाः ।
 सप्तर्षिनागवीथ्याश्च देवलीकं समाश्रिताः ॥ ३३ ॥
 तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ।
 तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ॥ ३४ ॥
 यत्र यत्रावतिष्ठन्ते यावदाहृतसंप्लवं ।
 वेदानुवचनं यत्रा ब्रह्मचर्यं तपो दमः ॥ ३५ ॥
 अहोपवासः सत्यत्वमात्मनो ज्ञानहेतवः ।
 स त्वाश्रमैर्निदिध्यास्यः समस्तैरेवमेव तु ॥ ३६ ॥
 द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ।
 य एवमेनं विन्दन्ति ये चारण्यकमाश्रिताः ॥ ३७ ॥
 उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ।

क्रमात्ते सम्भवन्त्यश्चिरहः शुक्लं तथोत्तरं ॥ ३८ ॥
 अथनन्देवलोकश्च सवितारं सविद्युतं ।
 ततस्तान् पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलोकिकान् ॥ ३९ ॥
 करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ।
 यज्ञेन तपसा दानैर्यं हि स्वर्गजितो जनाः ॥ ४० ॥
 धूमं निशां कृष्णपद्मं दक्षिणायनमेव च ।
 पिष्टलोकं चन्द्रमसं नभो वायुं जलं महीं ॥ ४१ ॥
 क्रमात्ते सम्भवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ।
 एतद्व्यो न विजानाति मार्गहितयमात्मनः ॥ ४२ ॥
 दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कौटोऽथवा कृमिः ।
 हृदये दीपवद्ब्रह्मध्यानाज्जीवो मृतो भवेत् ॥ ४३ ॥
 न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
 आहकृत्यत्वादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ ४४ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे समाधिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ षट्सप्तत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।

—on@uo—

ब्रह्मज्ञानं ।

अग्निरुवाच । ब्रह्मज्ञानं प्रवक्ष्यामि संसाराज्ञानमुक्तये ।

अयमात्मा परं ब्रह्म अहमस्मीति मुच्यते ॥ १ ॥

देह आत्मा न भवति दृश्यत्वाच्च घटादिवत् ।

प्रसुप्ते मरणे देहादात्माऽन्यो ज्ञायते ध्रुवं ॥ २ ॥

देहः स चेदव्यवहरेदविकार्यादिसन्निभः ।

सक्षुरादीनीन्द्रियाणि नात्मा वै करणं त्वतः ॥ ३ ॥

मनो धीरपि आत्मा न दीपवत् करणं त्वतः ।

प्राणोऽप्यात्मा न भवति सुषुप्ते चित्प्रभावतः ॥ ४ ॥

जाग्रत्स्वप्ने च चैतन्यं सङ्कीर्णत्वान्न बुध्यते ।

विज्ञानरहितः प्राणः सुषुप्ते ज्ञायते यतः ॥ ५ ॥

अतो नात्मेन्द्रियं तस्मादिन्द्रियादिकमात्मनः ।

अहङ्कारोऽपि नैवात्मा देहवहाभिचारतः ॥ ६ ॥

उक्तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽयमात्मा सर्वहृदि स्थितः ।

सर्वद्रष्टा च भोक्ता च नक्तमुञ्ज्वलदीपवत् ॥ ७ ॥

समाधारश्चकाले च एवं सञ्चिन्तयेन्मनिः ।

यतो ब्रह्मण आकाशं खाद्यायुर्वायुतोऽनलः ॥ ८ ॥

अग्नेरापो जलात्पृथ्वी ततः सूक्ष्मं प्ररीरकं ।

अपञ्चीकृतभूतेभ्य आसन् पञ्चीकृतान्यतः ॥ ९ ॥

स्थूलं शरीरं ध्यात्वास्मात्तयं ब्रह्मणि चिन्तयेत् ।
 पञ्चीकृतानि भूतानि तत्कार्येषु विराट्स्मृतम् ॥ १० ॥
 एतत् स्थूलं शरीरं हि आत्मनो ज्ञानकल्पितं ।
 इन्द्रियैरथ विज्ञानं धीरा जागरितं विदुः ॥ ११ ॥
 विश्वस्तदभिमानो स्यात् तयमेतदकारकं ।
 अपञ्चीकृतभूतानि तत्कार्यं लिङ्गमुच्यते ॥ १२ ॥
 संयुक्तं समदग्रभिर्हिरण्यगर्भसंज्ञितं ।
 शरीरमात्मनः सूक्ष्मं लिङ्गमित्यभिधीयते ॥ १३ ॥
 जाग्रत्संस्कारजः स्वप्नः प्रत्ययो विषयात्मकः ।
 आत्मा तदुपमानी स्यात्तैजसो ह्यप्रपञ्चतः ॥ १४ ॥
 स्थूलसूक्ष्मशरीराख्यद्वयस्यैकं हि कारणं ।
 आत्मा ज्ञानञ्च साभासं तदध्याहृतमुच्यते ॥ १५ ॥
 न सन्नासन्न सदसदेतत्त्वावयवं न तत् ।
 निर्गतावयवं नेति नाभिन्नं भिन्नमेव च ॥ १६ ॥
 भिन्नाभिन्नं ह्यनिर्वाच्यं बन्धसंसारकारकं ।
 एकं स ब्रह्म विज्ञानात् प्राप्तं नैव च कर्मभिः ॥ १७ ॥
 सर्वात्मना हीन्द्रियाणां संहारः कारणात्मनां ।
 बुद्धेः स्थानं सुषुप्तं स्यात्तद्वयस्याभिमानवान् ॥ १८ ॥
 प्राज्ञ आत्मा त्रयश्चैतत् मकारः प्रणवः स्मृतः ।
 अकारश्च उकारोऽसौ मकारो ह्ययमेव च ॥ १९ ॥
 अहं साक्षी च चिन्मात्रो जाग्रत्स्वप्नादिकस्य च ।
 नाज्ञानश्चैव तत्कार्यं संसारादिकबन्धनं ॥ २० ॥
 नित्यशुद्धबन्धमुक्तसत्यमानन्दमद्वयं ।

ब्रह्माहमस्मिहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विमुक्तं श्रीं ॥ २१ ॥

अहं ब्रह्म परं ज्ञानं समाधिर्बन्धघातकः ।

चिरमानन्दकं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकं ॥ २२ ॥

अयमात्मा परम्ब्रह्म तद् ब्रह्म त्वमसीति च ।

गुरुणा बोधितो जीवो ह्यहं ब्रह्मास्मि वाह्यतः ॥ २३ ॥

सोऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्ड श्रीं ।

मुच्यतेऽसारसंसाराद्ब्रह्मज्ञो ब्रह्म तद्भवेत् ॥ २४ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे ब्रह्मज्ञानं नाम षट्सप्तत्यधिक-

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ सप्तसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000—

ब्रह्मज्ञानं ।

अग्निर्वाच । अहं ब्रह्म परं ज्योतिः पृथिव्यवन्लोञ्छितं ।

अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्वायुकाशविवर्जितं ॥ १ ॥

अहं ब्रह्म परं ज्योतिरादिकार्यविवर्जितम् ।

अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विराडात्मविवर्जितं ॥ २ ॥

अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जाग्रत्स्थानविवर्जितम् ।

अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्विश्वभावविवर्जितम् ॥ ३ ॥

अहं ब्रह्म परं ज्योतिराकाराक्षरवर्जितम् ।

अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्वाक्पाण्डित्यविवर्जितम् ॥ ४ ॥

- अहं ब्रह्म परं ज्योतिः पायूपख्यविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जम्भितं ॥ ५ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतीरसरूपविवर्जितम् ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सर्वगन्धविवर्जितं ॥ ६ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जिह्वाघ्राणविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्पर्शशब्दविवर्जितं ॥ ७ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्भ्रानोबुद्धिविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिश्चित्ताहङ्कारवर्जितं ॥ ८ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्राणापानविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्व्यानोदानविवर्जितं ॥ ९ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः समानपरिवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्जरामरणवर्जितं ॥ १० ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः शोकमोहविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः क्षुत्पिपासाविवर्जितं ॥ ११ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः शब्दोद्भूतादिवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्हिरण्यगर्भवर्जितं ॥ १२ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः स्वप्नावस्थाविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिस्तैजसादिविवर्जितं ॥ १३ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिरपकारादिवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सभाम्नानविवर्जितं ॥ १४ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिरध्याहृतविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सत्त्वादिगुणवर्जितं ॥ १५ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सदसद्भाववर्जितं ।

- अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सर्वावयववर्जितं ॥ १६ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्भेदाभेदविवर्जितं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः सुषुप्तिस्थानवर्जितम् ॥ १७ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्राज्ञभावविवर्जितम् ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्मकारादिविवर्जितम् ॥ १८ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्मानभेयविवर्जितम् ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्मितिमाहविवर्जितम् ॥ १९ ॥
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः साक्षित्वादिविवर्जितम् ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः कार्यकारणवर्जितम् ॥ २० ॥
 देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारवर्जितं ।
 जाग्रत् सप्रसुप्त्यादिमुक्तं ब्रह्म तुरीयकं ॥ २१ ॥
 नित्यशुद्धबुद्धमुक्तं सत्यमानन्दमहयम् ।
 ब्रह्माहमस्म्यहं ब्रह्म सविज्ञानं विमुक्तं श्रीं ।
 अहं ब्रह्म परं ज्योतिः समाधिर्भीक्ष्णः परः ॥ २२ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे समाधिर्नाम सप्तसप्तत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथाष्टसप्तत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

ब्रह्मज्ञानं ।

अग्निर्वाच । यज्ञैश्च देवानाप्रीतिं वैराजं तपसा पदं ।

ब्रह्मणः कर्मसत्र्यासाद्धैराग्यात् प्रकृतौ लयं ॥ १ ॥

ज्ञानात् प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः ।

प्रीतितापविषादादेर्विनिवृत्तिर्विरक्तता ॥ २ ॥

सत्र्यासः कर्मणान्यागः कृतानामकृतैः सह ।

अव्यक्तादौ विशेषान्ते विकारोऽस्मिन्नवर्त्तते ॥ ३ ॥

चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते ।

परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ॥ ४ ॥

विष्णुनाम्ना च देवेषु वेदान्तेषु च गीयते ।

यज्ञेश्वरो यज्ञपुमान् प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ ॥ ५ ॥

निवृत्तैर्ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्तिः स चेच्यते ।

ऋष्वदीर्घप्लुताद्यन्तु वचस्तत्पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥

तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानञ्च कर्म चोक्तं महामुने ।

आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते ॥ ७ ॥

शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ।

हे ब्रह्मणी वेदितव्ये ब्रह्मशब्दपरञ्च यत् ॥ ८ ॥

वेदादिविद्या ह्यपरमचरं ब्रह्मसत्परम् ।

तदेतद्भगवहाच्यमुपचारेऽर्चनेऽन्यतः ॥ ९ ॥

सम्भर्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः ।

नेता गमयिता स्रष्टा गकारोऽयं महामुने ॥ १० ॥

ऐश्वर्यस्य समयस्य वीर्यस्य यशसः त्रियः ।
 ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षष्ठां भग इतीङ्गना ॥ ११ ॥
 वसन्ति विष्णौ भूतानि स च धातुस्त्रिधात्मकः ।
 एवं हरौ हि भगवान् शब्दोऽन्यत्रोपचारतः ॥ १२ ॥
 उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिं ।
 वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥ १३ ॥
 ज्ञानशक्तिः परैश्वर्यं वीर्यं तेजांस्यशेषतः ।
 भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ १४ ॥
 खाण्डिक्यजनकायाह योगं केशिध्वजः पुरा ।
 अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या आत्मस्वमिति या मतिः ॥ १५ ॥
 अविद्याभवसम्भूतिर्वीजमेतद्द्विधा स्थितम् ।
 पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमाश्रितः ॥ १६ ॥
 अहमेतदित्युच्चैः कुर्वते कुमतिर्मतिं ।
 इत्थञ्च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पातितेषु च ॥ १७ ॥
 करोति पण्डितः साम्यमनात्मनि कलेवरे ।
 सर्वदेहोपकाराय कुर्वते कर्म मानवः ॥ १८ ॥
 देहस्थान्यो बदा पुंसस्तदा बन्धाव तत्परं ।
 निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ॥ १९ ॥
 दुःखज्ञानमयोऽधर्मः प्रकृतेः स तु नात्मनः ।
 जलस्य नाग्निना सङ्गः स्थालीसङ्गात्तथापि हि ॥ २० ॥
 ब्रह्मास्ते कादिका धर्मास्तत् कृता वै महामुने ।
 तथात्मा प्रकृतौ सङ्गादहंमानादिभूषितः ॥ २१ ॥
 भजते प्राकृताम्हर्मान् अन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ।

वक्ष्याय विषयासङ्गं मनो निर्विषयं धिये ॥ २२ ॥
 विषयात्तत्त्वमाकृष्य ब्रह्मभूतं हरिं क्षरेत् ।
 आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्माध्यायिनं मुने ॥ २३ ॥
 विषयार्थं स्वात्मनः यत्तथा लीहमाकर्षको यथा ।
 आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ॥ २४ ॥
 तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ।
 विनिष्पन्दः समाधिस्थः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २५ ॥
 यमैः सन्नियमैः स्थित्या प्रत्याहृत्या मरुञ्जयैः ।
 प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः ॥ २६ ॥
 वशीकृतैस्ततः कुर्यात् स्थितं चेतः शुभाश्रये ।
 आश्रयश्चे तसौ ब्रह्म मुक्तं चामूर्तकं द्विधा ॥ २७ ॥
 सनन्दनादयो ब्रह्मभावभावनया युताः ।
 कर्मभावनया चान्ये देवाद्याः स्यावरात्मकाः ॥ २८ ॥
 हिरण्यगर्भादिषु च ज्ञानकर्मात्मिका द्विधा ।
 त्रिविधा भावना प्रोक्ता विश्वं ब्रह्म उपास्यते ॥ २९ ॥
 प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरं ।
 वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम् ॥ ३० ॥
 तच्च विष्णोः परं रूपमरूपस्याजमक्षरं ।
 अशक्यं प्रथमं ध्यातुमतो मूर्त्तादि चिन्तयेत् ॥ ३१ ॥
 ब्रह्मावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना ।
 भवत्यभेदौ भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥ ३२ ॥
 इत्याम्बेये महापुराणे ब्रह्मज्ञानं नामाष्टसप्तत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथोनाशीत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

— ०००@००० —

अद्वैतब्रह्मविज्ञानं ।

अग्निर्वाच । अद्वैतब्रह्मविज्ञानं वक्ष्ये यद्भवतीऽगदत् ।

शालग्रामे तपस्रक्रे वासुदेवार्चनादिकृत् ॥ १ ॥

सृगसङ्गान्मृगो भूत्वा स्रन्तकाले स्मरन् सृगं ।

जातिस्मरो सृगस्यक्त्वा देहं योगात्सतोऽभवत् ॥ २ ॥

अद्वैतब्रह्मभूतश्च जडवस्त्रिकमाचरत् ।

क्षत्ताऽसौ वीरराजस्य विष्टियोगममन्यत ॥ ३ ॥

उवाह शिविकामस्य क्षत्तुर्वचनचोदितः ।

गृहीतो विष्टिना ज्ञानी उवाहात्मक्षयाय तं ॥ ४ ॥

यथौ जडगतिः पश्चात् ये त्वन्ये त्वरितं ययुः ।

शीघ्रान् शीघ्रगतीन् दृष्ट्वा अशीघ्रं तं नृपोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

राजोवाच । किं आन्तोऽस्यल्पमध्वानं त्वयोढा शिविका मम ।

किमाथाससहो न त्वं पीवानसि निरीक्ष्यसे ॥ ६ ॥

ब्राह्मण उवाच । नाहं पीवान्न वैषोढा शिविका भवती मया ।

न आन्तोऽस्मि न वायासो वोढव्योऽसि महीपते ॥ ७ ॥

भूमौ पादयुगन्तस्यौ जङ्घे पादद्वये स्थिते ।

उरू जङ्घाद्वयावस्थौ तदाधारं तथोदरम् ॥ ८ ॥

वक्षःस्थलं तथा वाङ्गं स्तम्भौ चोदरसंस्थितौ ।

स्तम्भस्थितेयं शिविका मम भावोऽत्र किं कृतः ॥ ९ ॥

शिविकायां स्थितश्चेदं देहं त्वदुपलक्षितं ।
 तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चेदमन्यथा ॥ १० ॥
 अहं त्वञ्च तथाऽन्ये च भूतैरुद्दाम(१)पार्थिव ।
 गुणप्रवाहपतितो गुणवर्गो हि यात्ययं ॥ ११ ॥
 कर्मवश्या गुणाश्चैते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते ।
 अविद्यासञ्चितं कर्म तच्चाग्निषेषु जन्तुषु ॥ १२ ॥
 आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
 प्रवृत्तपचयो ब्रह्मस्य एकस्याखिलजन्तुषु ॥ १३ ॥
 यदा नोपचयस्तस्य यदा नापचयो नृप ।
 तदा पीवानसौति त्वं कया युक्त्या त्वयेरितं ॥ १४ ॥
 भूजङ्घापादकटूरुजठरादिषु संस्थिता ।
 शिविकेयं तथा स्कन्धे तदा भावःसमस्त्वया ॥ १५ ॥
 तदन्यजन्तुभिर्भूय शिविकोत्थानकर्मणा ।
 शैलद्रव्यगृहोत्थोपि पृथिवीसम्भवोपि वा ॥ १६ ॥
 यथा पुंसः पृथग्भावः प्राकृतैः करणैर्नृप ।
 सोऽद्वयः स महाभारः कतरो नृपते मया ॥ १७ ॥
 यद्भव्या शिविका चेयं तद्भव्यो भूतसंग्रहः ।
 भवती मेऽखिलस्यास्य समत्वेनोपवृंहितः ॥ १८ ॥
 तच्छ्रुत्वाच राजा तं गृहोत्वाङ्गी क्षमाप्य च ।
 प्रसादं कुरु त्यक्ते मां शिविकां ब्रूहि शृणुते ।
 यो भवान् यन्निमित्तं वा यदागमनकारणम् ॥ १९ ॥
 ब्राह्मण उवाच । श्रूयतां कीदृमित्येतद्वत्त्वं नैव च शक्यते ।

१ पाठोऽयं न समीचीनः ।

उपभोगनिमित्तञ्च सर्वत्रागमनक्रिया ॥ २० ॥
 सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देशाद्युपपादकौ ।
 धर्माधर्मोन्नवी भोक्तुं जन्तुर्देशादिरुच्छति ॥ २१ ॥
 राजोवाच । योऽस्ति सोऽहमिति ब्रह्मन् कथं वक्तुं न शक्यते ।
 आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहमिति यो हिज ॥ २२ ॥
 ब्राह्मण उवाच । शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत् ।
 अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः ॥ २३ ॥
 यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः ।
 तदा हि को भवान् कोऽहमित्येतद्विफलं वचः ॥ २४ ॥
 त्वं राजा शिविका चेयं वयं वाहाः पुरःसराः ।
 अयञ्च भवतो लोको न सदेतन्नृपोच्यते ॥ २५ ॥
 वृक्षादारु ततश्चेयं शिविका त्वदधिष्ठिता ।
 का वृक्षसंज्ञा जातास्य दारुसंज्ञाय वा नृप ॥ २६ ॥
 वृक्षारूढो महाराजो नायं वदति चेतनः ।
 न च दारुणि सर्वस्वां ब्रवीति शिविकागतं ॥ २७ ॥
 शिविकादारुसङ्घातो रचनास्थितिसंस्थितः ।
 अन्विष्यतां नृपश्रेष्ठ तद्भेदे शिविका त्वया ॥ २८ ॥
 पुमान् स्त्री गौरयं वाजी कुञ्जरो विहगस्तारुः ।
 देहेषु लोकसंज्ञेयं विज्ञेया कर्महेतुषु ॥ २९ ॥
 जिह्वा ब्रवीत्यहमिति दन्तौष्ठौ तालुकं नृप ।
 एते नाहं यतः सर्वे वाङ्निपादनहेतवः ॥ ३० ॥
 किं हेतुभिर्वदत्येषा वागेवाहमिति स्त्रयं ।
 तथापि वाङ्नाहमेतदुक्तं मिथ्या न युज्यते ॥ ३१ ॥

पिण्डः पृथग् यतः पुंसः शिरःपायादिलक्षणः ।
 ततोऽहमिति कुचेतां संघ्नां राजन् करोम्यहं ॥ ३२ ॥
 यदन्धोऽस्ति परः कोपि मत्तः पार्थिवसत्तम ।
 तदेषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥ ३३ ॥
 परमार्थभेदो न नगो न पशुर्न च पादपः ।
 शरीराद्य विभेदाद्य एते कर्मयोगिनयः ॥ ३४ ॥
 यस्तु राजेति यज्ञोक्ते यच्च राजभटात्मकम् ।
 तच्चान्यच्च नृपेऽद्यन्तु न सत् सम्यगनामयं ॥ ३५ ॥
 त्वं राजा सर्वलोकस्य पितुः पुत्रो रिपोरिपुः ।
 पत्न्याः पतिः पिता सूनीः कस्त्वा भूप वदाम्यहं ॥ ३६ ॥
 त्वं किमेतच्छिरः किन्नु शिरस्तव तद्योदरं ।
 किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत् किं महीपते ॥ ३७ ॥
 समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूतो व्यवस्थितः ।
 कोऽहमित्यत्र निपुणं भूत्वा चिन्तय पार्थिव ।
 तच्छ्रुत्वा वाच राजा तमवधूतं द्विजं हरिं ॥ ३८ ॥
 राजीवाच । श्रेयोऽर्थमुद्यतः प्रष्टुं कपिलर्षिमहं द्विज ।
 तस्यांशः कपिलर्षेस्त्वं मत् कृते ज्ञानदो भुवि ।
 ज्ञानवोचुर्दधेर्यस्माद्यच्छेयस्तच्च मे वद ॥ ३९ ॥
 ब्राह्मण उवाच । भूयः पृच्छसि किं श्रेयः परमार्थं न पृच्छसि ।
 श्रेयांस्यपरमार्थानि अशेषाण्येव भूपते ॥ ४० ॥
 देवताराधनं कृत्वा धनसम्पत्तिमिच्छति ।
 पुत्रानिच्छति राज्यञ्च श्रेयस्तस्यैव किं नृप ॥ ४१ ॥
 विवेकिनस्तु संयोगः श्रेयो यः परमात्मनः ।

यन्नादिका क्रिया न स्यात् नास्ति द्रव्यीपपत्तिता ॥ ४२ ॥
 परमार्थात्मनोर्योगः परमार्थं इतीष्यते ।
 एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥ ४३ ॥
 जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ।
 परं ज्ञानमयोऽसङ्गी गुणजात्यादिभिर्विमुः ॥ ४४ ॥
 निदाघऋतुसंवादं वदामि हिज तं शृणु(१) ।
 ऋतुर्ब्रह्मसुतो ज्ञानी तच्छिष्योऽभूत् पुलस्त्यजः ॥ ४५ ॥
 निदाघः प्राप्तविद्योऽस्मान्नगरे वै पुरे स्थितः ।
 देविकायास्तटे तच्च तर्कयामास वै ऋतुः ॥ ४६ ॥
 दिव्ये वर्षसहस्रेऽगान्निदाघमवलीकितुं ।
 निदाघो वैश्वदेवान्ते भुक्तान्नं शिष्यमन्नवीत् ।
 भुक्तान्ते ढसिरुत्पन्ना तुष्टिदा साऽक्षया यतः ॥ ४७ ॥
 ऋतुर्वाच । क्षुदस्ति यस्य भुक्तोऽन्ने तुष्टिर्नास्ति जायते ।
 न मे क्षुदभवत्तृप्तिं कस्मात्त्वं परिपृच्छसि ॥ ४८ ॥
 क्षुत्तृणो देहधर्मास्थे न ममैते यतो हिज ।
 पृष्टोऽहं यत्त्वया ब्रूयां(२) ढसिरस्थे व मे सदा ॥ ४९ ॥
 पुमान् सर्वगतो व्यापी आकाशवदयं यतः ।
 अतोऽहं प्रत्यगात्मास्मीत्येतदर्धं भवेत् कथं(३) ॥ ५० ॥
 सोऽहं गन्ता(४) न चागन्ता नैकदेशनिकेतनः ।
 त्वं चान्यो न भवेन्नापि नान्यस्त्वत्तोऽस्मि वा प्यहं ॥ ५१ ॥

१ निदाघऋतुसंवादमहैतनुदये प्रवृत्तिः ७०, अ० ५ ।

२ ततः क्षुत्तृणवामावादिति ७०, अ० ५ ।

३ कुतः कुत क्व गन्तासीत्येतदपर्यवत् कथमिति ७०, अ० ५ ।

४ भोक्तृति ७० ।

मृत्स्रं हि मृहं यद्वृद्धाक्षितं स्थिरीभवेत् ।

पार्थिवोऽयं तथा देहः पार्थिवैः परमाणुभिः ॥ ५२ ॥

ऋतुरस्मि तवाचार्यः प्रज्ञादानाय ते द्विज ।

इहागतोऽहं यास्यामि परमार्थस्तवोदितः ॥ ५३ ॥

एकमेवमिदं विद्धि न भेदः सकलं जगत् ।

वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः ॥ ५४ ॥

ऋतुर्वर्षसहस्रान्ते पुनस्तन्नगरं ययौ ।

निदाघं नगरप्रान्ते एकान्ते स्थितमब्रवीत् ।

एकान्ते स्वीयते कस्मान्निदाघं ऋतुरब्रवीत् ॥ ५५ ॥

निदाघ उवाच । भो विप्र जनसंवादी महानिभ नरेश्वर ।

प्रविवीक्ष्य पुरं रम्यं तेनात्र स्वीयते मया ॥ ५६ ॥

ऋतुरुवाच । नराधिपोऽत्र कतमः कतमद्येतरौ जनः ।

काथ्यतां मे द्विजत्रेष्ठ त्वमभिन्नो द्विजोत्तम ॥ ५७ ॥

योऽयं गजेन्द्रसुन्यत्तमद्रिशृङ्गसमुत्थितं ।

अधिरुद्धो नरेन्द्रेऽयं परिवारस्तथेतरः(१) ॥ ५८ ॥

गजो योऽयमधी ब्रह्मन्नुपर्येष स भूपतिः ।

ऋतुराह गजः कोऽत्र राजा चाह निदाघकः ॥ ५९ ॥

ऋतुर्निदाघ आरुद्धो दृष्टान्तं पश्य वाहनं ।

उपर्येहं यथा राजा त्वमधः कुञ्जरो यथा ॥ ६० ॥

ऋतुः(२)प्राह निदाघन्तं कतमस्त्वामहं वदे ।

उत्तौ निदाघस्तन्नत्वा प्राह मे त्वं गुरुर्भुवम् ॥ ६१ ॥

१ आरुद्धोऽयं गजं राजा परलोकास्तथेतर इति ख०, ज० च ।

२ क० पुस्तके सर्वत्र च भुरिति ऋतुस्थानीयः पाठः ।

नान्यस्माद्द्वैतसंस्कारसंस्कृतं मानसं तथा ।

ऋतुः प्राह निदाघन्तं ब्रह्मज्ञानाय चागतः ।

परमार्थं सारभूतमद्वैतं दर्शितं मया ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण उवाच । निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाद्वैतपरोऽभवत् ।

सर्वभूतान्यभेदेन ददृशे स तदात्मनि ॥ ६३ ॥

अवाप मुक्तिं ज्ञानात्म तया त्वं मुक्तिमाप्स्यसि ।

एकः समस्तं त्वच्चाहं विष्णुः सर्वगतो यतः ॥ ६४ ॥

पीतनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः ।

आन्तिदृष्टिभिरात्मापि तथैकः स पृथक् पृथक् ॥ ६५ ॥

अग्निरुवाच । मुक्तिं ह्यवाप भवतो ज्ञानसारेण भूपतिः(१) ।

संसारान्नानहचारिज्ञानं ब्रह्मेति चिन्तय ॥ ६६ ॥

इत्याम्नेये महापुराणे अद्वैतब्रह्मविज्ञानं नामोनाशीत्यधिक-
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथाशीत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

गौतासारः ।

अग्निरुवाच । गौतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगौतोत्तमोत्तमं ।

कृष्णोऽर्जुनाय यमाह पुरा वै भुक्तिमुक्तिदं(२) ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच । गतासुरगतासुर्वा न शीघ्रो देहवानजः ।

आत्माऽजरोऽमरोऽभेद्यस्तस्माच्छ्लाकादिकं त्यजेत् ॥ २ ॥

१ ज्ञानात् सौवीरभूपतिरिति ख०, ज० च ।

२ पठतां मुक्तिमुक्तिदमिति ख० ।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
 सङ्गात् कामस्ततः क्रोधः क्रोधात्सन्धो ह एव च ॥ ३ ॥
 सन्धोहात् अतिविभ्रंभो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।
 दुःसङ्गहानिः सत्सङ्गान्धोचकामी च कामनुत् ॥ ४ ॥
 कामत्वागादात्मनिष्ठः स्थिरप्रज्ञस्तदीच्यते ।
 या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ॥ ५ ॥
 यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यती मुनेः ।
 आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ६ ॥
 नैव तस्य क्लृते नार्थी नाक्लृते नेह कश्चनः ।
 तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ॥ ७ ॥
 गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ।
 सर्वं ज्ञानप्रवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यति ॥ ८ ॥
 ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
 ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गन्त्याक्ता करोति यः ॥ ९ ॥
 लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाश्रया ।
 सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥ १० ॥
 ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।
 शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ११ ॥
 न हि कल्याणकृत् कश्चिद्गुणं तात गच्छति ।
 देवो ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥ १२ ॥
 मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामैतान्तरन्ति ते ।
 आर्तो जिज्ञासुरर्थाधीर्ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १३ ॥
 चतुर्विधा भजन्ते मां ज्ञानी चैकत्वमास्थितः ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥ १४ ॥
 भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंश्रितः ।
 अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषस्याधिदैवतं ॥ १५ ॥
 अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।
 अन्तकाले स्मरन्मास्र मद्भावं यात्यसंशयः ॥ १६ ॥
 यं यं भावं स्मरन्नन्ते त्यजेद्देहन्तमाप्नुयात् ।
 प्राणं न्यस्य भ्रुवोर्मध्ये अन्ते प्राप्नोति भत्परम् ॥ १७ ॥
 श्रीमित्येकाक्षरं ब्रह्म वदन् देहं त्यजन्तथा ।
 ब्रह्मादिस्तन्मपर्यन्ताः सर्वे मम विभूतयः ॥ १८ ॥
 श्रीमन्तश्चोर्जिताः सर्वे ममांशाः (१) प्राणिनः स्मृताः ।
 अहमेको विश्वरूप इति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥ १९ ॥
 क्षेत्रं शरीरं यो वेत्ति क्षेत्रज्ञः स प्रकीर्तितः ।
 क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २० ॥
 महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
 इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ २१ ॥
 इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
 एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
 अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा चान्तिरार्जवं ।
 आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ २३ ॥
 इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
 जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं ॥ २४ ॥
 आसक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहहादिषु ।

नित्यञ्च समचित्तस्त्वमिष्टानिष्टीपपत्तिषु ॥ २५ ॥
 मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
 विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २६ ॥
 अध्यात्मज्ञाननिष्ठत्वन्तस्त्वज्ञानानुदर्शनं ।
 एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्वथा ॥ २७ ॥
 ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
 अनादि परमं ब्रह्म सत्त्वं नाम तदुच्यते ॥ २८ ॥
 सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
 सर्वतः श्रुतिमस्रोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २९ ॥
 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
 असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ ३० ॥
 बहिरन्तश्च भूतानामचरञ्चरमेव च ।
 सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थञ्चान्तिकेऽपि यत् ॥ ३१ ॥
 अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
 भूतभर्तृ च विज्ञेयं असिष्णु प्रभविष्णु च ॥ ३२ ॥
 ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
 ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितं ॥ ३३ ॥
 ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
 अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ ३४ ॥
 अन्ये त्वेषमजानन्तो श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
 तेपि चाशु तरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ ३५ ॥
 सत्त्वात्मज्ञायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
 प्रमादमोहौ तमसो भवतो ज्ञानमेव च ॥ ३६ ॥

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।
 मानावमानमित्रारितुल्यस्यागी स निर्गुणः ॥ ३७ ॥
 ऊर्ध्वं मूलमधःशाखमश्वत्थं प्राङ्मुख्ययं ।
 ऊर्ध्वासि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३८ ॥
 द्वी भूतसर्गा लोकेऽस्मिन् देव आसुर एव च ।
 अहिंसादिः क्षमा चैव दैवीसम्पत्तितो नृणां ॥ ३९ ॥
 न शौचं नापि वाचारो ह्यासुरीसम्पदोद्भवः ।
 नरकत्वात् क्रोधलोभकामस्तस्मात्क्षयं त्यजेत् ॥ ४० ॥
 यन्नस्तपस्तथा दानं सत्त्वाद्यैस्त्रिविधं स्मृतम् ।
 आयुः सत्त्वं बलारोग्यसुखायान्नु सात्त्विकं ॥ ४१ ॥
 दुःखशोकामयायान्नं तीक्ष्णरूचन्तु राजसं ।
 अनेद्यच्छिष्टपूत्यन्नं तामसं नीरसादिकं ॥ ४२ ॥
 यष्टव्यो विधिना यज्ञो निष्कामाय स सात्त्विकः ।
 यन्नः फलाय दश्यात्मी राजसस्तामसः क्रतुः ॥ ४३ ॥
 अहामन्त्रादिविध्युक्तं तपः शारीरमुच्यते ।
 देवादिपूजाऽहिंसादि वाङ्मयं तप उच्यते ॥ ४४ ॥
 अनुद्देशकरं वाक्यं सत्यं स्वाध्यायसज्जपः ।
 मानसं चित्तसंशुद्धेर्मानमात्मविनिग्रहः ॥ ४५ ॥
 सात्त्विकञ्च तपोऽकामं फलाद्यर्थन्तु राजसं ।
 तामसं परपीडायै सात्त्विकं दानमुच्यते ॥ ४६ ॥
 देशादौ चैव दातव्यमुपकाराय राजसं ।
 अदेशादाववज्ञातं तामसं दानमौरितं ॥ ४७ ॥

श्रीतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
 यज्ञदानादिकं कर्म भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणां ॥ ४८ ॥
 अनिष्टमिष्टं मित्रश्च त्रिविधं कर्मणः फलं ।
 भवत्यत्यागिनां(१) प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित् ॥ ४९ ॥
 तामसः कर्मसंयोगात् मोहात्क्लेशभयादिकात् ।
 राजसः सात्त्विकोऽकामात् पञ्चैते कर्महेतवः ॥ ५० ॥
 अधिष्ठानं तथा कर्त्ता कारणश्च पृथग्विधम् ।
 त्रिविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवश्चैवात्र पञ्चमं ॥ ५१ ॥
 एकं ज्ञानं सात्त्विकं स्यात् पृथग् ज्ञानन्तु राजसं ।
 अतस्त्वार्थन्तामसं स्यात् कर्माकामाय सात्त्विकं ॥ ५२ ॥
 कामाय राजसं कर्म मोहात् कर्म तु तामसं ।
 सिद्धसिद्धयोः समः कर्त्ता सात्त्विको राजसोऽपि ॥ ५३ ॥
 शठोऽलसस्तामसः स्यात् कार्य्यादिधीश्च सात्त्विकी ।
 कार्य्यार्थं सा राजसौ स्याद्विपरीता तु तामसौ ॥ ५४ ॥
 मनोधृतिः सात्त्विकी स्यात् प्रीतिकामेति राजसौ ।
 तामसौ तु प्रशोकादौ सुखं सत्त्वात्तदन्तगं ॥ ५५ ॥
 सुखं तद्राजसञ्चाये अन्ते दुःखन्तु तामसं ।
 अतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदन्ततं ॥ ५६ ॥
 स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य विष्णुं सिद्धिश्च विन्दति ।
 कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५७ ॥

१ भवत्यथोमिनामिति ख० ।

ब्रह्मादिस्तत्रपर्यन्तं जगद्विष्णुञ्च वेत्ति यः ।
 सिद्धिमाप्नोति भगवद्भक्तो भागवतो ध्रुवं ॥ ५८ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे गीतासारे नामाश्रीत्यधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथैकाश्रीत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000①000—

यमगीता ।

अग्निर्वाच । यमगीतां प्रवक्ष्यामि उक्ता या नाचिकेतमे ।

पठतां शृण्वतां भुक्त्यै मुक्त्यै मोक्षार्थिनां सतां ॥ १ ॥

यम उवाच । आसनं शयनं यानपरिधानगृहादिकम् ।

वाञ्छत्यहोऽतिमोहेन सुस्थिरं स्वयमस्थिरः ॥ २ ॥

भोगेषु शक्तिः सततं तथैवात्मावलोकनं ।

श्रेयः परं मनुष्याणां कपिलोक्तीतमेव हि ॥ ३ ॥

सर्वत्र समदर्शित्वं निर्भ्रमत्वमसङ्गता ।

श्रेयः परं मनुष्याणां गीतं पञ्चशिखेन हि ॥ ४ ॥

आगर्भजन्मबाल्यादिवयोऽवस्थादिवेदनं ।

श्रेयः परं मनुष्याणां गङ्गाविष्णुप्रगीतकं ॥ ५ ॥

आध्यात्मिकादिदुःखानामाद्यन्तादिप्रतिक्रिया ।

श्रेयः परं मनुष्याणां जनकोक्तीतमेव च ॥ ६ ॥

अभिन्नयोर्भेदकरः प्रत्ययो यः परात्मनः ।

तच्छान्तिपरमं श्रेयो ब्रह्मोक्तीतमुदाहृतं ॥ ७ ॥

कर्त्तव्यमिति यत्कर्म्म ऋग्यजुःसामसंज्ञितं ।
 कुरुते अथैवे सङ्गान् जैगौषव्येण गीयते ॥ ८ ॥
 हानिः सर्वविधित्सानामात्मनः सुखहेतुको ।
 अथ यः परं मनुष्याणां देवलोकोत्तमीरितं ॥ ९ ॥
 कामत्वागात्तु विज्ञानं सुखं ब्रह्म परं पदं ।
 कामिनां न हि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत् ॥ १० ॥
 प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च कार्यं कर्मपरोऽब्रवीत् ।
 अथसां श्रेय एतद्दि नैष्कर्म्यं ब्रह्म तद्धरिः ॥ ११ ॥
 पुमांश्चाधिगतज्ञानो भेदं नाप्नोति सत्तमः ।
 ब्रह्मणा विष्णुसंज्ञेन परमेणाव्ययेन च १२ ॥
 ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं सीभाग्यं रूपमुत्तमम् ।
 तपसा लभ्यते सर्वं मनसा यद्यदिच्छति ॥ १३ ॥
 नास्ति विष्णुसमन्व्यं तपो नानशनात्परं ।
 नास्त्यारोग्यसमं धन्यं नास्ति गङ्गासमा सरित् ॥ १४ ॥
 न सोऽस्ति बान्धवः कश्चिद्विष्णुं मुक्त्वा जगद्गुरुं ।
 अधश्चोर्द्धं हरिश्चाथे देहेन्द्रियमनोमुखे ॥ १५ ॥
 इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्थजेत्त हरिर्भवेत् ।
 यत्तद् ब्रह्म यतः सर्वं यत्सर्वं तस्य संस्थितम् ॥ १६ ॥
 अग्राह्यकमनिर्देश्यं सुप्रतिष्ठञ्च यत्परं ।
 परापरस्वरूपेण विष्णुः सर्व्वहृदि स्थितः ॥ १७ ॥
 यज्ञेशं यज्ञपुरुषं केचिदिच्छन्ति तत्परं ।
 केचिद्विष्णुं हरं केचित् केचिद् ब्रह्माणमीश्वरं ॥ १८ ॥
 इन्द्रादिनामभिः केचित् सूर्य्यं सीमञ्च कालकम् ।

ब्रह्मादिस्तन्मपर्थ्यन्तं जगद्विष्णुं वदन्ति च ॥ १९ ॥
 स विष्णुः परमं ब्रह्म यतो नावर्त्तते पुनः ।
 सुवर्णादिमहादानपुच्छतीर्थावगाहनैः ॥ २० ॥
 ध्यानैर्ब्रतैः पूजया च धर्मश्रुत्या तदाप्नुयात् ।
 आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥ २१ ॥
 बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।
 इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांश्च पुगोचरान् ॥ २२ ॥
 आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भीक्षेत्याहुर्मनीषिणः ।
 यस्त्वविज्ञानवान् भवत्वयुक्तेन मनसा सदा ॥ २३ ॥
 न सत्पदमवाप्नोति संसारश्चाधिगच्छति ।
 यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ॥ २४ ॥
 स तत्पदमवाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।
 विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ॥ २५ ॥
 सोऽध्वानं परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
 इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥ २६ ॥
 मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ।
 महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ॥ २७ ॥
 पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।
 एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ॥ २८ ॥
 दृश्यते त्वग्रया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।
 यच्छेद्बाह्यमनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि ॥ २९ ॥
 ज्ञानमात्मनि भवति नियच्छेच्छान्त आत्मनि ।
 ज्ञात्वा ब्रह्मात्मनोर्योगं यमाद्यैर्ब्रह्म सद्भवेत् ॥ ३० ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।

यमाश्च नियमाः पञ्च शौचं सन्तोषसत्तपः ॥ ३१ ॥

स्वाध्यायेश्वरपूजा च आसनं पद्मकादिकं ।

प्राणायामो वायुजयः प्रत्याहारः स्वनिग्रहः ॥ ३२ ॥

शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यत् प्रधारणं ।

निश्चलत्वात्तु धीमद्भिर्धारणा द्विज कथ्यते ॥ ३३ ॥

धौमःपुन्येन तत्रैव विषयेष्वेव धारणा ।

ध्यानं स्मृतं समाधिस्तु अहं ब्रह्मात्मसंस्थितिः ॥ ३४ ॥

घटध्वंसाद्यथाकाशमभिन्नं नभसा भवेत् ।

मुक्तो जीवो ब्रह्मणैवं सदब्रह्म ब्रह्म वै भवेत् ॥ ३५ ॥

आत्मानं मन्यते ब्रह्म जीवो ज्ञानेन नान्यथा ।

जीवो ह्यज्ञानतत्कार्यमुक्तः स्यादजरामरः ॥ ३६ ॥

अग्निर्वाच । वशिष्ठ यमगीतोक्ता पठतां भुक्तिमुक्तिदा ।

आत्यन्तिको लयः प्रोक्तो वेदान्तब्रह्मधीमयः ॥ ३७ ॥

इत्याम्नेये महापुराणे यमगीता नामैकाशीत्यधिक-

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

अथ द्वाशीत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

—000@000—

आग्नेयपुराणमाहात्म्यं ।

अग्निर्वाच । आग्नेयं ब्रह्मरूपन्ते पुराणं कथितं मया ।

सप्रपञ्चं निष्पृपञ्चं विद्याद्वयमयं महत् ॥ १ ॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या विद्या विष्णुर्जगज्जनिः ।

छन्दः शिखा व्याकरणं निघण्टुज्योतिराख्यकाः ॥ २ ॥

निरुक्तधर्मशास्त्रादि मीमांसान्यायविस्तराः ।

आयुर्वेदपुराणाख्या धनुर्गन्धर्वविस्तराः ॥ ३ ॥

विद्या सैवाद्यंशास्त्राख्या वेदान्ताऽन्या हरिर्महान् ।

इत्येषा चापरा विद्या परविद्याऽक्षरं परं ॥ ४ ॥

यस्य भावोऽखिलं विष्णुस्तस्य नो बाधते कलिः ।

अनिष्टा तु महायज्ञानकृत्वापि पितृस्त्रधां ॥ ५ ॥

कृष्णमभ्यर्चयन्भक्त्या नैनसो भाजनं भवेत् ।

सर्वकारणमत्यन्तं विष्णुं ध्यायन्न सीदति ॥ ६ ॥

अन्यतन्त्रादिदोषोत्थो विषयाकृष्टमानसः ।

कृत्वापि पापं गोविन्दं ध्यायन्पापैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

तद्ध्यानं यत्र गोविन्दः सा कथा यत्र केशवः ।

तत् कर्म यत्तदर्थाय किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥ ८ ॥

न तत् पिता तु पुत्राय न शिष्याय गुरुर्हिज ।

परमार्थं परं ब्रूयाद्यदेतत्ते मयोदितं ॥ ९ ॥

संसारे भ्रमता लभ्यं पुत्रदारधनं वसु ।

सुहृदश्च तथैवान्ये नोपदेशो द्विजेदृशः ॥ १० ॥
किं पुत्रदारैर्मित्रैर्वा किं मित्रक्षेत्रवान्धवैः ।
उपदेशः परो वन्धुरीदृशो यो विमुक्तये ॥ ११ ॥
द्विविधो भूतमार्गीयं दैव आसुर एव च ।
विष्णुभक्तिपरो दैवो विपरीतस्तथासुरः ॥ १२ ॥
एतत् पवित्रमारोग्यं धन्यं दुःस्वप्ननाशनं ।
सुखप्रीतिकरं नृणां मीचकृदयत्तवेरितं ॥ १३ ॥
येषां गृहेषु लिखितमाग्नेयं हि पुराणकं ।
पुस्तकं स्थास्यति सदा तत्र नेशुरपद्रवाः ॥ १४ ॥
किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं यज्ञैः किमुपोषितैः ।
आग्नेयं ये हि शृण्वन्ति अह्नन्त्यहनि मानवाः ॥ १५ ॥
यो ददाति तिलप्रस्थं सुवर्णस्य च माषकं ।
शृणोति श्लोकमेकञ्च आग्नेयस्य तदाप्नुयात् ॥ १६ ॥
अध्यायपठनञ्चास्य गोप्रदानाद् विशिष्यते ।
अहोरात्रकृतं पापं श्रोतुमिच्छोः प्रणश्यति ॥ १७ ॥
कपिलानां शते दत्ते यद् भवेज्जिष्ठपुष्करे ।
तदाग्नेयं पुराणं हि पठित्वा फलमाप्नुयात् ॥ १८ ॥
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च धर्मं विद्याद्वयात्मकं ।
आग्नेयस्यपुराणस्य शास्त्रस्यास्य समं न हि ॥ १९ ॥
पठन्नाग्नेयकं नित्यं शृण्वन् वापि पुराणकं ।
भक्तो वशिष्ठ मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २० ॥
नोपसर्गा न चानर्था न चौरारिभयं गृहे ।
तस्मिन् स्याद् यत्र चाग्नेयपुराणस्य हि पुस्तकं ॥ २१ ॥

न गर्भहारिणीभीतिर्न च बालयहा गृहे ।
 यत्राग्नेयं पुराणं स्यान्न पिशाचादिकं भयं ॥ २२ ॥
 शृण्वन्विप्रो वेदवित् स्यात् क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
 ऋद्धिं प्राप्नोति वैश्यश्च शूद्रश्चारोग्यमृच्छति ॥ २३ ॥
 यः पठेत्शृण्वयान्नित्यं समदृग्बिष्णुमानसः ।
 ब्रह्माग्नेयं पुराणं सत्तत्र नश्यन्तुपद्रवाः ॥ २४ ॥
 दिव्यान्सरीक्षभीमाद्या दुःस्वप्नाद्यभिचारकाः ।
 यच्चान्यद्दुरितं किञ्चित्तत्सर्वं हन्ति केशवः ॥ २५ ॥
 पठतः शृण्वतः पुंसः पुस्तकं यजती महत् ।
 आग्नेयं त्रीपुराणं हि हेमन्ते यः शृणोति वै ॥ २६ ॥
 प्रपूज्य गन्धपुष्पाद्यैरग्निष्टोमफलं लभेत् ।
 शिशिरे पुण्डरीकस्य वसन्ते चाश्वमेधजम् ॥ २७ ॥
 शीघ्रे तु वाजपेयस्य राजसूयस्य वर्षति ।
 गोसहस्रस्य शरदि फलं तत्पठतो ह्यतौ ॥ २८ ॥
 आग्नेयं हि पुराणं यो भक्त्याथै पठते हरेः ।
 सोऽर्चयेच्च वसिष्ठेह ज्ञानयज्ञेन केशवम् ॥ २९ ॥
 यस्याग्नेयपुराणस्य पुस्तकं तस्य वै जयः ।
 लिखितं पूजितं गेहे भुक्तिर्भुक्तिः करेऽस्ति हि ॥ ३० ॥
 इति कालाग्निरूपेण गीतं मे हरिणा पुरा ।
 आग्नेयं हि पुराणं वै ब्रह्मविद्याहयास्यदम् ।
 विद्याहयं वसिष्ठेदं भक्तेभ्यः कथयिष्यसि ॥ ३१ ॥
 वसिष्ठ उवाच । व्यासाग्नेयपुराणं ते रूपं विद्याहयात्मकं ।
 कथितं ब्रह्मणो बिष्णोरग्निना कथितं यथा ॥ ३२ ॥

सार्धं देवैश्च मुनिभिर्मङ्गलं सर्वार्थदर्शकं ।
 पुराणमग्निना गीतमाग्नेयं ब्रह्मसम्भितं ॥ ३३ ॥
 यः पठेच्छृणुयाद्ग्रास लिखेद्वा लेखयेदपि ।
 आवयेत्पाठयेद्वापि पूजयेद्धारयेदपि ॥ ३४ ॥
 सर्वपापविनिर्मुक्तः प्राप्तकामो दिवं व्रजेत् ।
 लेखयित्वा पुराणं यो दद्याद्द्विप्रेभ्य उक्तमं ॥ ३५ ॥
 स ब्रह्मलोकमाप्नोति कुलानां शतमुद्धरेत् ।
 एकं श्लोकं पठेद्यस्तु पापपङ्काद्द्विमुच्यते ॥ ३६ ॥
 तस्माद्ग्रास सदा आर्यं शिष्येभ्यः सर्वदर्शनं ।
 शक्याद्यैर्मुनिभिः सार्धं श्रोतुकामैः पुराणकं ॥ ३७ ॥
 आग्नेयं पठितं ध्यातं शुभं स्याद् भुक्तिमुक्तिदं ।
 अग्नेये तु नमस्तस्मै येन गीतं पुराणकं ॥ ३८ ॥
 व्यास उवाच । वसिष्ठेन पुरा गीतं सृतेतत्ते मयोदितं ।
 पराविद्याऽपराविद्यास्वरूपं परमं पदम् ॥ ३९ ॥
 आग्नेयं दुर्लभं रूपं प्राप्यते भाग्यसंयुतैः ।
 ध्यायन्तो ब्रह्म चाग्नेयं पुराणं हरिमागताः ॥ ४० ॥
 विद्यार्थिनस्तथा विद्यां राज्यं राज्यार्थिनी गताः ।
 अपुत्राः पुत्रिनः सन्ति नाश्रया आश्रयं गताः ॥ ४१ ॥
 सौभाग्यार्थी च सौभाग्यं मोक्षं मोक्षार्थिनी गताः ।
 लिखन्तो लेखयन्तश्च निष्पापाश्च त्रियं गताः ॥ ४२ ॥
 शकपैलमुखैः सूत आग्नेयन्तु पुराणकं ।
 रूपं चिन्तय यातासि भुक्तिं मुक्तिं न संशयः ॥ ४३ ॥
 आवय त्वच्च शिष्येभ्यो भक्तेभ्यश्च पुराणकम् ।

सूत उवाच । व्यासप्रसादादाग्नेयं पुराणं श्रुतमादरात् ॥ ४४ ॥

आग्नेयं ब्रह्मरूपं हि मुनयः शीनकादयः ।

भवन्तो नैमिषारण्ये यजन्तो हरिमीश्वरं ॥ ४५ ॥

तिष्ठन्तः अह्वया युक्तास्तस्माद्दः समुदीरितम् ।

अग्निना प्रोक्तमाग्नेयं पुराणं वेदसम्भितं ॥ ४६ ॥

ब्रह्मविद्याहयोपेतं भुक्तिदं मुक्तिदं महत् ।

नास्मात्परतरः सारो नास्मात्परतरः सुहृत् ॥ ४७ ॥

नास्मात्परतरो ग्रन्थो नास्मात्परतरा गतिः ।

नास्मात्परतरं शास्त्रं नास्मात्परतरा श्रुतिः ॥ ४८ ॥

नास्मात्परतरं ज्ञानं नास्मात्परतरा स्मृतिः ।

नास्मात्परो ह्यागसोऽस्ति नास्माद्विद्या पराऽस्ति हि ॥ ४९ ॥

नास्मात्परः स्यात्सिद्धान्तो नास्मात्परममङ्गलम् ।

नास्मात्परोऽस्ति वेदान्तः पुराणं परमन्विदं ॥ ५० ॥

नास्मात्परतरं भूमौ विद्यते वस्तु दुर्लभम् ।

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वविद्याः प्रदर्शिताः ॥ ५१ ॥

सर्वे मत्स्यावताराद्या गीता रामायणन्विह ।

हरिवंशो भारतश्च नव सर्गाः प्रदर्शिताः ॥ ५२ ॥

आगमो वैष्णवो गीतः पूजादीक्षाप्रतिष्ठया ।

पवित्रारोहणादीनि प्रतिमालक्षणादिकं ॥ ५३ ॥

प्रासादलक्षणाद्यश्च मन्त्रा वै भुक्तिमुक्तिदाः ।

शैवागमस्तदर्थश्च शाक्तैः सौर एव च ॥ ५४ ॥

मण्डलानि च वास्तुश्च मन्त्राणि विविधानि च ।

प्रतिसर्गश्चानु गीतो ब्रह्माण्डपरिमण्डलं ॥ ५५ ॥

गीतो भुवनकीषस्य हीपवर्षादिनिम्नगाः ।
 गयागङ्गाप्रयागादि तीर्थमाहात्म्यमीरितं ॥ ५६ ॥
 ज्योतिषक्रं ज्योतिषादि गीतो युद्धजयार्णवः ।
 मन्वन्तरादयो गीताः धर्मा वर्णादिकस्य च ॥ ५७ ॥
 अशौचं द्रव्यशुद्धिश्च प्रायश्चित्तं प्रदर्शितं ।
 राजधर्म्या दानधर्म्या व्रतानि विविधानि च ॥ ५८ ॥
 व्यवहाराः शान्तयस्य ऋग्वेदादिविधानकं ।
 सूर्यवंशः सोमवंशो धनुर्वेदस्य वैद्यकं ॥ ५९ ॥
 गान्धर्व्ववेदोऽर्थशास्त्रं मीमांसा न्यायविस्तरः ।
 पुराणसंख्यामाहात्म्यं छन्दो व्याकरणं स्मृतं ॥ ६० ॥
 अहङ्कारो निघण्टुश्च शिल्पाकल्प इहोदितः स्मृतः ।
 नैमित्तिकः प्राकृतिको लय आत्यन्तिकः ॥ ६१ ॥
 वेदान्तं ब्रह्मविज्ञानं योगो ह्यष्टाङ्ग ईरितः ।
 स्तोत्रं पुराणमाहात्म्यं विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ॥ ६२ ॥
 ऋग्वेदाद्याः परा ह्यत्र पराविद्याक्षरं परं ।
 सप्रपञ्चं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपमीरितं ॥ ६३ ॥
 इदं पञ्चदशसाहस्रं शतकोटिप्रविस्तरं ।
 देवलीके देवतेश्च पुराणं पठ्यते सदा ॥ ६४ ॥
 लोकानां हितकामेन संचिप्योक्तीतमग्निना ।
 सर्वं ब्रह्मेति जानीध्वं सुनयः शौनकादयः ॥ ६५ ॥
 शृणुयाच्छ्रावयेद्वापि यः पठेत्पाठयेदपि ।
 लिखेत्लेखापयेद्वापि पूजयेत्कीर्त्तयेदपि ॥ ६६ ॥
 पुराणपाठकश्चैव पूजयेत् प्रयतो नृपः ।

गोभूहिरथ्यदानाद्यैर्वस्त्रालङ्कारतर्पणैः ॥ ६७ ॥
 तं संपूज्य लभेच्चैव पुराणश्रवणात् फलं ।
 पुराणान्ते च वै कुर्यादवश्यं द्विजभोजनं ॥ ६८ ॥
 निर्मलः प्राप्तसर्वार्थः सकुलः स्वर्गमाप्नुयात् ।
 शरयन्तं पुस्तकाय सूत्रं वै पत्रसञ्चयं ॥ ६९ ॥
 पट्टिकाबन्धवस्त्रादि दद्याद् यः स्वर्गमाप्नुयात् ।
 यो दद्याद्ब्रह्मलोकी स्यात् पुस्तकं यस्य वै गृहे ॥ ७० ॥
 तस्योत्पातभयं नास्ति भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात् ।
 यूयं स्मरत चाग्नेयं पुराणं रूपमैश्वरं ।
 सूतो गतः पुजितस्तैः शौनकाद्या हरिं ययुः ॥ ७१ ॥
 इत्याग्नेये महापुराणे आग्नेयपुराणमाहात्म्यं नाम
 द्वाशीत्यधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

समाप्तमाग्नेयं पुराणं ।

अथाग्निपुराण-परिशिष्टम् ।

— 000@000 —

अग्निपुराणस्य ककारादि-चिह्नित-दशसंख्यकादर्श-पुस्तकानां मध्ये नवसु आदर्शपुस्तकेषु यमगीताध्यायात् परं पुराण-माहात्म्याध्यायेन पुस्तकं सम्पूर्णं । ग-चिह्नित-पुस्तके तु यम-गीताध्यायात् परं अतिरिक्तत्रयस्त्रिंशत् संख्यकसृष्टिप्रकरणाद्य-ध्याया वर्त्तन्ते । उक्ताध्यायानां नवसु आदर्शपुस्तकेषु अविद्य-मानत्वात् प्रामाण्यं सन्दिग्धं । प्रामाण्येपि स्थानविशेषे विलुप्ता-क्षरापरिशुद्धम-चिह्नितैकमात्रादर्शपुस्तकमवलम्ब्य उक्तातिरिक्ता-ध्यायानमुद्रापणे समर्थो नाभूवं । परन्त्वैतद्विज्ञापनाय ग-चिह्नितादर्शपुस्तकमात्रस्थितातिरिक्त कतिपयाध्याया यथाशक्ति परिशील्य परिशिष्टरूपेण मुद्रापिताः । गचिह्नितादर्शपुस्तकस्य विलुप्ताक्षरत्वादपरिशुद्धत्वाच्च अस्य परिशिष्टस्य बहुषु स्थानेषु असाधुपाठा वर्त्तन्ते इति ।

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत उवाच । ब्रह्मा भूत्वा जगत्सृष्टौ नरसिंहः प्रवर्त्तते ।
तथा ते कथयिष्यामि भरद्वाज निबोध मे ॥ १ ॥
नारायणाख्यो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
उत्पन्नः प्रीह्यते प्रियप्रियामरोपचारतः(१) ॥ २ ॥

१ पाठोऽयं आदर्शाक्षरविलोपेन शीघ्रचितुसशक्यः ।

[क]

निजिन तस्य मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतं ।
 कालश्च विष्णुर्गस्तेन तस्मायुः परिगण्यते ॥ ३ ॥
 अन्येषाञ्चैव भूतानां चराणामचराश्च ये ।
 भूमिभृत्सामरादीनामशेषाणाञ्च सत्तम ॥ ४ ॥
 षष्टादश निमेषाश्च काष्ठैका परिकीर्त्तिता ।
 काष्ठास्त्रिंशत् कलास्त्रिंशत् कला ज्ञेया मुहूर्त्सकं ॥ ५ ॥
 तावत् संख्यैरहीरात्रं मुहूर्त्तमर्माणुषं स्मृतं ।
 अहीरात्राणि तावन्नि मासः पञ्चदश्यात्मकः ॥ ६ ॥
 तैः षड्भिरयनं मासैर्होयने दक्षिणीत्तरे ।
 अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनं ॥ ७ ॥
 अयनद्वयञ्च वर्षञ्च मर्त्यानां परिकीर्त्तितं ।
 ऋणां मासः पितृणाम्नु अहीरात्रमुदाहृतं ॥ ८ ॥
 वस्त्रादीनामहीरात्रं मानुषो वत्सरः स्मृतः ।
 दिव्यैवर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितं ॥ ९ ॥
 चतुर्दशहादशभिस्तद्दिभामं निबोध मे ।
 चत्वारि त्रीणि हे चैकं कृतादिषु यथाक्रमं ॥ १० ॥
 दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः ।
 तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ॥ ११ ॥
 सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्थानन्तरो हि सः ।
 सन्ध्यासन्ध्यांशयोर्मध्ये यः कालो वर्त्तते द्विज ॥ १२ ॥
 युगाख्यं स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञितं ।
 कृतं त्रेता हापरञ्च कलिश्चेति चतुर्युगं ॥ १३ ॥
 शोच्यते तत् सहस्रञ्च ब्रह्मणो दिवसं द्विज ।

ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्मनवश्च चतुर्दश ॥ १४ ॥
 भवन्ति प्रतिमानश्च तेषां कालज्ञतं शुभं ।
 सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सुनवो वृषाः ॥ १५ ॥
 एककाले हि सृज्यन्ते संक्रियन्ते च पूर्ववत् ।
 चतुर्युगानां सङ्ख्याता साक्षीकान्तैकसप्तती ॥ १६ ॥
 मन्वन्तरं मनोः कालः शक्रादीनामपि द्विज ।
 अष्टौ शतसहस्राणि दिव्यया सङ्ख्याया सृज(१) ॥ १७ ॥
 एकपञ्चाशत्तथान्यानि सप्त चान्यानि वै सुने ।
 विंशतिश्च सहस्राणि कालीयं साधिकः स्मृतः ॥ १८ ॥
 ब्राह्मणैवमहर्षेयमेतदेवानुकीर्तितं ।
 एतस्मिन् वै स मनसा सृष्ट्वा देवांस्तथा पितॄन् ॥ १९ ॥
 गन्धर्वान् दानवान् यक्षान् राक्षसान् गुह्यकांस्तथा ।
 ऋषीन् विद्याधरांश्चैव मनुष्यांश्च पशूंस्तथा ॥ २० ॥
 पक्षिणः स्थावरांश्चैव पिपीलिकभुजङ्गमान् ।
 चातुर्वर्ण्यं तथा सृष्टं नियुज्याधरकर्म्मणि ॥ २१ ॥
 पुनर्दिनान्ते त्रैलोक्यमपसंहृत्य स प्रभुः ।
 श्रेते सोऽनन्तशयने तावतीं रात्रिमव्ययः ॥ २२ ॥
 तस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिविश्रुतः ।
 तस्मिन्मत्स्यावतारोऽभून्मन्युनाथं महोद्घेः ॥ २३ ॥
 तद्वहराहकल्पश्च तृतीयः परिकल्पितः ।
 तत्र विष्णुः स्वयं प्रीत्या वाराहं वपुरास्थितः ॥ २४ ॥

(१) पाठोऽयं न साङ्गः ।

सृष्ट्वा जगद्गोम धरान्मु तोयं
 प्रजास्तु सृष्ट्वा सकलास्तथेशः ।
 नैमित्तिकाख्ये प्रलये समस्तं
 हृत्वावशेते हरिरादिदेवः ॥ २५ ॥

इत्यान्वये महापुराणे सृष्टि-प्रकरणं नाम प्रथमोऽध्यायः।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

—000—

सुत उवाच । अत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत ।

तस्मिन् पद्मे महाभाग वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १ ॥

ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते ।

एवमुक्त्वा तिरोभावं गतो नारयणः प्रभुः ॥ २ ॥

तथेत्युक्तं गतं देवं विष्णुं ब्रह्मा विचिन्तयन् ।

आस्ते किञ्चिज्जगद्देतु नाध्यगच्छत किञ्चन ॥ ३ ॥

तावत्तस्य महान् क्रोधो ब्रह्मणोऽभून्महात्मनः ।

ततो रुद्रः समुत्पन्नस्तस्याङ्गं रोषसन्धवः ॥ ४ ॥

रुद्रन् स कथितस्तेन ब्रह्मणाऽव्यक्तजम्बना ।

नाम मे देहि चेषु क्तान्तस्य रुद्रेत्यसौ ददौ ॥ ५ ॥

सोऽपि तेन सृजस्वेति प्रीती लोकाभिमं पुनः ।

असङ्गच्छान्तसलिले ससर्ज तपसे धृतः ॥ ६ ॥

तस्मिन् सलिलमग्ने तु पुनरन्यं प्रजापतिं ।

ब्रह्मा ससर्ज भूतेशो दक्षिणात्तिष्ठतोऽपरं ॥ ७ ॥

दक्षं वामे ततोत्तिष्ठेत् तस्य पत्नीमजीजनत् ।

स तस्यां जनयामास मनुं स्वायम्भुवं प्रभुं ॥ ८ ॥

तस्मात् सन्भाविता सृष्टिः प्रजानां ब्रह्मणा तथा ।

इत्येवं कथिता सृष्टिर्मया ते मुनिसत्तम ।

सृजतो जगदीशस्य किञ्चूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच । संचेपेणैतदाख्यातं त्वया मे लोमहर्षण ।

विस्तरेण पुनर्ब्रूहि आदिसृष्टिं महामते ॥ १० ॥

सृत् उवाच । तथैतदण्डावसाने निशासृप्तोत्थितः प्रभुः ।

सत्त्वोद्विक्तस्तदा ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत ॥ ११ ॥

नारायणः परेणार्च्यः पूर्वेषामपि पूर्वजः ।

ब्रह्मस्वरूपो भगवान् अनादिः सर्वसम्भवः ॥ १२ ॥

इमञ्चे देहवन्तोऽहो(१) श्लोकं नारायणं प्रति ।

ब्रह्मस्वरूपिनं देवं जगतः प्रभवाम्ययं ॥ १३ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसुनवः ।

अयनं तस्य तत् पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १४ ॥

सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा ।

अवृद्धिपूर्वकन्तस्य प्रादुर्भूतमहोमयः ॥ १५ ॥

तमो मोहो महामोहस्तामिखाद्यजसंज्ञकः (२) ।

अविद्याः पञ्च पूर्वेषां प्रादुर्भूता महात्मनः ॥ १६ ॥

१ आदर्शाक्षरविहोपात् पाठोऽयं शीघ्रचित्तमगम्यः ।

२ पाठोऽयं न साधुः ।

पञ्चधाऽवस्थितः सर्गो ध्यायतः प्रतिबोधनात् ।
 मुख्यसर्गः स विज्ञेयः सर्गविद्भिर्विचक्षणैः ॥ १७ ॥
 पुनरन्यन्तथा तस्य ध्यायतः सर्गसुत्तमं ।
 तिर्यक्श्रोतः समुत्पन्नस्तिर्यक्श्रोतं + + स्मृतः ॥ १८ ॥
 पञ्चादयस्ते विख्याता उत्पद्यन्नाहिणस्तु ते ।
 तमप्यसाधकं मत्वा तिर्यक्श्रोतश्चतुर्मुखः ॥ १९ ॥
 ऊर्ध्वश्रोतस्तृतीयस्तु पार्थिवोर्ध्वमवर्त्तत ।
 ततोर्ध्वचारिणो देवाः सहसर्गसमुद्भवाः ॥ २० ॥
 यदा तुष्टो न सर्गश्च तदा तस्यौ प्रजापतिः ।
 असाधकांस्तु ताभ्यन्वा मुख्यसर्गसमुद्भवान् ॥ २१ ॥
 ततः स चिन्तयन् विप्र अर्वाक्श्रोतस्तु स स्मृतः ।
 अर्वाक्श्रोतस्तथोत्पन्ना मनुष्याः साधका मताः ॥ २२ ॥
 ते च प्रकाशवहनास्तमोद्भिजा रजोधिकाः ।
 तस्मात्ते दुःखवहना भूयो भूयस कारिणः ॥ २३ ॥
 इत्येते कथिताः सर्गाः ते तत्र मुनिसत्तम ।
 प्रथमो महतः सर्गस्तन्मात्राणां द्वितीयकः ॥ २४ ॥
 वैकारिकस्तृतीयस्तु समह ऐन्द्रियकः स्मृतः ।
 मुख्यसर्गः चतुर्थस्तु × × × स्थावराः स्मृताः ॥ २५ ॥
 तिर्यक्श्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तिर्यग्योनिः स पञ्चमः ।
 ततोर्ध्वश्रोतषां षष्ठो देवसर्गस्तु सप्तमः ॥ २६ ॥
 ततोर्वाक्श्रोतस्य अष्टसप्तमः सप्तमानुषः ।
 अष्टमोनुग्रहः सर्गः स सात्त्विकस्तामसो हि सः ॥ २७ ॥
 नवमो रुद्रसर्गस्तु नवसर्गाः प्रजापतेः ।

पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु प्रियाः स्मृताः ॥ २८ ॥

प्राकृतावैकृताश्चैव जगतोमूलहेतवः ।

सृजतो ब्रह्मणः सृष्टिरुत्पन्ना ये मयेरिताः ॥ २९ ॥

ततो विकारस्तु परापवेशः

शक्त्या प्रविश्याद्य ससर्जं सर्वं ।

नारायणः सर्वगतैकारूपः

ब्रह्मादिरूपैर्जगदेकनाथः ॥ ३० ॥

द्वयाम्नेये महापुराणे सृष्टि-प्रकरणं नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

—oo@oo—

सृष्टि-प्रकरणं ।

भरद्वाज उवाच । नवधा सृष्टिरुत्पन्ना ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।

कथं सा ब्रह्मे सृता एतत्कथय मेऽधुना ॥ १ ॥

सूत उवाच । प्रथमं ब्रह्मणा सृष्टा रुद्रस्यानु तपोधनाः ।

सनकादयश्च ये सृष्टा मरीच्यादय एव च ॥ २ ॥

मरीचिरत्रिषु तथा अङ्गिराः पुलहःकतुः ।

पुनस्त्यश्च महातेजाः प्रचेता भृगुरेव च ॥ ३ ॥

नारदी दशमश्चैव वसिष्ठश्च महाश्रुतिः ।

सनकादयो निवृत्त्याख्ये ते च धर्मं नियोजिताः ॥ ४ ॥

प्रवृत्त्याख्ये मरीच्याद्या मोक्षैके नारदो मुनिः ।
 योऽसौ प्रजापतिस्थस्य दक्षो नामाङ्गसम्भवः ॥ ५ ॥
 तस्य दौहित्रवंशेन जगदेतश्चराचरं ।
 देवाश्च दानवाश्चैव गन्धर्वोरगपक्षिणः ॥ ६ ॥
 सर्वे दक्षस्य कन्यासु जाताः परमधार्मिकाः ।
 चतुर्विधानि भूतानि स्यावराणि चराणि च ॥ ७ ॥
 वृद्धिं गतानि तान्येव मनुसर्गोद्भवानि च ।
 मनुसर्गस्य कर्तारो मरीच्याद्या महर्षयः ।
 वसिष्ठाद्या महाभागा ब्रह्मणो मानसोद्भवाः ॥ ८ ॥

सर्गेषु भूतानि वियम्बुखानि
 कालेन चासौ सृजते परात्मा ।
 स एव पञ्चा × × रान्यरूपी
 मुनिस्वरूपी च सृजत्यनन्तः ॥ ९ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे सृष्टि-प्रकरणं नाम
 तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थीऽध्यायः ।

—080—

सृष्टि-प्रकरणं ।

भरद्वाज उवाच । रुद्रसर्गन्तु मे ब्रुहि विस्तरेण महामते ।
 अनुसर्गं मरीच्याद्याः ससृजुस्ते कथं पुनः ॥ १ ॥

मित्रावरुणपुत्रत्वं वशिष्ठस्य कथं भवेत् ।

ब्रह्मणो मनसः पूर्वसुत्पन्नस्य महामते ॥ २ ॥

सूत उवाच । रुद्रसृष्टिन्तु वक्ष्यामि तत्सर्गञ्चैव सत्तम ।

प्रतिसर्गं सुनीनान्तु विस्तराद्भदतः शृणु ॥ ३ ॥

कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः ।

प्रादुरासीत् प्रभोरङ्गे कुमारी नीललोहितः ॥ ४ ॥

अर्धनारीश्वरवपुः प्रचण्डोऽति शरीरवान् ।

तेजसा भासयन् सर्वा दिशश्च विदिशस्तथा ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसा दीप्तं प्रत्युवाच प्रजापतिः ।

विभज्यात्मानमद्य त्वं मम वाक्यान्महामते ॥ ६ ॥

इत्युक्त्वा ब्रह्मणा तेन रुद्रस्तत्र प्रतापवान् ।

स्त्रीभावं पुरुषत्वञ्च पृथक् पृथगथाकरोत् ॥ ७ ॥

विभेदं पुरुषत्वञ्च दशधा चैकधा तु सः ।

तेषां नामानि वक्ष्यामि शृणु मे हिजसत्तम ॥ ८ ॥

अजैकपादहिर्भ्रंशः कपाली रुद्र एव च ।

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ॥ ९ ॥

हृषाकपिश्च शशुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ।

एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥ १० ॥

स्त्रीत्वञ्चैव तथा रुद्रे विभेदं दशधैकधा ।

तमेव बहुरूपेण पत्नीत्वेन व्यवस्थिता ॥ ११ ॥

तपस्तप्त्वा जले घोरमुत्तानः स यदा पुरा ।

तदा स सृष्टवान्देवो रुद्रस्तत्र प्रतापवान् ॥ १२ ॥

तपोबलेन विप्रेन्द्र भूतानि विविधानि च ।

[ख]

पिशाचान् कश्मलाञ्चैव सिंहीद्रुमकराननान् ॥ १३ ॥
 वेतालप्रमुखानन्यानन्याञ्चैव सहस्रशः ।
 तेन सृष्टास्तु कैलासे ब्रह्मभूतास्थितनह(१) ॥ १४ ॥
 विनायकानां रुद्राणां त्रिंशत्कोटार्धमेव च ।
 तारकास्थविनाशाय सृष्टवान्स्कन्दमेव च ॥ १५ ॥
 एवमकारो रुद्रोऽसौ मया ते कीर्तितः प्रभुः ।
 अनुसर्गं मरीच्यादेः कथयामि निबोध मे ॥ १६ ॥
 देवाद्याः स्थावरान्ताश्च प्रजाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
 यदा × स्व × ताः सर्वाः नाभ्यवर्द्धन्त धीमतः ॥ १७ ॥
 तदा स मानसान् पुत्रान् सदृशानात्मनोऽसृजत् ।
 मरीचिमत्प्रङ्घिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुं ॥ १८ ॥
 प्रचेतसं वशिष्ठञ्च + + + + महामतिं ।
 नव ब्रह्मण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥ १९ ॥
 अग्निश्च पितरश्चैव ब्रह्मपुत्रौ तु मानसौ ।
 सृष्टिकाले महाभाग धर्मं स्वायम्भुवं मनुं ॥ २० ॥
 शतरूपाश्च सृष्ट्वा तु कन्यां स मनवे ददौ ।
 तस्माच्च पुरुषाद्देवी शतरूपा व्यजायत ॥ २१ ॥
 प्रियव्रतीत्तानपादौ प्रसूतीञ्चैव कन्यकां ।
 ददौ प्रसूतिं दत्त्वाय मनुः स्वायम्भुवः सूतां ॥ २२ ॥
 प्रसूतिश्च तदा दत्त्वाच्चत्वारी त्रिंशतिस्तथा ।
 ससर्ज कन्यकास्तासां शृणु नामानि मेऽधुना ॥ २३ ॥
 अद्या भूतिर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा क्रिया तथा ।

बुद्धिलज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्त्तिस्त्रयोदश ॥ २४ ॥
 पत्नार्थं प्रतिजग्राह धर्म्मी दाक्षायणीः प्रभुः ।
 अक्षादीनान्तु पत्नीनां जाताः कामादयः सुताः ॥ २५ ॥
 धर्मस्य पुत्रपौत्राद्यैर्धर्मवंशो विवर्धितः ।
 तासु शिष्टा यवीयस्वस्तासां नामानि कीर्त्तये ॥ २६ ॥
 सम्भूतिश्चानुभूया च स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा ।
 सन्नतिश्चाथ सत्या च उर्जा ख्यातिर्द्विजोत्तम ॥ २७ ॥
 स्वाहा च दशमी ज्ञेया स्वधा चैकादशी स्मृता ।
 एताश्च दत्ता दक्षेण ऋषीणां भावितात्मनां ॥ २८ ॥
 मरीच्यादीनाश्च ये पुत्रास्तानहं कथयामि ते ।
 पत्नी मरीचेः सम्भूतिर्जज्ञे सा कश्यपं मुनिं ॥ २९ ॥
 स्मृतिश्चाङ्गिरसः पत्नी प्रसूता कन्यकास्तथा ।
 सिनीवाली कुङ्कुञ्चैव राका चानुमतिस्तथा ॥ ३० ॥
 अनसूया तथैवात्रैर्जज्ञे पुत्रानकम्भषान् ।
 सोमं दुर्वाससश्चैव दत्तात्रेयश्च योगिनं ॥ ३१ ॥
 प्रीत्यां पुलस्त्यभार्यायां दादानिस्तत्सुतोऽभवत् ।
 तस्य वै विश्रवाः पुत्रस्तत्पुत्रा रावणादिकाः ॥ ३२ ॥
 + + + राक्षसाः प्रोक्ता लङ्कापुरनिवासिनः ।
 येषां बधाय लोकेषु विष्णुः क्षीरोदनीरधौ ॥ ३३ ॥
 ब्रह्माद्यैः प्रार्थितो देवैरवतारमिहाकरोत् ।
 कर्दमस्याम्बरीषस्य सहिष्णुश्च सुतत्रयम् ॥ ३४ ॥
 क्षमा तु सुसुवे भार्या पुलस्त्यस्य प्रजापतेः ।

क्रतोस्तु सत्वतिर्भार्या वालिखिल्वानसूयत ॥ ३५ ॥
 षष्टि तानि सहस्रानि ऋषीणामूर्धरेतसां ।
 अङ्गुष्ठपर्वमानानां ज्वलद्भास्करतेजसां ॥ ३६ ॥
 प्रचेतसोऽथ सत्यायां सत्यसन्ध्यास्त्रयः सुताः ।
 जातास्तत्पुत्रपोत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३७ ॥
 उर्जायाश्च वसिष्ठस्य समाजायन्त वै सुताः ।
 राजा चोर्ध्वाङ्गुष्ठ सरनश्चानघन्तिमे(१) ॥ ३८ ॥
 सुरूपाः शुक्र इत्येते सर्वे सप्तर्षयोऽभवन् ।
 ऋगोः ख्यात्यां समुत्पन्ना लक्ष्मीर्विष्णुपरिग्रहा ॥ ३९ ॥
 तथा धाताविधातारौ ख्यात्यां जातौ सुतौ ऋगोः ।
 आयतिर्नियतिश्चैव मेरोः कन्ये सुशोभने ॥ ४० ॥
 धाताविधातारौ स्ते भार्य्ये तयोर्जातौ सुताबुभौ ।
 प्राणश्चैवसृकण्डुश्च मार्कण्डेयो सृकण्डुजः ॥ ४१ ॥
 येन मृत्युर्जितो विप्र पुरा नारायणाय यः ।
 ततो देवशिवा जज्ञे प्राणस्यापि सुतोऽभवत् ॥ ४२ ॥
 द्युतिमानिति विख्यातः सञ्जयस्तत्सुतोऽभवत् ।
 ततो वंशो महाभाग भार्गवो विस्तरं गतः ॥ ४३ ॥
 यथासावग्निनामा च ब्रह्मणस्तनयोऽयजः ।
 तस्मात् स्वाहा सुताक्षेभे त्रीनुदारौजसो द्विजाः ॥ ४४ ॥
 पावकं पवमानश्च शुचिश्चापि जलाग्निं ।
 तेषाम्नु वंशजान् वक्ष्ये षट्चत्वारिंशदीरितान् ॥ ४५ ॥

(१) पाठोऽयं आदर्शदोषेषुपरिशुद्धः ।

कथ्यन्ते बहुशसैते पिता पौत्रत्रयश्च यत् ।
 एवमेकीनपञ्चाशदन्वयात् परिकीर्त्तिताः ॥ ४६ ॥
 पितेरो ब्रह्मणा सृष्टा व्याख्याता ये मया तव ।
 तेभ्यः स्वधा सुते जप्ते मेना वै धरणीधरा ॥ ४७ ॥
 प्रजाः सृजेति व्यादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा ।
 यथा ससर्ज भूतानि तथा मे शृणु सत्तम ॥ ४८ ॥
 भूतानि मनसा पूर्वं दक्ष × + ऽसृजन्सुने ।
 देवानृषीन् सगन्धर्वान्सुरान् पन्नगांस्तदा ॥ ४९ ॥
 यदास्य सृजमानस्य न व्यवर्षन्त वै प्रजाः ।
 तदा सच्चिन्म्य स मुनिः सृष्टिहेतोः प्रजापतिः ॥ ५० ॥
 मैथुनेनैव धर्मेण सिद्धस्रुर्विविधाः प्रजाः ।
 असिक्ती यद्दृष्टकन्या वीरणस्य प्रजापतेः ॥ ५१ ॥
 षष्टि दक्षोऽसृजत् कन्या वैरिष्णामिति नः श्रुतिः ।
 ददौ स दश धर्म्याय कश्यपाय त्रयोदश ॥ ५२ ॥
 सप्तविंशति सोमाय चतस्रो विष्णुनेमिने ।
 हे चैव बुधपुत्राय हे चैवाङ्गिरसे तदा ॥ ५३ ॥
 हे कृशाश्वाय विदुषे तदपत्यानि मे शृणु ।
 विश्वेदेवास्तु विश्वाय साध्यासाध्यानसुयत ॥ ५४ ॥
 मरुत्यान्तु मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवः स्मृताः ।
 भानोस्तु भानवो देवा मुहूर्त्तार्यां मुहूर्त्तजाः ॥ ५५ ॥
 नद्यायाश्चैव घोषाख्यो नागवीथ्याश्च जामिजाः ।
 पृथिवीविषयं पूर्वमरुन्धत्यां व्यजायत ॥ ५६ ॥

सहस्रायान्तु सहस्र्यः पुत्रो यज्ञे महामते ।
 ये त्वनेकवसुप्राणा देवर्ष्योतिःपुरोगमाः ॥ ५७ ॥
 वसवोऽष्टौ समाख्यातास्तेषां नामानि मे शृणु ।
 आपो भ्रवश्च सोमश्च धरश्चैवाऽनिलोऽनलः ॥ ५८ ॥
 प्रत्युषश्च प्रभाषश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ।
 तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च यतशोऽथ सहस्रयः ॥ ५९ ॥
 साध्वाश्च वहवः प्रोक्तास्तत्पुत्राश्च सहस्रयः ।
 अदितिर्दितिर्दनुष्यैव अरिष्टा सुरसा तथा ॥ ६० ॥
 सुरभिर्विनता चैव ताम्ना क्रोधा खसा इरा ।
 कद्रुर्मुनिश्च धर्मज्ञं तदपत्यानि मे शृणु ॥ ६१ ॥
 अदित्यां कश्यपाज्जाताः पुत्रा द्वादश शोभनाः ।
 तानहं नामतो वक्ष्ये शृणुष्व नदती मम ॥ ६२ ॥
 मर्गोऽशुरर्थमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा ।
 सविता चैव धाता च विवस्वाश्च महामते ॥ ६३ ॥
 त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादश विष्णुश्चरते ।
 दित्याः पुत्रहयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतं ॥ ६४ ॥
 हिरण्याक्षो महाकायो वाराहेण तु यो हतः ।
 अन्ये च वहवी दैत्या दितिपुत्रा महाबलाः ॥ ६५ ॥
 अरिष्टायान्तु गन्धर्वाञ्छ्विरे—
 सुरसायामथोत्पन्ना विद्याधरगणा बहुः ॥ ६६ ॥
 गास्तु वै जनयामास सुरभ्यां कश्यपो मुनिः ।
 विनतायान्तु पुत्रो ह्यौ प्रख्यातो गरुडाक्षयो ॥ ६७ ॥

गरुडो देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः ।
 वाहनत्वं गतः प्रीत्या अरुणः सूर्यसारथिः ॥ ६८ ॥
 ताम्नायाः कश्यपाज्जाताः षट् पुत्रास्तान् निबोध मे ।
 अश्वत्थो गर्दभाश्च हस्तिनो गवया मृगाः ॥ ६९ ॥
 क्रोधायां जम्बिरे तद्वत् पशवो दुष्टजातयः ।
 दूरा वृक्षलतावल्लीद्वेषजात्यश्वपुत्रिकाः ॥ ७० ॥
 खसा तु यथरक्षांसि मुनेरप्सरसस्तथा ।
 कद्रुपुत्रा महानागा दन्दशुक्रा विषोर्विषाः ॥ ७१ ॥
 सप्तविंशति याः प्रीक्ताः सोमपत्न्योऽथ सुव्रताः ।
 तासां पुत्रा महामत्वा बुधाद्या अभवन्द्भिज्ज ॥ ७२ ॥
 परिरुष्टेभिपत्नीनामपत्यानीह षोडश ।
 बहुपुत्रस्य विदुषः ताम्नायां विद्युदादयः ॥ ७३ ॥
 प्रत्यङ्गिरःसुताः श्रेष्ठा ऋषयो ऋषिसत्कृताः ।
 कृशाश्वस्य तु देवर्षेर्देवप्रहरणाः सुताः ॥ ७४ ॥
 एते युगसहस्रान्ते जायन्ते पुनरेव हि ।
 एते कश्यपदायादाः कीर्त्तिताः स्थाणुजङ्गमाः ॥ ७५ ॥
 एतेषां पुत्रपौत्राद्यैर्वृद्धा सृष्टिः प्रजापतेः ।
 स्थितौ स्थितस्य देवस्य नारसिंहस्य धीमतः ॥ ७६ ॥
 एता विभ्रतयो विप्र मया ते परिकीर्त्तिताः ।
 कथिता दक्षकन्यानां मया तेऽपत्यसन्ततिः ।
 अद्वावान् यः स्मरेदेतान् यशःसन्तानवान् भवेत् ॥ ७७ ॥
 सर्गानुसर्गौ कथितौ मया ते
 समासतः सृष्टिविद्विष्टेतोः ।

पठन्ति ये विष्णुपराः सदा नराः

इदं द्विजास्ते विमला भवन्ति च ॥ ७८ ॥

इत्याग्नेये महापुराणे सृष्टिप्रकरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

—०००—

वसिष्ठस्य मित्रावरुणपुत्रत्वकथनं ।

सूत उवाच । सृष्टिस्ते कथिता विष्णोर्मया ते जगतो द्विज ।

देवदानवयक्षाद्या यद्योत्पन्ना महात्मना ॥ १ ॥

यमुद्दिश्य त्वया पृष्ठः पुराहृमृषिसन्निधौ ।

मित्रावरुणपुत्रत्वं वसिष्ठस्य कथन्त्विति ॥ २ ॥

तदहं कथयिष्यामि पुण्याख्यानं पुरातनं ।

शृणुष्वैकाग्रमनसा भरद्वाज मयेरितं ॥ ३ ॥

सर्व्वधर्मार्थतत्वज्ञः सर्व्वेदविदावरः ।

पारगः सर्व्वविद्यानां दत्तो नाम प्रजापतिः ॥ ४ ॥

तेन दत्ताः शुभाः कन्याः कश्यपाय त्रयोदश ।

तासां नामानि वक्ष्यामि निबोध च ममाधुना ॥ ५ ॥

अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा मुहूर्त्ता सिंहिका मुने ।

श्रुता क्रोष्टा च सुरभिर्विनता सुरसा— ॥ ६ ॥

कद्रुश्च सुरसा चैव यातुदेवी शुनौ स्मृता ।

दक्षस्यैता दुहितरस्ताः प्रादात् कश्यपाय सः ॥ ७ ॥

तासां ज्येष्ठा वरिष्ठा च अदितिर्नामनामतः ।
 अदितिः सुसुवे पुत्रान् हादश्याग्निभ्रमप्रभान् ॥ ८ ॥
 तेषां नामानि वक्ष्यामि शृणुत द्विजसत्तमाः ।
 यैरिदं वासवं नक्तं वर्त्तते क्रमशः सदा ॥ ९ ॥
 भर्गोऽह्यस्यार्थमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा ।
 सविता चैव धाता च विषखां च महामत ॥ १० ॥
 त्वष्टा पूषा तत्रेवेन्द्रो विष्णुर्हादशमः स्मृतः ।
 एते वै हादश्यादित्वा वर्षन्ति—पतन्ति च ॥ ११ ॥
 तस्मास्तु मध्यमः पुत्रो वरुणो नामनामतः ॥
 लोकपाल इतिख्यातो वारुणां दिशि प्रव्यरते ॥ १२ ॥
 पश्चिमस्य समुद्रस्य प्रतीक्षां दिशि राजते ।
 जर्तिरुपमयः श्रीमानस्तो नाम शिखीश्रयः ॥ १३ ॥
 सर्वरत्नमयैः शुकैः धातुप्रस्रवणान्वितैः ।
 संयुक्तोभाति शैलीऽसौ नानारत्नमयः शुभः ॥ १४ ॥
 महीदरीगुहाभिश्च सिंहसार्दूलनादितः ।
 नानाविविक्तभूमौषु देवमन्त्रवर्षसेवितः ॥ १५ ॥
 यस्मिन् गते दिनकरे तमसा पूर्यते जगत् ।
 तस्य शुक्रे महादिव्या जाम्बूनदमयी शुभा ॥ १६ ॥
 रम्या मणिमयैस्तथैर्विहिता विश्वकर्षणा ।
 पुरी सुखावती नाम समृद्धा भोगसाधनैः ॥ १७ ॥
 तस्यां वरुण आदित्यो दीप्यमानः स्वतेजसा ।
 पाति सर्वानिमान् लोकान्त्रियुक्तो मन्त्राणां स्वयं ॥ १८ ॥

[ग]

उवाचमानीमन्वर्षेऽसौवाचरसाङ्गयेः ।
 दिव्यमन्वानुदीताङ्गी दिव्याभरत्तभूषितः ॥ १८ ॥
 कदाचिद्वरुणो यातो निषेच सहितो वनं ।
 कुण्डे च शोभेऽरुणो सदा ब्रह्मर्षिदेविते ॥ २० ॥
 नानापुष्पफलोपेते नामार्थो—समन्विते ।
 आश्रमाय × दृश्यन्ते सुष्मीनामूर्ध्वरेतसां ॥ २१ ॥
 तस्मिंस्तीर्थे समाश्रित्य बहुपुष्पफलोदके ।
 चीरकृष्णाजिनधरी चेरतुस्तप उत्तमं ॥ २२ ॥
 तत्रैकस्मिन् वनोद्देशे विमलोऽथ ऋदः शुभः ।
 बहुगुणसलताकीर्णो नानापद्मिनिषेवितः ॥ २३ ॥
 नानातरुवनच्छवी नखिन्या चीपयोभितः ।
 पीण्डरीक इतिख्यातो मौनकच्छपसेवितः ॥ २४ ॥
 चेरतुर्मिन्नावरुणो भ्रातरो ब्रह्मचारिणो ।
 तन्तु देशं गतो देशात् विचरन्तो महच्छ्रमा ॥ २५ ॥
 ताभ्यां तत्र तदाकृष्टा उर्वशी तु वराचराः ।
 स्नापयन्ती सहितान्धाभिः सखीभिः सा वरानना ॥ २६ ॥
 गायन्ती विहसन्ती च मनोघ्ना मधुरस्वना ।
 गौरो कमलगर्भाभा स्निग्धा कृष्णशिरोरुहा ॥ २७ ॥
 पद्मपत्रविशालाक्षी रत्नोष्ठी मृदुभाषिणी ।
 शङ्खकुन्देन्दुसहस्रैर्दन्तैरविरलैः समैः ॥ २८ ॥
 सुभ्रुः सुनासा सुनखा सुरनाटा मनस्विनी ।
 करसन्धितमध्याङ्गी पीनोरुजघनसखी ॥ २९ ॥

तन्वङ्गी मधुरालापा सुमध्वा चारुहासिनी ।
 रक्तोत्पलकरापादाक्षुपदी विनयान्विता ॥ ३० ॥
 पूर्णचन्द्रनिभा काला मत्तकुञ्जरगामिनी ।
 हृष्टा तन्वयास्तु तद्रूपं तौ देवौ विषयंगती ॥ ३१ ॥
 तस्या हास्येन हास्येन स्मितेन ललितेन च ।
 अदुना वामनाचैव(१) श्रौतलेन सुमन्विता ॥ ३२ ॥
 मत्तभ्रमरगीतेन पुंस्त्रीकिलङ्कतेन च ।
 सुस्वरेण हि गीतेन उर्वश्या मधुरेण च ।
 ईक्षितो च कटाक्षेण स्कन्दतुस्ता बुभावपि(२) ॥ ३३ ॥
 वसिष्ठ मित्रावरुणात्मजोऽसि
 तत्रोचुरागत्य हि विश्वदेवाः ।
 रेतस्त्रिभानं कमलेषु वन्तौ
 वसिष्ठ सेवन्तु पितामहोऽजं(३) ॥ ३४ ॥
 तत्त्रिधा पतितं रेतः कमलेऽथ स्थले जले ।
 कमलेऽथ वसिष्ठस्तु जातो हि मुनिसत्तम ।
 स्थले त्वगस्यः सम्भूतो जले मह्यो महाद्युतिः ॥ ३५ ॥
 स तत्र जातो महिमान् वसिष्ठः ।
 कुञ्चेत्वगस्यः सलिले च मह्यः ॥ ३६ ॥
 स्थले तावपि तप्येते पुनरुग्रतरन्तपः ।

१ पाठोऽयं न साधुः ।

२ पाठोऽयं न समीचीनः ।

३ स्त्रीकोऽयं चारुर्दोषेण शोधयितुमशक्यः ।

तपसा प्राप्तकामोऽसौ परं ज्योतिः सनातनं ॥ ३७ ॥

तपस्वन्तो सुरन्ने षी ब्रह्मामत्येदमब्रवीत् ।

मित्रावरुणौ देवौ पुत्रवन्तो महाद्युती ॥ ३८ ॥

सिद्धिर्भवत्वतिशया युवयोर्वैश्ववो पुनः ।

स्वाधिकारे तु स्वीयेतामधुना लोकसाक्षिणौ ॥ ३९ ॥

इत्युज्जान्तर्दधे ब्रह्मा तौ स्वित्वा स्वाधिकारके ।

एवं ते कथितं विप्र वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ४० ॥

मित्रावरुणपुत्रत्वमगस्त्यस्य च धीमतः ।

इदं पुंसीयमाख्यानं पुराणं पापनाशनं ॥ ४१ ॥

सामात्यपुत्रो नृपतिः श्रुत्वा पापात् प्रमुच्यते

पुत्रकामाशये केचित् शृण्वन्तीदं श्चित्रताः ॥ ४२ ॥

अक्षिरादेव पुत्रांस्तु लभन्ते नात्र संशयः ।

यद्यैतत् पठते नित्यं हृदयकव्ये द्विजोत्तम ॥ ४३ ॥

देवाश्च पितरस्तस्य दत्ता यान्ति यथाशुखं ।

यद्यैतत् पठते नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः ॥ ४४ ॥

विन्दते सुमहापुत्रान् स्वर्गलोकश्च गच्छति ।

वरं मयेरितं पुरा वेदपरैरुदीरितं ॥ ४५ ॥

पठिष्यते यस्तु शृणोति सर्वदा ।

स यातिशुद्धोऽधिकलोकमप्नोति ॥ ६

इत्याम्बुये महापुराणे वसिष्ठस्य मित्रावरुणपुत्रत्व-

कथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

—000—

मार्कण्डेयोपाख्यानं ।

भरद्वाज उवाच । मार्कण्डेयेन मुनिना कथं मृत्युः पराजितः ।

एतदाख्याहि मे सूत त्वयैतत् सुषिरं पुरा ॥ १ ॥

सूत उवाच । इदन्तु महदाख्यानं भरद्वाज शृणुष्व मे ।

शृणुन्तु ऋषयः सर्वे पुरातनं ब्रवीम्यहं ॥ २ ॥

कुबर्जे महापुण्ये व्यासपीठे वरात्रमे ।

तत्रासीनं मुनिश्रेष्ठं कृष्णद्वैपायनं मुनिं ॥ ३ ॥

ज्ञातस्नानं ज्ञातजपं मुनिशिष्यैः समाहृतं ।

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं सर्वशास्त्रविशारदं ॥ ४ ॥

प्रशिपत्य यथान्यायं शुकः परमधार्मिकः ।

इदमेव समुद्दिश्य तं पप्रच्छ ज्ञाताक्षलिः ॥ ५ ॥

यदुद्दिश्य वयं पृष्टास्त्वयात्र मुनिसन्निधौ ।

नरसिंहस्य भक्त्येन पुण्यतीर्थनिवासिना ॥ ६ ॥

शुक उवाच । मार्कण्डेयेन मुनिना कथं मृत्युः पराजितः ।

एतदाख्याहि मे तात श्रोतुमिच्छामि तेऽधुना ॥ ७ ॥

व्यास उवाच । मार्कण्डेयेन मुनिना यथा मृत्युः पराजितः ।

तथा ते कथयिष्यामि शृणु वत्स समहितः ॥ ८ ॥

शृण्वन्तु मुनयश्चेमे कथ्यमानं मयाऽधुना ।

महिष्याश्चैव शृण्वन्तु महदास्थानमुत्तमं ॥ ९ ॥
 भृगोः स्थात्यां मसुत्पन्नो ऋकण्डुर्नाम वै सुतः ।
 सुमित्रा नाम पत्नी च ऋकण्डोस्तु महात्मनः ॥ १० ॥
 धर्मज्ञा धर्मनिरता पतिशुश्रूषणे रता ।
 तस्यां तस्य सुतो जातो मार्कण्डेयो महामतिः ॥ ११ ॥
 भृगोः पौत्रो महाभागो वमोत्वच(१) महामतिः ।
 बुबुधे वल्लभो बालः पिता तत्र कृतक्रियः ॥ १२ ॥
 तस्मिन् वै जातमात्रे तु आदेशी कश्चिद्व्रवीत् ।
 वर्षे द्वादशमे पुत्रो ऋत्वार्त्तश्च भविष्यति ॥ १३ ॥
 श्रुत्वा तस्मात्पितरो दुःखितौ तौ बभूवतुः ।
 परिभूयमानहृदयौ तं निरीक्ष्य महामतिं ॥ १४ ॥
 तथापि तत् पिता धीमान् यत्नात् कालक्रियां ततः ।
 चकार सर्वां मेधावी प्रहितोऽसौ गुरोर्गृहं ॥ १५ ॥
 वेवमेवाद्यस्त्रास्ते(२) गुरुशुश्रूषणोद्यतः ।
 स्वीकृत्य वेदशास्त्राणि स पुण्यगृहमागतः ॥ १६ ॥
 मातापित्रोर्नमस्कृत्य पादयोर्विनयान्वितः ।
 तस्थौ तत्र गृहे धीमान् मार्कण्डेयो महाद्युतिः ॥ १७ ॥
 तं निरीक्ष्य महात्मानं तत्प्रज्ञाञ्च विलक्षणां ।
 दुःखितौ तौ भृशं तत्र तस्माद्धपितरो युक्त ॥ १८ ॥
 तौ दृष्ट्वा दुःखमापन्नौ मार्कण्डेयो महाद्युतिः ।

१ पाठोऽयं न परिश्रुतः।

२ पाठोऽयं न साधुः।

उवाच वचनं तत्र किमर्थं दुःखमीदृशं ॥ १९ ॥
 यदेतत् कुरुषे मातस्तातेन सह धीमता ।
 वक्तुमर्हसि दुःखस्य कारणं मम पृच्छतः ॥ २० ॥
 इत्युक्त्वा पुत्रकेणाय माता तस्य महात्मनः ।
 कथयामास तत्सर्वं आदेशी यदुवाच ह ॥ २१ ॥
 तच्छ्रुत्वाऽसौ मुनिश्चाह मातरं पितरं पुनः ।
 पित्रा सार्धं त्वया मातर्माकार्यं दुःखमन्वपि ॥ २२ ॥
 अपनेष्यामि मृत्युं × तपसा नात्र संशयः ।
 यथा चाहं चिरायुःस्यां कुर्यां तथा महत्तपः ॥ २३ ॥
 इत्युक्त्वाऽसौ समाश्वासन् पितरौ न सद्यसात्(३) ।
 त्यजन्वीन(?) वनं नाम नानाऋषिसमाकुलं ॥ २४ ॥
 तत्रासौ मुनिभिः सार्धं स्वासीनं स्वपितामहं ।
 भृगुं ददर्श धर्मज्ञं मार्कण्डेयी महामतिः ॥ २५ ॥
 भृगुराह महाभागं मार्कण्डेयं तदा शिशुं ।
 किमागतोऽसि पुत्रस्तु पितुस्ते कुशलं पुनः ॥ २६ ॥
 मातुश्च बान्धवानाश्च किमागमनकारणं ।
 इत्येवमुक्त्वा मुनिना मार्कण्डेयी महात्मना ॥ २७ ॥
 उवाच सकलं तस्मै आदेशिवचनस्तदा ।
 धीत्रस्य वचनं श्रुत्वा पुनस्तं भृगुरब्रवीत् ।
 एवं मतिमहाबुद्धे किं त्वं कर्म चिकीर्षसि ॥ २८ ॥
 मार्कण्डेय उवाच । भूतापहारिणं मृत्युं जेतुमिच्छामि साम्प्रतं ।

३ पाठीऽयमादर्शदोषदुष्टः ।

तवीपदेष्वात्, गुरो तवीपाद्यं वदस्व नः ॥ २८ ॥
 गुरुवाच । नारायणमनन्तरं तपसा मनसा सुत ।
 की जेतुं ब्रह्मयान् सृष्ट्युं ततस्तं तपसार्चय ॥ ३० ॥
 तम + त्तमजं विष्णुं अच्युतं पुरुषोत्तमं ।
 भक्तप्रियं सुरश्रेष्ठं भक्त्या तं शरणं ब्रज ॥ ३१ ॥
 तमेव शरणं पूर्वं गतवाच्यारदो मुनिः ।
 तपसा महता बद्ध नारायणमनामयं ॥ ३२ ॥
 तत्प्रसादात्प्रहाभाग नारदो ब्रह्मचः सुतः ।
 जरां मृत्युं विजित्वासौ दीर्घायुर्वर्त्तते सुखं ॥ ३३ ॥
 तमृते पुण्डरीकाक्षं नारसिंहं जनार्दनं ।
 भक्तानां वक्षसः कुर्व्यात् मृत्युचेनानिवारणं ॥ ३४ ॥
 तस्मात् त्वं लोककर्त्तारं विष्णुं जिष्णुं त्रियःपतिं ।
 गोविन्दं गोपतिं देवं सततं शरणं ब्रज ॥ ३५ ॥
 नारसिंहमजं देवं यदि पूजयसे सदा ।
 बद्ध जेतासि मृत्युं त्वं ससैन्यं नात्र संशयः ॥ ३६ ॥
 व्यास उवाच । उक्तः पितामहेनैवं भृगुवाच तमब्रवीत् ।
 मार्कण्डेयो महातेजा विनयात्स पितामहं ॥ ३७ ॥
 आराध्यः कथितस्तात विष्णुरेवेति निश्चयात् ।
 आराधितश्च भगवान् मम मृत्युं हरेदिति ॥ ३८ ॥
 कथमत्र मया काम्यमच्युताराधनं गुरो ।
 येनासौ मम तुष्टस्तु मृत्युं सद्योऽपनेष्यति ॥ ३९ ॥
 भृगुवाच । तुङ्गा च भगिनी भद्रा हे नद्यी मन्त्रसम्भवे ।